प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०२०

मूल्य : ८–००

Phone : 3076

THE

VIDYABHAWAN AYURVEDA GRAATHAMALA

36

NAVYA CHIKITSA VIJNAN

[Diseases of the Digestive System]

(Part II)

BY

Dr. Mukunda Swarup Varma.

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

प्राक्कथन

इस पुस्तक का प्रथम भाग १ वर्ष पहले पाठकों के हाथ में पहुँच चुका है। मुझे सन्तोष है कि पुस्तक का पाठकों ने स्वागत किया और पुस्तक उपयोगी प्रमाणित हुई। प्रथम भाग में केवल संक्रामक रोगों का वर्णन है। अब यह दूसरा भाग पाठकों के हाथ में जा रहा है जिसमें पाचक तन्त्र के रोगों का आधुनिक मत के अनुसार पूर्ण विवेचन किया गया है। प्रत्येक रोग के हेतु, उसके लक्षण तथा चिह्न, उसकी आवश्यक परीक्षायें और चिकित्सा पर पूर्ण किन्तु संक्षेपरूप से प्रकाश डाला गया है।

आशा है यह भी प्रथम भाग के समान ही चिकित्सक वर्ग के लिये उपयोगी प्रमाणित होगा और वे इससे पूर्ण लाभ उठायेंगे। यदि कोई विद्वान् इसके सम्बन्ध में मेरे पास अपने सुझाव भेजेंगे तो मैं उनका विशेष आभारी होऊँगा।

मुकुन्द स्वरूप वर्मा

विषय सूची

॥ श्रीः ॥

नव्य चिकित्सा-विज्ञान

भाग २

पाचक तन्त्र के रोग

(Diseases of the Digestive System)

यह एक विस्तृत तन्त्र है जिसमे पाचन क्रिया से सम्बन्ध रखने वाले सभी अंगों की गणना की जाती है। अतएव इसके मुख्य अंग ये हैं—१ मुख (दाँत, मसूड़े, जिह्वा तथा लालाग्रन्थियाँ)। २ ग्रासनाल, ३. आमाशय, ४. क्षुद्र आन्त्र, ५. वृहद् आन्त्र, ६. यकृत्, ७ पित्ताशय और ८. अग्न्याशय। उदर के भीतर स्थित इन इन अंगों को आच्छादन करने वाली पर्युदर्या कला तथा आन्त्र को आच्छादित करके उनको उदर की पश्चिम भित्ति पर स्थिर करने वाली आन्त्र-संयोजनी (mesentery) भी इसी तन्त्र का एक भाग है। अतएव रोग के रूप, उसके लक्षणों, चिह्नो आदि को पूर्णरूप मे पहिचानने और समझने के लिये इन अंगों की स्थिति, रचना, उनके नाडी-सम्बन्ध तथा रक्त-संभरण का पूर्ण ज्ञान आवश्यक है।

रोगी की परीक्षा—उदर के रोगों से ग्रस्त रोगियों की अत्यन्त सावधानी से परीक्षा करनी उचित है। परीक्षा का प्रथम चरण रोग का पूर्ववृत्त या इतिहास होता है। उसका ठीक ठीक ज्ञान रोगनिदान के लिये अनिवार्य है। पाचन सम्बन्धी रोगो मे लक्षण और रोगी की आत्मकथा ही रोग पहिचानने के विशेष साधन होते हैं। इस कारण रोगी की कही हुई प्रत्येक घटना को क्रमानुसार नोट कर लेना चाहिए और उनके साथ रोगी परीक्षा से जो कुछ भी चिह्न (signs) मालूम हों उन सबों को भलीभाँति विचार कर के उनसे निष्कर्ष निकालना चाहिए।

रोगी की परीक्षा उन्ही चार विधियों से की जाती है जिसका दैनिक परीक्षा के लिये विधान है अर्थात् परिदर्शन (Inspection), परिस्पर्शन (Palpation), परिताडन (Percussion) और परिश्रवण (Auscultation)। किन्तु यहाँ परिदर्शन और विशेषकर परिस्पर्शन ही का अधिक उपयोग करना होता है। कुछ रोगो मे परिताडन और परिश्रवण से भी सहायता ली जाती है।

रोगी का परिदर्शन सदा पूर्ण प्रकाश मे किया जाय। उसको इस प्रकार लिटाया जाय कि खिड़की से आनेवाला या लम्प का पूरा प्रकाश रोगी पर पड़े। उसका सारा शरीर, विशेष कर उदर पूर्णतया आलोकित हो। तब उसका सामान्यरूप देख कर यदि किसी स्थान पर कोई विशेषता, उभार, उदरभित्ति का कहीं पर श्वास के साथ गति न करके स्थिर होना, किसी भाग का अधिक और किसी भाग का कम गति करना, ऐसी सब विशेषताओं को ध्यान से नोट कर लेना उचित है। तब परिस्पर्शन से, सारे उदर की एक ओर से दूसरी ओर तक परीक्षा की जाय। यदि किसी स्थान पर कोई पिण्ड प्रतीत हो, कहीं पर दबाने से रोगी को पीडा हो जिसको स्पर्शासह्यता (tenderness) कहते हैं या अन्य कोई असाधारण बात मालूम हो तो उसको नोट कर लेना चाहिये। परिताडन से खोखले अंगो जैसे आमाशय आदि की सीमा निर्धारित करने में सहायता मिलती है। परिश्रवण से आन्त्र के भीतर होने वाली ध्वनि सुनाई देती हैं। आन्त्र के अंगघात (paralysis) मे ध्वनि नही सुनाई देती जिसको 'शान्त उदर' (silent abdomen) कहते है।

उदर के रोगों मे सबसे महत्त्व का लक्षण १. पीड़ा है। अन्य लक्षण—२. जी मिचलाना, ३. वमन, ४. आध्मान (flatulence) और ५. प्रवाहिका है। ६. भूख लगना तथा हृद्दाह (heartburn) भी ऐसे लक्षण हैं जिनसे रोगी को कष्ट होता है अथवा रोगनिदान मे सहायता मिलती है। इन लक्षणो का यहाँ संक्षेप से उल्लेख किया जाता है।

पीड़ा (Pain in abdomen)

उदर तथा पाचनसंबंधी रोगो का मुख्य लक्षण पीडा है। प्राय प्रत्येक उदर रोग में पीड़ा होती है और उसी की स्थिति, रूप तथा विस्तार से रोग का निदान करना होता है। आन्त्रशूल (Intestinal colic), पित्तशूल (Biliary colic) और वृक्कशूल (Renal colic) तीनों का लक्षण केवल पीड़ा मात्र है। किन्तु उनकी स्थिति तथा विस्तार मे अथवा जिस क्षेत्र मे उनकी विशेष प्रतीति होती है उनमे अन्तर है।

पीडा की प्रतीति का कारण वे नाड़ी या तन्त्रिकाओ के अन्तिम सूत्र होते है जो मुक्त रूप से आन्त्र की भित्तियो मे फैले रहते है जिनको अन्तस्थल या तन्त्रिकान्त (nerve endings) कहते है। ये सूत्र मेरु रज्जु (spinal cord) के पश्चिम-शृंग-कोशिकाओं (anterior horn cells) मे अन्त होते है और पीडा की संवेदनाओं को उनमे पहुँचाते है। वहाँ से वे संयोजक सूत्रो (communicating fibres) द्वारा पूर्व-शृङ्ग–कोशिकाओ (anterior

horn cell) में पहुँचायी जाती हैं जहाँ से अपवाही सूत्र उनको उदरभित्ति तक पहुँचाते हे जहाँ उन संवेदनाओं के कारण पीड़ा की प्रतीति होती है। आन्त्र से संवेग या संवेदनाये (impulses, sensation) आन्त्रानुगा नाड़ियो द्वारा मेरुरज्जु के पूर्वपार्श्व पथों (anterolateral tracts) की पश्चिमशृङ्ग-कोशिकाओं मे पहुँचती है और वहाँ से ऊपर की ओर उच्च केन्द्रों में जा सकती हैं या रज्जु की पूर्वशृङ्ग-कोशिकाओं मे। कुछ संवेदनाये रज्जु के दोनों ओर के पूर्वपार्श्व पथो में पहुँच जाती हैं। इन्हीं के कारण उदर के मध्य मे या दोनों ओर पीडा मालूम होती है। जो संवेग मेरुरज्जु के केवल एक ओर के पार्श्वशृङ्गों मे पहुँचते हे उनसे पीड़ा की प्रतीति केवल एक ओर होती है।

आन्त्र मे नाड़ियो के वितरण या विस्तार का ज्ञान अभी तक अपूर्ण है। यद्यपि नाड़ीसूत्र उनकी भित्तियों मे बहुतायत से फैले हुए है, तो भी यह निश्चित है कि कुछ आन्त्र भागो मे नाड़ीसूत्र बहुत कम हैं या हैं ही नही। आन्त्र के कुछ ऐसे भाग हे जिनमे अर्बुद उत्पन्न होकर जबतक इतने बड़े आकार के नही हो जाते कि समीपस्थ किन्हीं संरचनाओं पर उनका दबाव पड़ने लगे तब तक कोई लक्षण नहीं होते, पीड़ा भी नहीं होती। सीकम (अंधान्त्र) तथा आमाशय का हृदय की ओर का सिरा (cardiac end) ऐसे ही क्षेत्र हे। ये 'ये शान्त क्षेत्र' (silent areas) कहलाते हैं।

पीड़ा की उत्पत्ति मे उन कारणों का जिनसे पीड़ा उत्पन्न होती हैं अर्थात् उद्दीपक (stimulus), उनका भी महत्त्व कम नही है। कोई कारण, कोई उद्दीपक ऐसा होता है जिससे नाड़ी अन्तस्थलों पर, नाड़ी के सूत्रान्तो पर, इस प्रकार दबाव पड़ता है कि वे क्षुब्ध हो जाते हैं। इस दबाव से वे कुचल से जाते हे। यही वह उद्दीपक है जो नाड़ीसूत्रो में संवेदन उत्पन्न करता है, जो सूत्र के अन्त तक पश्चिमशृङ्गकोशिकाओं मे पहुँच कर पीड़ा का अनुभव कराता हैं। जितना उद्दीपक तीव्र होगा उतनी ही पीड़ा भी अधिक प्रतीत होगी।

उदर मे पीड़ा उत्पन्न करने वाले निम्नलिखित विशेष उद्दीपक हैं—

(१) आन्त्र की भित्तियो की अनैच्छिक पेशियों के प्रबल संकोच, विशेष कर जब वे अनियमित (strong irregular contractions) रूप से हों। आन्त्रशूल, वृक्कशूल, पित्तशूल इसी प्रकार उत्पन्न होते हे। प्रवाहिका मे बृहदान्त्र की श्लैष्मिक कला व्रणयुक्त होकर उसमें ऐसे संकोच होने लगते है जिससे रोगी को सदा मलत्याग की इच्छा बनी रहती है यद्यपि वहा मल नहीं होता। इस दशा को 'टेनेसमस' (tenesmno) कहते है।

(२) पर्युदर्या कला (peritoneum) का शोथ। आमाशय या

ग्रहणी के व्रण के कारण विदार (perforation) होने से अथवा किसी अभ्यन्तराग जैसे उण्डुक या पित्ताशय के शोथ से उनके ऊपर आच्छादित कला भी शोथयुक्त हो जाती है। यह कला अत्यन्त संवेदनशील है।

(३) उदर के भीतर के ठोस अभ्यन्तरागो पर एक सौत्रिक ऊतक का बना हुआ सम्पुट (capsule) चढा रहता है। यदि उसके सम्पर्क मे अभ्यन्तराग मे कोई अर्बुद, शोथ या विद्रधि बनने से अंग के आकार मे वृद्धि होती है तो सम्पुट पर दबाव पड़ने से पीड़ाजनक उद्दीपकों की उत्पत्ति से पीड़ा होती है जो कभी कभी दारुण हो जाती है। किन्तु अभ्यन्तराग की अन्तर्वस्तु (parenchyma) पीड़ासंवेदक नाड़ीसूत्रो से रहित मालूम होती है। यकृत, वृक्क और प्लीहा की अन्तर्वस्तु का शोथ या उसके अर्बुद पीड़ा-रहित होते हैं।

(४) आमाशय और क्षुद्रान्त्र की श्लैष्मिक कला भी संवेदनहीन मालूम होती है। उग्र आमाशयशोथ या क्षुद्रान्त्रशोथ मे भी तीव्र पीड़ा नहीं होती।

पीड़ा की उग्रता—कुछ रोगी पीड़ा का बहुत अनुभव करते है, कुछ कम। रोगी अनेक प्रकार से पीड़ा को बताने का प्रयत्न करते है। विशेष ध्यान देने योग्य बाते ये है। (१) पीड़ा के क्षेत्र की स्थिति, (२) पीड़ा की उग्रता, (३) पीड़ा का समय के साथ संबंध (४) तथा उत्पत्तिस्थान के अतिरिक्त पीड़ा कहा कहा मालूम होती है। इसको एतरवर्ती पीड़ा (Referred pain) कहते हे।

एतरवर्ती पीड़ा (referred paiu)—इस शब्द से यह अर्थ लिया जाता है कि पीड़ा उत्पत्तिस्थान या जिस अंग से उत्पन्न हो रही है उससे कहीं दूर पर स्थित किसी स्थान पर प्रतीत होती है। जैसे पित्ताशय शूल मे, पित्ताशयवाहनी मे होकर पित्ताश्मरी के निकलने के समय वाहिनी मे होने वाले संकोचो के कारण उत्पन्न हुई पीड़ा दाहिने स्कंध तथा स्कंधास्थि के क्षेत्र मे मालूम होती हैं। इसी प्रकार वृक्कशूल मे गवीनी (ureter) मे होकर जब अश्मरी नीचे मूत्राशय में जाने लगती है तो गवीनी की भित्ति की सरल-पेशियों मे जो संकोच होते हैं उनका परिणाम वृक्कशूल होता है जो वंक्षण प्रान्त से नीचे को जाकर शिश्न के सिरे पर दारुण वेदना के रूप मे अनुभव होता है। मेरुदंड के क्षय रोग मे कशेरुकायो के गलने के कारण दो कशेरु-काओं के बीच नाड़ियो पर दबाव पड़ने से आगे की ओर अन्तर्पर्शुका स्थान मे पीड़ा प्रतीत होती हे जहा नाड़ी का अन्तिम वितरण होता है। हृद्शूल (angina pectoris) मे पीड़ा समस्त बाई बाहु और अग्रबाहु मे प्रतीत

होती है। इसका कारण यह है कि प्रायः अभ्यन्तरांग और जहां पीड़ा प्रतीत होती है दोनों की वृद्धिकाल (embryological) मे उत्पत्ति एक ही संरचना से हुई थी। अथवा दोनो स्थानों मे वितरित नाड़ीसूत्रों का उदय एक ही मौलिक नाड़ी से होता है।

इसमें मानसिक भ्रम भी बहुत कुछ भाग लेता है। कितनी ही बार बाहु या अंग के उच्छेदन (amputation) पश्चात् कटे हुवे भाग में पीड़ा का अनुभव होता रहता है यद्यपि वह अंग अब शरीर में वर्तमान नहीं है। मन शरीर के तथा उसके अंगों के रूप का एक चित्र बना लेता है और अंग के न रहने पर भी उसमें पीड़ा का अनुभव करता रहता है। ऐसे अंग को कल्पित अंग (Phantom Limb) कहा जाता है।

प्रत्येक पीडा एक प्रकार से एतरवर्ती पीड़ा होती है। अंगुलि के भीतर पीड़ा उत्पन्न होती है किन्तु उसकी प्रतीति अंगुलि की त्वचा पर होती है। पीड़ा को समझने का मानस ने इस विधि का विकास कर लिया है।

प्रतिवर्तित पेशीकाठिन्य तथा स्पर्शासह्यता
(Reflex muscle rigidity and tenderness)

उदर के रोगों मे अभ्यन्तरांगो मे जनित पीड़ा के कारण पेशीकाठिन्य और स्पर्शासह्यता नामक घटनायें भी घटित हो जाती हैं। जिस अंग में पीड़ा उत्पन्न होती है, अर्थात् जो विकारयुक्त होता है उस पर की और कभी कभी उससे दूरी पर की भी उदरभित्ति कठिन हो जाती। वहाँ के पेशीसूत्र संकुचित हो जाते हैं। भित्ति मे गति नही होती। इसको 'पेशियों द्वारा सुरक्षा' (guarding of muscles) कहा जाता है। अर्थात् पेशी संकुचित होकर नीचे के अंग की रक्षा करती है, उनको ऊपर से हानि पहुँचने से बचाती है। यह दशा प्राय पर्युदर्या कला के शोथ का परिणाम होता है। इस कारण विकारयुक्त अंग और संकुचित पेशियो कृत भित्ति भाग मे मेरुदण्ड के एक ही खण्ड से नाड़ी सूत्रों का सम्भरण होता है। उण्डुकशोथ, आमाशय या आन्त्रविदार, पित्ताशयशोथ तथा पर्युदर्याशोथ मे पेशीकाठिन्य विशेष चिह्न मिलता है।

स्पर्शासह्यता (tenderness) का अर्थ स्पर्श करके दबाने से पीड़ा होना। कभी कभी यह दशा भी शोथयुक्त अंग से दूरी पर पाई जाती है और पीड़ा के समाप्त हो जाने के पश्चात् भी कई दिन तक बनी रहती हैं। पित्ताशय-शोथ मे बहुधा ऐसा होता है।

उपर्युक्त तीनों लक्षणों व चिह्नों को ध्यानपूर्वक मालूम करना चाहिए। उनके उपस्थित होने पर इसका ठीक ठीक निश्चय करना आवश्यक है कि उनका कारण दूरी पर कहीं अन्यत्र स्थित है या वहीं पर है। स्पर्शासह्यता उत्तल (superficial) हो सकती है तथा गम्भीर या अवतल (deep) भी हो

सकती है। तनिक सा दबाने से उत्तल का पता लग जायगा। किन्तु गम्भीर स्पर्शासह्यता अधिक या गहरा दबाने पर मालूम होगी। स्पर्शासह्यता रोगी की आकृति से समझना चाहिये, उससे पूछने की आवश्यकता नहीं है।

जी मिचलाना (Nausea)

उदर के रोगों में जी मिचलाना और वमन भी विशेष लक्षण है जो शोथ-युक्त दशाओं-उण्डुकशोथ, पित्ताशयशोथ, पर्युदर्याशोथ आदि में सदा पाये जाते हैं। वमन से पूर्व जी मिचलाता है। उदर के अतिरिक्त अन्य रोगों में भी जी मिचलाता है। इसका कारण प्रायः ग्रहणी (duodenum) में विपरीत आन्त्रगति (anti-peristalsis) तथा आमाशय की भित्तियों की शिथिलता होती है। उदर रोगो के अतिरिक्त साधारण दशा बरफ़ के टुकड़ों को चूसने तथा सोडा लेमनेड आदि पेय को घूंट घूंट करके पीने से शान्त हो जाती है। यह लक्षण रोगनिदान मे सहायक नहीं है।

वमन (Vomiting)

यह एक प्रतिवर्त क्रिया है जो उदर के भीतर अथवा उसके बाहर स्थित अनेक कारणों का फल होती है। इस क्रिया मे आमाशय के भीतर जो कुछ होता है वह मुह से होकर बाहर निकल जाता है। उसके पूर्व प्रायः जी मिचलाता है और मुह से बहुत सी लार टपकती है। उदर-भित्ति की पेशियों का वेग से संकोच होता है, मध्यच्छदा पेशी स्थिर हो जाती है। आमाशय का हृद्-द्वार (cardiac orifice) ग्रहणी मे विपरीत आन्त्रगति और आमाशय के शिथिल हो जाने के कारण प्रसरित अथवा खुल जाता है। और आमाशय के दबने के कारण उसके भीतर की वस्तु बाहर निकल आती है।

वमन के प्रकारों मे बहुत भिन्नता पाई जाती है। यहाँ उन सबो का विचार अभीष्ट नहीं है। उदर के रोगों के कारण जो वमन होता है उसमे प्रथम जी मिचलाता है, तब वमन होता है। जो मेरुशीर्ष (medulla oblongata) मे स्थित वामक केन्द्र के उत्तेजित हो जाने के कारण होता है वह बिना जी मिचलाये और रोगी के विशेष प्रयत्न किये ही सहज मे और अकस्मात् हो जाता है।

उदर मे आमाशय तथा क्षुद्रान्त्र के रोग और उण्डुकशोथ, पित्ताशयशोथ तथा पर्युदर्याशोथ वमन के विशेष कारण होते है। बृहदान्त्र के रोगों मे वमन कम अथवा नहीं होता। उदर के अतिरिक्त भी अनेक रोगो मे वमन होता है जैसे मस्तिष्कावरणशोथ, यूरीमिया, मैलेरिया। मैलेरिया मे पित्तयुक्त वमन होते हैं। ग्रहणी की विपरीत आन्त्रगति के कारण पित्त आमाशय मे आ जाता है।

यदि वमन बड़ा हो और सहज मे तथा बार बार हो तो क्षुद्रान्त्र के प्रारम्भिक भाग में बद्धान्त्र (Inlestinal Obslructron) है।

गर्भावस्था तथा मदात्यय (alcholism) मे प्रातःकाल वमन होते है। मानसजन्य (poychogenic) रोगों मे प्रायः प्रात काल नाश्ते के पश्चात् वमन होते है। यदि रोगी को प्राय. बिना किसी कारण के वमन होते रहते है तो वे मानसजन्य है।

कुछ व्यक्तियो को वमन होते रहते है। किन्तु उनके स्वास्थ्य पर उनका कोई प्रभाव नही होता। ऐसी दशा की चिकित्सा करने की आवश्यकता नही है।

आध्मान—वायु का एकत्र होना (Flatulence)

कुछ रोगी उदर मे वायु के एकत्र हो जाने का कष्ट बताया करते है। वायु से उनका अर्थ गैसो का होता है जो किन्ही असाधारण दशाओ मे आन्त्र मे प्रवाहित द्रव आहार से पृथक् होकर वहाँ एकत्र हो जाती है जिससे आन्त्र विस्तृत हो सकता है। सामान्यतया गैसे आमपेप (chyme) मे घुली रहती हैं जो आमाशय मे आहार के पाचन के पश्चात् क्षुद्रान्त्र मे आकर उसके एक सिरे से दूसरे सिरे की ओर प्रवाह किया करता है। एक्सरे चित्रण से गैस की विशेष मात्रा के आन्त्र मे एकत्र होने का कोई प्रमाण नहीं पाया जाता। हाँ जब आन्त्र का अंगघात हो जाता है जैसे बद्धान्त्र, अर्बुद या किसी अन्य रोग के कारण, तो गैसे द्रव पेप से पृथक् हो जाती है और आन्त्र के विस्तार का कारण हो सकती हैं।

आमपेष मे उपस्थित कार्बोहाइड्रेट और प्रोटीन के किण्वीकारण (fermentation) से भी गैसे उत्पन्न हो सकती हैं। आन्त्र मे आन्त्रगति के पूर्ण न होने अथवा पाचक रसों की कमी से ही ऐसा होता है। आमाशय मे अनम्लता (achlorhydria) जो वास्तव मे अम्लाल्पता होती है, उसके कारण किण्वीकरण हो सकता है। कार्बोहाइड्रेट के किण्वीकरण से कार्बन-डाई-आक्साइड बनती है। प्रोटीन से हाइड्रोजन सल्फाइड, मीथेन आदि गैस बन सकती है। ये गैसे दुर्गन्धियुक्त होती है। कार्बन-डाई-आक्साइड अथवा नाइट्रोजन जो वायु से आन्त्र मे पृथक् हो सकती है गन्धरहित होती हैं।

आमाशय मे गैस का एकत्र होना संभावना से परे मालूम होता है। जब प्रयोगो मे आमाशय मे गैस भरी जाती है तो वह डकार के साथ बाहर निकल जाती है। इस कारण आमाशय मे गैस एकत्र नहीं हो सकती। गैस का दबाव सामान्य से तनिक भी अधिक होने से गैस डकार के रूप में निकल जाती है। रोगी जिसको वायु एकत्र होना कहते है वह आन्त्र

के किसीभाग मे गैसो का एकत्र होना संभव है जिसको वह समझ नहीं पाता।

आन्त्र के प्रथम भाग या पायलोरस मे बद्धान्त्र होने पर डकार के साथ बहुत गैस निकलती है।

आन्त्र मे बद्धान्त्र का विशेष लक्षण गैसों की अत्युत्पत्ति है जिससे आन्त्र के पाश (loops) विस्तृत हो जाते है और सारा उदर फूला हुवा दीखता है और परिताडन से ढोल का सा शब्द होता है। इस रोग मे अवरोध के कारण मल एकत्र हो जाता है और उसके किण्वीकरण से गैसे उत्पन्न होती है। साथ ही आन्त्र का अंगघात हो जाने से गैसो की उत्पत्ति और भी बढ जाती है।

बृहदान्त्र के किसी पाश मे गैसो का फंस जाना संभव है जिससे वह पाश विस्तृत हो जाता है। अवरोही बृहदान्त्र के निचले भाग के अवरोध से उदर के दोनो पार्श्व और उसके आरपार ऊपरी भाग मे विस्तृत पाश की रूपरेखा भित्ति पर दिखाई देती है।

कुछ व्यक्तियों को अधिक मात्रा मे अधोवायु निकला करती है। यदि वह दुर्गन्धियुक्त है तो प्रोटीनो का किण्वीकरण हो रहा है जिसके लिये क्षुद्रान्त्र की आन्त्रगति का अत्यधिक होना अथवा अग्न्याशय रस (Pancreatic secretion) की अल्पता या क्रियाक्षीणता उत्तरदायी है।

सामान्यतया आन्त्र मे गैसे अपने भौतिक सिद्धान्तो का अनुसरण करती हैं। उनका बहुत सा भाग रक्त द्वारा अवशोषित होकर यकृत के पास पहुँचाया जाता है जो अपनी निर्विषीकरण क्रिया द्वारा उनको शरीर के लिये हानिरहित बना देता है।

कोष्ठबद्धता—कब्ज (Constipation)

मलत्याग बृहदान्त्र का कर्म है जिसका पूर्ण सम्पादन मलाशय द्वारा होता है। आन्त्रगति की अल्पता तथा आन्त्र मे किसी अवरोध के उत्पन्न हो जाने से मलत्याग पूर्ण नही होता। यही कोष्ठबद्धता कहलाती है। इसके अनेक कारण हो सकते है जिनके विचार के लिये यह उपयुक्त स्थान नही है। यहाँ आन्त्र के कुछ रोगों मे कुछ समय के लिये कोष्ठबद्धता और उसके पश्चात् अतिसार की ओर विशेष ध्यान आकर्षित करना अभीष्ट है। ऐसी दशा मे कुछ समय तक (कई दिन तक) कोष्ठबद्धता रहती है। आन्त्र के विकारयुक्त भाग में मल एकत्र होता रहता है। तब उस स्थान की आन्त्रगति बहुत बढ़ जाती है और चारों ओर की भित्तियों से वहा जल खिंच आता है जिससे

मल पतला हो जाता है और अतिसार के समान पतले दस्त होकर मल निकल जाता है। फिर कुछ दिन के लिये मलत्याग रुक जाता है और तब फिर पूर्ववत् अतिसार होता है। इस प्रकार के समय-समय पर आक्रमण होते रहते है। यह दशा जीर्ण बद्धान्त्र, आन्त्रमार्ग में अवरोध तथा व्रणोत्पत्ति का सूचक है जिसका पूर्ण अन्वेषण आवश्यक है।

सामान्यतया कोष्ठबद्धता प्रत्येक ज्वर मे हो जाती है।

हृद्-दाह (Heart burn)

उदर के ऊपरी भाग मे दोनो ओर की पर्शुकाओ के बीच के भाग के भीतर दाह या जलन का अनुभव होना हृद्-दाह कहा जाता है। बहुत बार मुह मे खट्टा द्रव भर आता है। रात को मसाले, मिर्चा युक्त चटपटे भोजन से पेट को भर कर सो जाने पर प्राय. ऐसा होता है। इसका कारण आमाशय हृद्-द्वार के समीप के भाग मे अतिअम्लीयता (Hyperacidity) हो जाना है। ग्रास-नाल के अन्तिम भाग जो आमाशय मे खुलता है उसके शोथ तथा आक्षेपक से भी ऐसा होता है। प्रयोगों से अम्ल को जल मे मिला कर पिलाने से ऐसा नहीं हुआ। इस कारण ग्रासनाल के निचले सिरे का आक्षेपक विशेष कारण प्रतीत होता है। इस प्रान्त मे एकत्रित आहार का किण्वीकरण भी इसका कारण हो सकता है।

पेट भरा प्रतीत होना

सामान्यतया भोजन करने के पश्चात् जब आहार आमाशय मे पहुँचता है तो आमाशय कुछ विस्तृत हो जाता है। अधिक आहार पहुँचने से और विस्तृत होता है। इससे आमाशय के भीतर का दबाव नही बढता। किन्तु दो प्रकार के व्यक्तियों मे आमाशय विस्तार नही करता। एक जिनमे मानसिक उद्विग्नता या चिन्ता बनी रहती है। और दूसरे जिनके आमाशय मे कोई रोग होता है जैसे व्रण या कैंसर की उत्पत्ति है। ऐसे व्यक्तियो के थोड़ा सा भी आहार करने के पश्चात् उनको प्रतीत होता है कि उनका पेट भर गया। इस कारण यदि ऐसा लक्षण मिले तो उसका अन्वेषण उचित है।

मुख के रोग

मुख एक बड़ा कुहर है है जिसमें ऊपर और नीचे के दाँतों के बीच आहार को पीसा जाता है, उसको अत्यन्त सूक्ष्म कणों में विभक्त किया जाता है। यह क्रिया उत्तम पाचन के लिये अनिवार्य है और उसके पूर्ण होने के लिये प्रत्येक दॉत का स्वस्थ और सम्पूर्ण होना भी आवश्यक है। दॉतों की स्थिति भी ध्यान देने योग्य है। अनुपयुक्त तथा अस्वस्थ दाँतो से आहार को भली भॉति चबाने मे कष्ट होता है।

मुख मे आहार के चबे हुए कणो मे लाला (Saliva) या थूक मिलाकर उनको बॉध कर ग्रास बना देता है और उसको चिकना कर के फिसला देता है। इसके द्वारा मसालो के कण घुल जाने से जिह्वा को खट्टा, मीठा, नमकीन रसो का आस्वादन होता है। लाला प्रथम पाचक रस है जो अपनी रासायनिक क्रिया से आहार के कार्बोहाइड्रेट घटक को पचाता है, अर्थात् उसको शरीर के उपयोगी रूप मे परिणत करता है। उसमे टायलिन नामक प्रकिण्व होता है जिसकी यह रासायनिक क्रिया होती है। लाला रस को उत्पन्न करने वाली ग्रन्थियाँ मुख के पार्श्व मे तथा उसके फर्श मे स्थित हैं जिनमे रस बनकर वाहिनियों (ducts) द्वारा मुख मे पहुँचता है।

दॉतो के सम्बन्ध मे दो विशेष रोग हैं जिनका प्रभाव समस्त पाचक क्रिया पर और सामान्य स्वास्थ्य पर पड़ सकता है। पहला रोग पायरिया (pyorrhoea alveolaria) कहलाता है। मसूड़े को दबाने से दॉत और मसूड़े के बीच से पूय (Pus) निकलने लगती है। यह पूय या 'पस' सदा आहार के साथ शरीर मे व्याप्त होती रहती है। रक्त द्वारा भी 'पस' का शरीर मे प्रसार हो सकता है। दूसरा रोग शिखर संक्रमण (apical infection) कहलाता है जिससे दाँत के मूल के शिखर पर विद्रधि उत्पन्न हो जाती है। इसको शिखरविद्रधि (apical abescess) कहा जाता है। इससे जीवविष (toxins) उत्पन्न होकर उनका सारे शरीर मे संचार होता रहता है। किसी समय इन दोनों रोगो को शरीर के अनेक भयंकर रोगो का कारण माना जाता था। यद्यपि अब उनको उतना दोषी नहीं माना जाता, तो भी कहीं पर भी संक्रमण का केन्द्र उपस्थित होने से उसके अन्य अगो मे विस्तार करने की सम्भावना बनी रहती है। टूटे गले हुए या खुड्रे (caries) युक्त दॉत सदा भय का स्थान है। उत्तम दृढ़ स्वस्थ दाँत उपयोगी दीर्घ जीवन की प्रथम सीढी है। इस कारण समय समय पर डेन्टिस्ट के पास जाकर मुख की शुद्धि और स्वच्छता का पूरा आयोजन करना

चाहिये। प्रत्येक रोगयुक्त दाँत को निकालना आवश्यक नही है। बिना दाँत निकाले ही उसकी चिकित्सा हो सकती है। दाँत को निकालने का तभी निश्चय करना चाहिये जब चिकित्सा मे किसी भाँति भी सफलता न हो और स्वास्थ्य के लिये दाँत भय का करण बन जाय।

मुखपाक (Stomatitis)

मुखपाक कई प्रकार का होता है। मुख की श्लैष्मिक कला में, मसूड़ों पर तथा जिह्वा पर जहाँ तहाँ शोथ के प्रान्त बन जाते है। श्लैष्मिककला छिली सी दीखती है जिसके नीचे लाल उभरे हुवे दाने दिखाई देते है। इनमे पीड़ा होती है विशेष कर आहार चबाने के समय। विटामीनो की न्यूनता से भी पाक उत्पन्न हो जाता है। विटामीन-'सी' अर्थात् एस्कोबिक अम्ल और विटामिन-'बी' जटिल के कई सदस्य राइबोफ्लेवीन, निकोटिनिक अम्ल, फौलिक अम्ल तथा साइनोकोबलअमीन इसी प्रकार के विकार उत्पन्न कर देते हैं। किन्तु प्रत्येक के विशेष लक्षण होते है जिनसे विशेष विटामिन की न्यूनता को पहिचाना जा सकता है। प्राय कई विटामीनों की न्यूनता होती है जिनको खिलाने से दशा सुधर जाती हैं। कई रक्तविकारों मे भी मुह मे तथा जिह्वा पर व्रण बन जाते हैं। चेचक, खसरा, लघुमसूरिका आदि मे भी मुख मे ऐसे ही दाने हो सकते है।

१. **श्लेष्मल मुखपाक** (catarrhal stomatitis)—मुख के भीतर की श्लैष्मिक कला लाल और शोथयुक्त दीखती है। मसूड़े सूज जाते हैं किन्तु सूखे हुवे दीखते है। जिह्वा भी शोथयुक्त होती है। मुह चलाने या दांतो से चबाने पर पीड़ा होती है। जिह्वा पर मैल जम जाता है। मुह से बदबू आती हैं। श्वास भी दुर्गन्धित होता है।

यह रोग प्राय. दुर्बल बच्चो मे होता है। वयस्कों मे भी जिनके दातो मे खुड़रे होते है या जो सिगरेट अधिक पीते है उनके मुह मे भी यह रोग हो जाता है। ज्वरो मे तथा अन्य तीव्र रोगो में मुह की स्वच्छता की ओर ध्यान न देने से दातों मे तनिक भी संक्रमण होने से यही परिणाम होता है।

चिकित्सा—मुख की स्वच्छता रोग का विशेष प्रतिरोध है। ज्वरों मे तथा सब ही लम्बी बीमारियों मे रोगी के मुख को प्रात और सायं दोनों समय हाइ-ड्रोजन-पर-आक्साइड के कुल्ले करवा कर मुख कुहर को स्वच्छ करवाना चाहिये। मसूड़ो पर बोरिक ग्लिसरिन रुई की फुरहरी से लगाना उचित है। यदि मुह मे शोथ के प्रान्त दिखाई दे तो उन पर भी बोरिक ग्लिसरिन लगाया जाय। सोडाबाईकार्बोनेट के लोशन से कुल्ले भी मुखशुद्धि के लिये प्रयोग किये जाँय।

२. 'एपथस' मुखपाक (aphthous stomatitis)—बालक और वयस्क दोनो के मुह मे शोथ के क्षेत्र बन जाते है जहाँ श्लैष्मिक कला छिली हुई दीखती है और उसके चारो ओर सूजन होती है। बहुत बार इस प्रकार के व्रण स्वस्थ व्यक्तियो मे बिना किसी कारण के उत्पन्न हो जाते है और समय समय पर प्रकट होते रहते है। कुछ ज्वर तथा आन्त्रसंबंधी रोगो मे अथवा किसी विशेष भोज्य पदार्थ के प्रयोग से इस प्रकार के व्रण उत्पन्न होते देखे गये है। किन्तु बहुत बार कारण का पता नही लगता। मानसिक उद्विग्नता के कारण भी ऐसी व्रणोत्पत्ति का होना समव है। ये व्रण बहुत पीड़ायुक्त होते है।

चिकित्सा—१० प्रतिशत सिल्वर नाइट्रेटलोशन मे रुई की बारीक फुरहरी को भिगोकर व्रणो पर लगाया जाय, उनके बाहर न लगने पावे। यदि पीड़ा अधिक तो एमिथोकेन (amethocaine) युक्त चूसने की टिकियाओं को मुह मे रखा हो जाय। तीव्र दशाओं मे हाइड्रोकार्टिसोन से लाभ होता है। २० से १०० मिलीग्राम प्रतिदिन देना लाभदायक है। उससे बहुत बार रोग रुक जाता है। जीभ के नीचे रखने के लिये २·५ मि. ग्राम की टिकियां (linguets) भी आती है। दिन मे छै टिकिया तक प्रयोग की जा सकती है।

३. व्रणयुक्त मुखपाक, विसेन्ट का मुखपाक (ulcerative or vincent's stomatitis)—यह एक संक्रामक रोग है। व्रणो मे एक स्पायरोकीट और एक तर्क्वाकार दण्डाणु पाया जाता है। अपर्याप्त आहार से दुर्बल क्षीण हुवे बालकों मे यह रोग अधिक होता है। श्लेष्मल कला तथा ओष्ठो पर छोटे छोटे क्रमहीन किनारो वाले व्रण बन जाते है जिन पर हलके नीले या मटमैले रंग का पदार्थ छाया होता है। वे धीरे धीरे बढ कर एक दूसरे से मिल जाते हैं। मुँह से दुर्गन्धियुक्त श्वास निकलता है। ज्वर भी हो सकता है। स्कूलो या छात्रालयो मे रोग के फैलने का बहुत डर रहता है।

चिकित्सा—रोग पेनिसिलिन द्वारा वध्य है। पेनिसिलिन के इन्जेक्शन दिये जाते ह। तथा पेनिसिलिन की चूषिकाये (troches) चूसने को दी जाती है।

४. पराश्रयीजन्य मुखपाकः, थ्रश (Parasitic Stomatitis, Thrush)— इसका कारण एक फंगस होता है जिसको 'कैन्डिडा ऐल्बीकैन्स (Candida albicans) कहते ह। मुह के भीतर श्लैष्मिक कला पर श्वेत रंग के क्षेत्र बन जाते है जिन पर गली हुई झिल्ली सी ढकी रहती है। ये आपस मे मिलकर बड़े, आकार के व्रण बन जाते हैं। जिन पर से झिल्ली को सहज मे पृथक् किया जा सकता है। ये दुर्बल क्षीण बालकों मे पाये जाते हैं जो किसी जीर्णकालिक रोग या कुपोषणता के शिकार होते हैं। वृद्धो मे भी यह रोग पाया जाता है। बालकों को उनकी मुखशुद्धि की ओर ध्यान दिलाकर

रोग से बचाया जा सकता है। दीर्घोपयोगी प्रतिजीवियो क्लोरेम्फिनिकौल, औरोमाइसीन आदि के कुछ कालतक प्रयोग से भी यह रोग प्रगट होते देखा गया है।

चिकित्सा—व्रणों पर से रुई के स्वाब (Suale) की सहायता से झिल्ली को धीरे-धीरे पृथक् करके व्रण पर जैन्शियन वायोलेट के जलीय विलयन (aqueous solution of gentian violet) को दिन मे २ बार ३ या ४ दिन तक लगाया जाय। साथ ही रोगी की शारीरिक दशा को सुधारने के लिये उत्तम पौष्टिक आहार दिया जाय। यदि इससे शीघ्र दशा न सुधरे तो फंगसरोधी प्रतिजीवी औषधियों (निस्टेटीन आदि) का प्रयोग वाञ्छित है।

५ धातुओं द्वारा विषाक्तजन्य मुखपाक— पारद, बिस्मथ, स्वर्ण, संखिया (आर्सनिक) आदि के दीर्घ प्रयोग से मुख के भीतर, विशेष कर मसूड़ो पर सूजन तथा व्रणोत्पत्ति हो सकती है। यह इन धातुवों की विषायणता का फल होता है। इन धातुओं का प्रयोग अब बहुत घट गया है। इस कारण अब ऐसे रोगी भी कम दिखाई देते हैं। यदि ऐसे लक्षण दिखाई दे तो ओषधि का प्रयोग बन्द कर दिया जाय। तीव्र दशाओं मे डाईमरकैप्रौल (BAL) का उपयोग लाभदायक सिद्ध होता है।

सिफ़िलिस की तीनो अवस्थाओ में मुख की श्लैष्मिक कला मे विकार उत्पन्न हो जाते है जिनका सिफ़िलिस रोग के साथ वर्णन किया जा चुका है। ट्यूबक्यूलोसिस भी ऐसे ही परिवर्तन कर सकती है यद्यपि वह कम होता है।

जिह्वा

स्वस्थ जिह्वा गुलाबी रंग की, आर्द्र, ऊपरी पृष्ठ के बीच मे कुछ श्वेत मटमैले रंग के मैल से ढकी हुई और पूर्णतया चलायमान होती है। उस पर अंकुर एक समान छाये होते हैं। ज्वरों मे मैल की मात्रा बढ जाती है।

व्रणोत्पत्ति—जिह्वा पर मुखपाक से विस्तार करके उग्र व्रणों की उत्पत्ति हो सकती है। ऐसी दशा मे व्रणो का वही रूप होगा जो मुख मे था। इसके अतिरिक्त टूटे हुए दाँतो तथा ठीक प्रकार से न बैठनेवाले कृत्रिम दातों के किनारो से भी जिह्वा के कट जाने से व्रण बन जाते ह। वे सामान्य विसंक्रामको के प्रयोग से तथा जहाँ आवश्यक हो मुखपाक के समान चिकित्सा करने से ठीक हो जाते हैं।

जीर्ण या दीर्घकालीन व्रणो मे सावधानी से अन्वेषण की आवश्यकता है। क्योंकि ऐसी दशा मे कैंसर की सम्भावना रहती है। जहाँ सन्देह हो ऊतक-परीक्षा (Biopsy) करवानी चाहिए।

श्वेतशल्कता (Leukoplakia)—इस रोग मे जिह्वा के पृष्ठ पर श्वेत रंग के चिकने किन्तु कड़े क्षेत्र बन जाते हैं जिनको पृथक् नही किया जा सकता। ये प्रथम जिह्वा के किनारो पर उत्पन्न होते हैं और फिर पृष्ठ पर फैल जाते हैं। इनमे दरारे पड़ जाती हैं। जिह्वापृष्ठ फटा सा दीखता है। दरारे कभी कभी गहरी होती हैं जिससे पीड़ा होती है। जिह्वा स्पर्शासह्य हो जाती है। सिफिलिस के लिये रोगी की परीक्षा करना उचित है। इस दशा का सिफिलिस तथा कैन्सर से सम्बन्ध माना जाता है। कुछ विद्वान् इसको कैन्सर की पूर्वावस्था मानते है।

कुपोषणजन्य जिह्वाशोथ (Stomatitis due to malnutrition)—आहार की अपर्याप्तता या उसके पोषक घटको के अवशोषण की त्रुटि से जिह्वाशोथ हो जाता है। मुखपाक के सम्बन्ध मे विटामीन-बी जटिल के तत्त्व राईबोफ्लेवीन, निकोटिनिक अम्ल, फौलिक अम्ल तथा सायनोकोबल अमीन का उल्लेख किया गया है। इन की न्यूनता का परिणाम शोथ हो सकता है। प्रोटीन अम्ल की कमी से भी जिह्वा मे विकार हो सकता है। कुपोषणता या पोषणहीनता के उग्र होने से जिह्वा लाल और छिली सी दीखती है और उसमे पीड़ा होती है। इस दशा की चिकित्सा पोषणन्यूनता को दूर करना है।

पैलाग्रा, स्प्रू तथा दुष्टरक्तक्षीणता (pernicious ance emia) रोगो मे जिह्वाशोथ विशेष लक्षण होता है। लोहहीनताजन्य रक्तक्षीणता मे भी जिह्वाशोथ होता है। इस प्रकार की रक्तक्षीणता प्राय. चिरकालिक होती है और कुछ काल के पश्चात् जिह्वाशोथ प्रकट हो जाता है। कभी कभी जिह्वा पर के अंकुरकों के क्षय (atrophy of papillae) के कारण वह चिकनी और लाल दीखती है।

ग्रासनाल के रोग

ग्रासनाल एक ९ से ११ इंच की लम्बी नाली है जो ग्रसनी (phyarnx) के अन्त पर प्रारम्भ होती है और वक्ष मे होती हुई सीधी नीचे को जाकर मध्यच्छदा पेशी के ग्रासनाल-छिद्र द्वारा निकल कर उदर मे पहुँचने पर हृद्-द्वार (cardiac orifice) द्वारा आमाशय मे प्रवेश करती है। इसके प्रारंभ और अन्त के भाग संवरणी (Sphincter) पेशी की भाति काम करते है यद्यपि वहां कोई पृथक् संवरणी पेशी नही है। इस नली के ऊपरी भाग में कुछ दूर तक ऐच्छिक पेशी हैं। किन्तु शेष नली सरल ऐनच्छिक पेशियों की बनी है। निगलने की ऐच्छिक क्रिया होती है। किन्तु उसके पश्चात् ग्रास शेष नली मे आन्त्रगति (poristalsis) क्रिया द्वारा अन्त तक चला जाता है। जहाँ मध्यच्छदा के छिद्र द्वारा ग्रासनाल निकल कर उदर में जाता है वहा

इस छिद्र की कुछ संवारक (sphincter) क्रिया होती है। किन्तु यदि नाल का संबंध छिद्र के किनारों से विच्छिन्न कर दिया जाय तो यह क्रिया नही होती।

परीक्षा—ग्रसनी की परीक्षा प्रकाश द्वारा की जा सकती है। किन्तु ग्रासनाल की परीक्षा की केवल दो विधियाँ उपलब्ध हैं। (१) ऐक्स-रे और (२) ग्रासनालदर्शी (oesophagoscope) द्वारा परीक्षा।

ऐक्स-रे—आमाशय की भांति बेरियम सल्फेट के घोल को खिलाकर ग्रासनाल का चित्रण किया जाता है। किन्तु घोल को गाढा बनाया जाता है। और उसको खिलाने के पश्चात् अग्र-पश्च तथा तिर्यक कई दिशाओं मे चित्र लिये जाते है। बेरियम खिलाने से पूर्व ग्रासनाल को स्क्रीन (screen) मे भलीभाति देखा जाता है। यदि आमाशय का हर्निया होता है तो उसमे द्रवस्तर (fluid level) दिखाई देता है।

ग्रासनालदर्शक—ये यन्त्र दो प्रकार के होते है। एक की लम्बी नली धातु की बनी हुई कठोर होती है। उसको प्रविष्ट करने के लिये रोगी को मूर्च्छित करना पड़ता है। दूसरे प्रकार के यन्त्र की नली लचकीली होती है। और स्थानिक संज्ञाहरी औषधियो के प्रयोग के पश्चात् उसका उपयोग किया जा सकता है। अनुभवी प्रयोगकर्त्ता इस यन्त्र द्वारा बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

ग्रसनकष्ट (Dysphagia)

जैसा नाम का अर्थ है ग्रास को निगलने मे कष्ट को ग्रसनकष्ट कहा जाता है। ग्रसन की क्रिया से मुख तथा ग्रसनी का संबंध है। अतएव मुख और ग्रसनी के रोग इस क्रिया मे पीड़ा अथवा बाधा उत्पन्न कर सकते है। ग्रासनली का काम ग्रास को ग्रसनी से आमाशय तक पहुँचाना है। अतएव इस अंग के रोग भी आहार के आमाशय मे पहुँचने मे बाधा पहुँचा सकते हैं। विशेष कर अर्बुद तथा संकीर्णन (stricture or stenosin) के कारण निगला हुवा आहार ग्रास या पेय आमाशय में न पहुँच कर संवृत्ति स्थान से फिर मुह मे लौट आयगा।

ग्रसनकष्ट के निम्नलिखित विशेष कारण होते है।

१. मुखपाक तथा ग्रसनिका के रोग (गले के रोगों मे देखिये), जिह्वा शोथ, टासिलशोथ, गले मे विद्रधि, स्वरयन्त्रशोथ विशेष कर क्षयजन्य तथा अर्बुद। ग्रासनाल की श्लैष्मिक कला के बाहर के पेशीस्तर द्वारा कभी कभी प्रलम्बित होने से एक थैली (pouch) सी बन जाती है।, जिसको पाउच कहते हैं। ग्रसनी के अन्त पर भी इसी प्रकार पाउच बन जाती हैं। ग्रसित आहार या पेय उनमे भर जाते हें और फिर उनसे मुंह मे लौट आते है।

२. नाड़ीजन्य ग्रसन विकार—डिप्थीरिया रोग के उपद्रवस्वरूप नाड़ी शोथ, माईसथिनिया ग्रेविस (myesthenia gravis) तथा केन्द्रीय अंगघात (bulbar pralysis) ।

३. ग्रासनाल के बाहिर के कारण (Exitrinsic causes)—ये कारण ग्रास नाल के बाहिर उपस्थित होते है । कई प्रकार के हो सकते है । वे प्रायः ग्रास-नाल के मध्य के लगभग उपस्थित होते हैं । मध्यान्तराल (mediastinum) के अर्बुद, अवटुका की वृद्धि, परिवर्धित लसीकाग्रन्थियाँ, हौजकिन (Hodgkin) का रोग, एन्यूरिज्म महाधमनी का (aortice aneurysn) तथा श्वासनलियों (Bronchus) के अर्बुद ।

४. अन्तर्जनित कारण (Intrinsic causes) ।

(अ) जन्मजात दोष—ग्रासनाल का छोटा होना ।

(क) ग्रासनाल के भीतर अर्बुदोत्पत्ति । ये अर्बुद प्रायः कैन्सर होते हैं । ग्रासनाल मे सामान्य अर्बुद असाधारण हैं । आमाशय के कैन्सर से भी ग्रसन-कष्ट हो सकता है ।

(व) ग्रासनालशोथ तथा व्रण— ग्रासनाल मे दाहक या सलक्षण (corrosive) अम्ल या क्षारों से उग्र शोथ हो जाता है। पैप्टिक (peptic) व्रण भी हो सकते है । ऐसे व्रणो से संकीर्णण (stenois) उत्पन्न हो जाता है । ग्रासनाल मे अपवर्ध (diverticulum) भी बन जाते है जो ग्रसनकष्ट का कारण हो सकते है ।

प्लूमर-विन्सन या पिटर्सन-ब्राउन,केली लक्षणपुंज या संलक्षण (syndrome) भी एक विचित्र लक्षणों का सम्मिश्रण है जो स्त्रियो मे लगभग आयु के मध्य-काल मे पाया जाता है । इसमें ग्रसनिका के अन्त और ग्रासनाल के प्रारंभ के लगभग ग्रसनकष्ट की प्रतीति होती है । साथ ही रोगिणी स्त्री को लघुकोशी हीनवर्णा रक्तक्षीणता (microcytic hypochromic anaemia), जिह्वाशोथ और नखपाक (Koiloonychia) होते है। रक्त सीरम मे मे लोह-स्तर सदा न्यून होता है। साथ ही आमाशयिक रस मे हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की भी अल्पता होती है ।

ऐसी रक्त क्षीणाता मे लोह के प्रयाग से सदा लाभ होता है। उसके साथ विटामीन युक्त और सन्तुलित आहार से दशा सुधर जाती है। कभी कभी बूजी (यन्त्र) से ग्रसनिका का प्रसार करना पड़ता है। बहुधा यह दशा कैन्सर-उत्पत्ति की सूचक होती है ।

(प) कुछ मानसिक दशाओं मे भी ग्रसनकष्ट प्रतीत होता है। Globus Hystericus नामक दशा मे कंठ में अवरोध प्रतीत होता है। रोगी को ऐसा मालूम होता है जैसे गले मे कुछ आकर अटक गया है। संभव है ग्रसनी-ग्रासनाल के संगम पर संवरणी का संकोच इसका कारण हो। यह दशा मानसोपचार से सहज में ठीक हो जाती है।

ग्रसनकष्ट के तीन मुख्य कारण पाये जाते है जो ग्रासनाल के अन्त पर उपस्थित होते हैं। वे व्रणयुक्त पैप्टिक ग्रासनाल शोथ, ग्रासनाल के अन्तिम भाग या हृद् द्वार का आक्षेपक और ग्रासनाल अथवा आमाशय का कैंसर है। यद्यपि अन्य कारण भी पाये जाते है किन्तु ८० प्रतिशत रोगियो में इन तीन में से कोई कारण होता है।

पैप्टिक ग्रासनाल शोथ (Peptic oesophagitis)

इस प्रकार का शोथ ग्रासनाल के अन्तिम भाग में होता है। आमाशय के प्रबल पाचकअम्लयुक्त रस का संतत सम्पर्क इस दशा का कारण होता है। छोटे छोटे व्रण उत्पन्न हो जाते हैं जिनसे रक्त स्राव होता है।

इस दशा के साथ आमाशय का हर्निया प्राय उपस्थित होता है जिसको hiatus hernia कहते हैं। मध्यच्छदा पेशी के जिस छिद्र (oesophageal orifice) में होकर ग्रासनाल निकलता है वह छिद्र चौड़ा हो जाता है और उसमें होकर आमाशय का कुछ भाग वक्ष मे निकल जाता है। इसी को आमाशय का हर्निया कहते हैं। इसके दो परिणाम होते है। (१) हृद् द्वार की संवरणी क्रिया (sphincter action) नष्ट हो जाती है और (२) आमाशय के कुछ भाग के वक्ष मे खिंच जाने पर उसका आकार विकृत होकर उसका द्रव अम्लयुक्त स्राव सदा ग्रासनाल के अन्त के सम्पर्क में रहता है और ऊपर ग्रासनाल मे बार बार लौट कर आता रहता है। इस प्रकार यह भाग प्रायः सदा ही अम्ल की क्रिया से आक्रान्त होता रहता है। यही शोथ और व्रणोत्पत्ति का कारण होता है। इस प्रकार संवरणी क्रिया का नाश और आमाशय के आम्लिक स्राव का संतत सम्पर्क इन दो कारणो से ग्रासनाल मे व्रण शोथ होता है। यदि यह दशा बहुत समय तक बनी रही तो दशा जीर्णकालिक (Chronic) हो जाती है। आमाशय हर्निया से जो दुष्परिणाम हो सकते हैं उनके ये ही दो कारण होते हैं।

इस दशा का विशेष लक्षण हृद् दाह (heart burn) होता है। उदर के ऊपरी भाग में बीच मे अथवा बांई अन्तिम पर्शुका के नीचे जलन मालूम होती है और खट्टा द्रव कई बार मुंह मे भर आता है। रोगी के सीधा लेटने पर यह कम होता है किन्तु करवट लेने पर या स्थिति बदलते

ही उदर के भीतर का दबाव बढने का परिणाम यह घटना होती है।

स्त्रियो को गर्भावस्था मे विशेष कर आठवे नवे मास में हृद् दाह बहुत होता है। प्रसव के पश्चात् उदराभ्यन्तर दाब के कम हो जाने से हृद् दाह बन्द हो जाता है।

यदि यह दशा कई वर्ष तक बनी रहती है तो रोगी को ऐसा प्रतीत होने लगता जैसे उसके वक्ष के निचले भाग या मार्ग मे कुछ अटक गया हो। कुछ समय मे संवृति उत्पन्न होकर वास्तव में ग्रसन-कष्ट हो जाता है।

चिकित्सा—इस दशा की चिकित्सा के दो आधार हैं। एक, आमाशय के अम्लयुक्त द्रव और ग्रासनाल में संतत सम्पर्क को रोकना और दूसरे आमाशय रस के अम्ल का निराकरण करना जिससे उसकी क्रिया न हो सके।

यह रोग प्राय उन्हीं को होता है जो स्थूल शरीर के और अति भार वाले होते हैं जिसके कारण उनका उदराभ्यन्तर दाब बढा हुआ रहता है। उनके शरीर भार को, जो आमाशय का हर्निया उत्पन्न करने का विशेष कारण है घटाना आवश्यक है।

आमाशय द्रव के ग्रासनाल से संतत सम्पर्क रोकने के लिये रोगी की शैया के सिरहाने को पायतों से ९ इंच ऊंचा कर देना चाहिये। इस पर भी तकिये लगा कर रोगी सोवे। इससे द्रव का प्रवाह नीचे की ओर को होगा। द्रव का जब तब ग्रासनाल में लौट आना इतना हानिकारक नहीं है जितना संतत संपर्क। साथ में रोगी को, विशेषतया रात्रि को, किसी निद्रालु योग के साथ ऐसी औषधि दी जाय जिससे वागस नाड़ी की क्रिया का शमन हो और आमाशय मे होने वाली गतिया बन्द या कम रहें। एट्रोपीन ऐसी औषधि है।

अम्लों के निराकरण के लिये सोडाबाईकार्बोनेट, मगनेशियम, बिस्मथ आदि के कार्बोनेट सदा से प्रयुक्त होते आये हैं। सोडाबाईकार्बोनेट घुलनशील और अवशोष्य है। इस कारण उसकी अतिमात्रा से रक्त में अतिक्षारीयता (alkalosis) उत्पन्न हो सकती है। ऐल्यूमिनियम हाइड्रौक्साइड इसके लिये अधिक उपयोगी पाया गया है। गैल (Gel) बनाकर ४ से ८ मिलीलिटर एक बार मे देने से शरीर का अम्लक्षार सन्तुलन नही बिगड़ने पाता। २४ घटे मे तीन, चार या अधिक बार आवश्यकतानुसार दे सकते हैं। इसका बहुत प्रयोग किया जाता है। मैगनेशियम ट्राईसिलिकोट भी उत्तम औषधि है। १ से ४ ग्राम एक बार मे दे सकते है। यदि कब्ज हो जाय तो लिक्विड रेफिन से दूर किया जाय। इस विषय का जठर व्रण के साथ विस्तृत वर्णन किया जायगा।

दशा के जीर्ण हो जाने पर चिकित्सा कष्ट-साध्य हो जाती है। ग्रासनाल में व्रण बन जाते हैं जिनसे रक्त स्राव होता रहता है जो कभी अधिक नही होता। व्रण इतने छोटे छोटे होते हे कि एक्स-रे द्वारा दिखाई नही देते। केवल दर्शक यन्त्र से देखे जा सकते हे। इनकी चिकित्सा आमाशय के व्रणों ही की भॉति की जाती है।

शस्त्रकर्म द्वारा भी उन दशाओं में चिकित्सा की जाती है जिनमें औषधि चिकित्सा से लाभ नही होता। इसकी दो विधिया हैं। एक आमाशय हर्नियाँ को दूर करके फिर से संवरणी क्रिया को स्थापित करना। और दूसरे आमाशय के अम्लोत्पादक भाग का उच्छेदन करना जैसा ग्रहणी तथा आमाशय के व्रणों मे किया जाता है। प्रथम विधि सरल है। किन्तु दोनों ही विधियों द्वारा किये हुवे शस्त्रकर्मों के पश्चात् भी रोग की पुनरावृत्ति होती देखी गई है।

यह न भूलना चाहिये कि अनेक बार आमाशय हर्निया लक्षणहीन होती हे। उनसे कोई कष्ट नही होता। उनका पता भी अन्य किसी कारणवश लिये हुए एक्स-रे परीक्षा या चित्रण द्वारा लग जाता है। ऐसी हर्नियाओं की चिकित्सा की आवश्यकता भी नही है।

हृद् द्वार आक्षेपक (Cardiospasm)

इस दशा मे हृद् द्वार के चारों ओर के ग्रासनाल के भाग में आक्षेपक होते हैं, पेशीस्तर मे संकोच हो जाते हे जिनसे हृद् द्वार बन्द हो जाता है। साथ उसके ऊपर का ग्रासनाल का भाग विस्तृत हो जाता है जो एक्स-रे से देखा जा सकता है।

प्रारंभ में रोगी को कभी कभी ग्रसन कष्ट होता है किन्तु जब हृद् द्वार के ऊपर के भाग का विस्तार स्थायी हो जाता है तो ग्रसन-कष्ट भी सदा प्रतीत होता है। इसकी प्रतीति उरोऽस्थि के पीछे होती है। इस दशा के कारण रोगी के जीवन क्रम मे अन्तर आ जाता है। वह अपने घर से बाहर भोजन को नही जाता। यह दशा वर्षो तक बनी रह सकती है। ग्रासनाल इतना विस्तृत हो सकता है कि वह कितनी ही बार वक्ष का अर्बुद समझा गया है।

यह माना जाता है कि ग्रासनाल के नाड़ी विन्यास मे कुछ ऐसा विकार उत्पन्न हो जाता हे कि उसमे आन्त्रगति के पूर्व पेशीस्तर विस्तार नहीं करता जिसका कारण पेशीस्तर मे विस्तृत नाड़ी-जालिकाओ की विकृति होती है। पैलाग्रा रोग और विटामिन-बी न्यूनता के साथ कई विद्वानों ने इस दशा के विशेष संबंध का यही कारण माना है।

निदान कठिन नही होता। रोगी का इतिहास और एक्स-रे दोनो से रोग में सन्देह नही रहता। एक्स-रे चित्र मे ग्रासनाल का नीचे का सिरा एक त्रिकोण

के शिखर मे अन्त करता दीखता है। शेष नाल की सीमा सरल और सीधी होती है। किन्तु ग्रासनाल शोथ या व्रणो की उपस्थिति मे सीमा की रेखा जहाँ तहाँ क्रमहीन दिखाई पड़ती है। इस स्थान के कैसर मे रेखा की क्रमहीनता बहुत बढ जाती है। किन्तु ग्रासनाल का विस्तार इतना नही होना जितना इस दशा मे। दर्शक यन्त्र द्वारा परीक्षा आवश्यक है।

इस दशा की उत्पत्ति मे मानसिक भावों का भी बहुत प्रभाव पड़ता है। कभी कभी आक्षेपक केवल मानसिक उद्विग्नता के कारण हो जाता है यद्यपि अधिकतर रोगियो मे ग्रासनाल मे विकार, शोथ आदि उपस्थित होते हैं।

चिकित्सा—जब तक शोथ या व्रण नही होते केवल मानसिक उद्वेग रोग का कारण होते है तब तक ग्लिसरिल ट्राइनाइट्रेट, ०·५ मिलीग्राम)($\frac{1}{120}$ ग्रेन) की टिकियाँ, एक भोजन के आधा घंटा पूर्व और एक टिकिया आधा घंटा पश्चात् खिलाने से लाभ होता है। बालको मे औक्टिल नाइट्राइट के एक ऐम्प्यूल को तोड़ कर सुंघाने से आक्षेपक जाता रहता है। उसके पश्चात् भोजन दिया जाय।

जिनको इस औषधि से लाभ नहीं होता उनमें शस्त्र कर्म का आश्रय लेना होता है। इस शस्त्र कर्म का प्रयोजन ग्रासनाल के हृद् द्वार के पास के वृत्ताकार सूत्रों (cricular fibres) को तोड़ना या काटना होता है जिससे इनका संकोच न हो सके किन्तु साथ ही हृद् द्वार की संवरणी क्रिया (sphinct-eric action) पूर्ववत् ही बनी रहे जिससे आमाशय का अम्लयुक्त द्रव ग्रासनाल मे न जा सके।

यह कर्म दो प्रकार से किया जाता है। (१) ग्रासनाल मे एक बूजी (bougie) जो एक शलाका होती है, उसके सिरे पर एक बैग या थैला बांध कर प्रविष्ट किया जाता है। जब थैला ठीक हृद् द्वार पर पहुँच जाता है तब उसमें एक सिरिंज या यन्त्र लगा कर उसमे जल इतने दबाव से भरा जाता है कि थैला फूल कर वृत्ताकार पेशीसूत्रों को तोड़ देता है। इस प्रकार हृद् द्वार का प्रसार (dilatation) हो जाता है। कुछ रोगियो मे इससे स्थायी लाभ होता है।

(२) जिनमे इस प्रकार से प्रसार सफल नही होता उनमे उदर को खोल कर आमाशय के हृद् प्रान्त में द्वार के बाहर इस प्रकार छेदन किया जाता है कि केवल बाहर के वृत्ताकार सूत्र विभाजित होते है किन्तु वहाँ की संवरणी क्रिया ज्यो की त्यों बनी रहती है जिससे आमाशय का आम्लिक पाचक रस ग्रासनाल मे नही लौटने पाता। ऐसे कई प्रकार के शस्त्रकर्मो को आयोजित किया गया है। किन्तु उन सब मे हेलर (Heller) द्वारा विहित कर्म अधिक सफल प्रमाणित हुवा है।

ग्रासनाल का कैंसर (Carcinoma)

यह रोग विशेषतया पुरुषों मे पाया जाता है। ग्रासनाल के किसी भी भाग में अर्बुद उत्पन्न हो सकता है। किन्तु नीचे के तृतीयांश मे (हृद् द्वार के पास के) सबसे अधिक होता है। मध्यतृतीयांश मे उससे कम होता है। और ऊपरी तृतीयांश में सब से कम। अर्बुद कई प्रकार का हो सकता है। वह उत्फुल्लित (proliferative) हो सकता है जिसका एक पिण्ड बन जाता है। या वह व्रणोत्पादन का रूप ले सकता है। अथवा वह कठिन अर्बुद बन जाता है जिसको Scirrhus कहते हैं।

लक्षण—ग्रसन कष्ट इसका पहला लक्षण है। यदि अधिक आयु वाले व्यक्ति में ग्रसनकष्ट के कोई लक्षण दिखाई दे तो कैंसर के लिये पूर्णतया अन्वेषण करना आवश्यक है। रोगी के इतिहास और दैहिक परीक्षा के अतिरिक्त एक्स-रे चित्रण और ग्रासनाल दर्शक द्वारा परिदर्शन विशेष परीक्षा विधि हैं जिनका उपयोग आवश्यक है।

रोगी के इतिहास में पहिले कभी कभी निगलने मे कठिनाई प्रतीत करने की कथा मिलेगी। फिर धीरे धीरे यह कठिनाई बढ़ती जायगी और पीड़ा भी प्रतीत होने लगेगी। रोगी गले में अवरोध की स्थिति को ठीक ठीक इंगित कर सकेगा। परीक्षा करने पर ग्रीवा में बढ़ी हुई लसीका ग्रन्थियाँ प्रतीत होंगी। यकृत बढ़ा हुआ मिल सकता है जिसका अर्थ है कि उसमें कैंसर का प्रसार हो चुका है। आमाशय से ग्रासनाल में कैंसर के प्रसार की संभावना हो सकती है।

एक्स-रे चित्रण—बेरियम सल्फेट का गाढ़ा घोल खिला कर ग्रासनाल के चित्र लिये जाते हैं। प्रायः अर्बुद क्षेत्र में ग्रासनाल एक संकुचित नलिका सी दीखता है जिसकी सीमा की रेखाये क्रमहीन या खुरदुरी दीखती हैं। और उससे ऊपर का भाग विस्तृत होता है जिसमे बेरियम या खाये हुये आहार का कुछ भाग जमा रहता है।

दर्शक यन्त्र द्वारा अर्बुदस्थान दिखाई देता है जहा से कुछ भाग ऊतक परीक्षा के लिये काटा जा सकता है।

चिकित्सा—निदान और स्थिति का निश्चय करने के पश्चात् गंभीर एक्स-रे चिकित्सा (deep X'ray therapy) प्रथम साधन है। ग्रीवा मे स्थित ग्रासनाल के अर्बुद मे यही उपयुक्त चिकित्सा है। इसके परिणाम अन्यत्र शस्त्रकर्म से कम सफल नहीं होते। ३ से ५ वर्ष तक के लिये रोगी रोगमुक्त जीवन व्यतीत कर सकता है। ग्रासनाल के वक्षीय तथा औदरिक भाग में शस्त्रकर्म करके रोग ग्रस्त भाग का उच्छेदन करना ही आवश्यक होता है। जो ग्रासनाल का शेष भाग रह जाता है उसको आमाशय या आन्त्र के साथ जोड़ दिया

जाता है। कभी कभी समस्त ग्रासनाल का उच्छेदन करके नया ग्रासनाल बनाना पड़ता है।

ग्रासनाल का समय समय पर जल स्थिति थैले (hydrostatic bag) या किसी प्रसारक यन्त्र द्वारा प्रसार (dilatation) करना उसके शारीरिक पोषण के लिये आवश्यक है। सूटर (Souttar) नलिका को आमाशय में प्रविष्ट करके भी छोड़ दिया जाता है और उसके द्वारा आहार पहुँचाते रहते है। रोगी की क्षीणता को जो आगे चल कर बहुत बढ जाती है, दूर करने के लिये रोगी को पर्याप्त पोषण पहुँचाते रहना बहुत आवश्यक है। उपयुक्त पोषण द्वारा ही रोगी को शस्त्र कर्म के योग्य बनाया जा सकता है। कितने ही रोगियों की दशा दीर्घकाल तक उपयुक्त पोषण द्वारा उत्तम बनी रहती है।

आमाशय के रोग

आमाशय शरीर में उदर के ऊपरी भाग मे बाई ओर स्थित है। यह एक खोखला थैला है जिसका काम ग्रासनाल के हृद् द्वार से आये हुवे आहार को एकत्र करना है। ४ घण्टे के लगभग आहार आमाशय मे एकत्र रहता है इस कारण हमको केवल ३ या ४ बार भोजन करना पड़ता है। जिन दशाओं में आमाशय का सम्पूर्ण उच्छेदन करना पड़ता है और ग्रासनाल के अन्त को आन्त्र से जोड़ दिया जाता है तो रोगी को थोड़ें-थोड़े समय पर आहार देना होता है।

आमाशय में गतिया होती रहती हैं। किन्तु सारे आमाशय में एक समान नहीं होतीं। हृद् द्वार के पास के भाग में जो हृद् प्रान्त (cardiac end) कहलाता है उसमें गतियाँ बहुत कम होती हैं। यह भाग विशेपतया भंडार की भाति काम करता है जहां आहार एकत्र रहता है। हृद् प्रान्त का अगला भाग, जो काय (body) या बुध्न (fundus) कहलाता है उसमे भी गतिया अधिक नहीं होती। इससे अगला जो लम्बा और कुछ नली के समान पायलोरस (pylorus) भाग है उसमे तीव्र और प्रबल गतिया होती हैं जो भीतर स्थित आहार को मथ सा देती हे। ये **मन्थन** गति (churning movements) कहलाती हैं। ये गतिया तीन दिशाओं मे स्थित उन पेशी सूत्रों के संकोच का परिणाम होती हें जो आमाशय को घेरे हुवे हें। आमाशय के चिकने बहिस्तर को हटाने पर कुछ पेशी सूत्र उसके विशेषकर पायलोरस भाग की चौड़ाई की दिशा में, ऊर्ध्व या लघुधारा से बृहद् धारा (सामने की ओर) और बृहद् धारा से लघुधारा (पीछे की ओर) तक, जाते हुवे दिखाई देंगे। ये वृत्ताकार सूत्र (circular fibres) कहलाते हैं। अनुदैर्घ्य (Longitudinal) सूत्र काय या बुध्न की ओर से पायलोरस-प्रान्त को जाते हैं। और तिर्यक् (oblique) सूत्र तिर्यक् दिशा मे ऊर्ध्व धारा से अधोधारा या अधोधारा से ऊर्ध्वधारा तक टेढ़े टेढ़े चले जाते हैं। इस प्रकार इनका बाहुल्य विशेपतया पायलोरस प्रान्त में देखा जाता है। जब ये सब संकोच करते हे तो भीतर स्थित आहार के कण और आमाशय रस के पैप्सिन (pepsin) और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का भली भाति सम्पर्क हो जाता है। आहार के कण और ये रस आपस मे इस प्रकार मिल जाते हे कि प्रत्येक कण पर पाचक रस की क्रिया होती हे।

ये गतिया मस्तिष्क के अधीन हैं और परानुकम्पी तन्त्र (parasympathetic system) वागस नाड़ी द्वारा उनका नियन्त्रण करता है। यदि,

वागस (१० वी कपाली नाडी) को काट दिया जाय तो गतियां बन्द हो जॉयगी । एट्रोपीन के समान परानुकम्पी तन्त्र की ह्रासक औषधियों द्वारा इन गतियों को कम किया जा सकता है। इसके विरुद्ध कोलीन या परानुकम्पी तन्त्र की उद्दीपक औषधिया गतियो को बढा देती है ।

आमाशय का दूसरा काम आमाशय या जठर रस को उत्पन्न करना है। इसमे तीन वस्तुएँ होती है । पैप्सिन, हाइड्रोक्लोरिक अम्ल और म्यूसिन ।

म्यूसिन की उत्पत्ति श्लैष्मिक कला की कोशिकाओं द्वारा होती है। जब आहार के कण कला की ऊपरी कोशिकाओं से रगड़ते हैं तो वे उत्तेजित होकर म्यूसिन को उत्पन्न करती हैं जो आहार को स्निग्ध बना देती हैं ।

पैप्सिन की उत्पत्ति परानुकम्पी तन्त्र के द्वारा नियन्त्रित है। वागस को उत्तेजित करने से पैप्सिन का उद्रेक बढ़ जाता है। वागस को काट देने से उत्पत्ति बन्द हो जाती है। पैप्सिन को उत्पन्न करना एक विशेष कोशिका-समूह का काम है ।

हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की उत्पत्ति उन कोशिकाओं का काम है जिनको Parietal cells कहते है। यह भी वागस नाड़ी द्वारा नियन्त्रित मालूम होती है तथा कोई हारमोन नाडी (hormone) भी इसकी उत्पत्ति को प्रभावित करती है। वागस का उत्तेजन तथा उसका ह्रास करने से अम्ल की उत्पत्ति बढ जाती है या घट जाती है। यह क्रिया पायलोरस द्वारा रस के उद्रेक को बढाने से होती है। आहार वस्तु की उपस्थिति भी अम्ल के उद्रेक को बढाती है। यह माना जाता है कि आहारकणों के आमाशय की श्लैष्मिक कला के सम्पर्क में आने पर एक हारमोन की उत्पत्ति होती है जिसको **गैस्ट्रिन** (gastrin) कहा जाता है जो आम्लिक रस की उत्पत्ति को उत्तेजित करता है। यह भी पाया गया है कि हिस्टामीन रसोद्रेक की प्रबल उद्दीपक है। और बहुत से विद्वान् यह मानते हैं कि हिस्टामीन ही रसोत्पत्ति के लिये उत्तर-दायी है, चाहे वह ग्रैस्ट्रिन की उत्पत्ति द्वारा हो अथवा परानुकम्पी तन्त्र की उत्तेजना द्वारा ।

यह भी समझ लेना चाहिये कि कोशिकाओ द्वारा उद्रेचित अम्लस्राव की सान्द्रता सदा एक समान रहती है। उसकी मात्रा अधिक या कम हो सकती है। किन्तु सान्द्रता नही घटती बढती, सदा एक सी रहती है। यह माना जाता है कि रसोद्रेचक कोशिकाओ की संख्या जितनी अधिक होगी उतनी ही अम्ल की अधिक मात्रा बनेगी, कम होने पर कम बनेगी। किन्तु ऐसा कभी नही होता कि अम्लरस बने ही नही। दुष्ट रक्त क्षीणता मे अवश्य ऐसा होना सम्भव है, किन्तु और किसी दशा मे नही।

ग्रहणी के पैप्टिक व्रण मे सब से अधिक अम्लरस बनता है। सामान्य स्वस्थ दशा में उससे कम और आमाशय के व्रण में उससे भी कम। आमाशय शोथ तथा आमाशय के कैंसर मे भी अम्लोत्पत्ति विशेषतया कम हो जाती है।

इन अवयवो के अतिरिक्त जठररस मे एक अन्तस्थ अवयव (intrinsic factor) भी होता है जो रक्तोत्पत्ति (haemopoesis) की शक्ति प्रदान करता है। यह किन कोशिकाओं द्वारा तैयार होता है इसका अभी तक पता नहीं लगा है। किन्तु यह भली भाति प्रमाणित हो चुका है कि सामान्य (normal) रक्तोत्पत्ति के लिये यह अवयव अनिवार्य है। इतना मालूम हो गया है कि इसकी उत्पत्ति आमाशय के काय और बुध्न भागों मे होती है।

आमाशय के रोगों का अन्वेषण

यह पाँच प्रकार से किया जाता है :—

१. रोगी की दैहिक परीक्षा
२. एक्स-रे द्वारा
३. दर्शक यन्त्र द्वारा
४. प्रायोगिक परीक्षाये और
५. ऊतक परीक्षा (Biopsy)

१. **दैहिक परीक्षा** विशेष लाभ की नही होती। रोगी का इतिहास व उसका अपनी व्यथा का कथन परीक्षा की अपेक्षा अधिक प्रकाश डालता है। दैहिक परीक्षा से विशेष स्पर्शासहता की स्थिति का ज्ञान हो जाता है। यदि आमाशय के काय या पायलोरस में कोई अर्बुद पिंड होता है तो वह परिस्पर्शन द्वारा प्रतीत हो जाता है। आमाशय की सीमा का भी कुछ अनुमान किया जा सकता है। हां तीन लक्षण ऐसे हैं जो विशेष सूचना दे सकते हैं। वे ये हैं :—

अ. **अंगुलि सूचक चिह्न**—रोगी अपनी अंगुलि से ठीक ठीक उस स्थान को इंगित करता है जहाँ उसको सबसे अधिक पीड़ा का अनुभव होता है। वह स्थान आमाशय के व्रण की स्थिति का सूचक है।

क. पेशीकाठिन्य—पहले कहा जा चुका है कि पेशीकाठिन्य पर्युदर्या कला के शोथ का परिणाम होता है। सामान्य पर्युदर्या शोथ में सारी उदरभित्ति कठिन और स्थिर हो जाती है किन्तु एकदेशीय या स्थानिक शोथ से जैसा आमाशय या ग्रहणी के व्रण से हो जाता है पेशी काठिन्य की भी परिमित स्थिति होगी। रोगी के सारे उदर को उत्तम प्रकाश मे एक ओर से ध्यान पूर्वक निरीक्षण करना चाहिए। संभव है किसी विशेष स्थिति पर उदर भित्ति स्थिर और कठिन प्रतीत हो। यदि एक ओर की सरला (rectus) पेशी कठिन हो, और स्थिर हो तो वह व्रणजात पर्युदर्या शोथ का फल है।

च. आंत्रगति की तरंगें—अधिजठर (epigastrium) में बाँये से दाहिनी ओर को जाने वाली आंत्रगति तरंगें ग्रहणी के व्रण से उत्पन्न हुई संवृत्ति (stenosis) के कारण पायलोरस के अवरोध या बद्धान्त्र (obstruction) की सूचक है।

तरंगों को देखने के लिये सावधानी की आवश्यकता है। रोगी पीठ के बल लेटा हो, उदर पूर्णतया खुला हो, चिकित्सक एक ओर रोगी के समतल बैठा हो और दूसरी ओर से उदर पर पूर्ण प्रकाश पड़ रहा हो। तब चिकित्सक अधिजठर प्रान्त मे देखे कि कुछ तरंगो का बाँये से दाहिने को तो प्रवाह नही हो रहा है। वहाँ की त्वचा को अंगुली और अंगूठे के बीच हल्के से नोचकर छोड देने से तरंग स्पष्ट हो जाती है।

२. बेरियम खिला कर आमाशय तथा ग्रहणी का भिन्न भिन्न दिशाओं मे चित्रण से पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है। व्रण मे व्रणों के मुख (craters) तथा निशे (niche) स्पष्ट दिखाई देते हैं। अर्बुद की उपस्थिति पूर्णता-त्रुटि (filling defect) से मालूम होती है। आमाशय मे अर्बुद के स्थान मे बेरियम न भरने से चित्र मे उस स्थिति मे कोई छाया नहीं आती और आमाशय या ग्रहणी अपूर्ण दिखाई देते हैं। ग्रहणी शिखर की विकृति ग्रहणी के व्रण या कैंसर की सूचक है।

एक्स-रे चित्रों को समझने और उनका अर्थ निकालने के लिये अध्ययन, अभ्यास और अनुभव की आवश्यकता है। कितनी ही दशाओं मे अनुभवी भी चक्कर मे पड़ जाते हैं।

३. अन्तर्दर्शन (endoscopy)—कुछ ऐसे आमाशय दर्शक (Gastroscope) यंत्र आते हैं जिनका अगला भाग जो आमाशय के भीतर प्रवेश करता है वह लचकीला होता है। उसके द्वारा अनुभवी चिकित्सक आमाशय के भीतर की विकृति को भली भाति देख सकता है। न केवल यही, उसके द्वारा अर्बुद, यदि वहाँ हो तो, उसका छोटा टुकड़ा भी ऊतक परीक्षा के लिये काटा जा सकता है। इस यंत्र से बड़ी ही उपयोगी सूचना मिल जाती हैं जो अन्य किसी परीक्षा या प्रयोगशालाओं की विधियो द्वारा नही प्राप्त होती। चिकित्सक स्वयं देख लेता है कि आमाशय के भीतर क्या हो रहा है जिससे रोग की उस अवस्था का जिसकी उसको चिकित्सा करनी है, उसके सामने एक चित्र खिंच जाता है। दूसरे प्रकार के यन्त्रो मे सीधी धातु की नली होती है।

४. रासायनिक परीक्षायें—आमाशय रस के रासायनिक रूप, उसके अवयवों की अधिकता या न्यूनता, उनकी उत्पत्ति आदि का इन परीक्षाओं द्वारा पता लग जाता है। आमाशय के रोगों मे रस के आम्लिक भाग मे अवश्य

घटा बढी हो जाती है जिससे रोग निदान मे सहायता मिलती है। इससे अम्ल जनक कोशिका समूह (secreting cell mass) का अनुमान हो सकता है। इससे आमाशय के उच्छेदक शस्त्र कर्मों की आवश्यकता या अनावश्यकता का निर्णय करने मे सहायता मिलती है।

५. उतक परीक्षा से निर्णय हो जाता है कि अर्बुद किसी प्रकार का कैंसर है अथवा किसी अन्य प्रकार का अर्बुद है। इस प्रयोजन से आमाशय के भीतर की कला या अर्बुदपिंड का एक टुकड़ा दर्शक यन्त्र द्वारा काट कर उसकी परीक्षा तुरन्त कर ली जाती है।

पैप्टिक व्रण

आमाशयिक पाचक रस मे उपस्थित किण्व पैप्सिन और हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का कर्म प्रोटीन का पाचन है। उनकी क्रिया से मास गल कर पैप्टोन बन जाता है। आमाशय के पाचन का यही रूप है।

ग्रासनाल के अधोप्रान्त, आमाशय, तथा ग्रहणी मे पैप्सिन+हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की श्लेष्मल कला पर पाचक क्रिया से व्रण उत्पन्न हो जाते हैं। ये ही पैप्टिक व्रण कहलाते हैं। प्रश्न यह उठता है कि साधारण स्वस्थ आमाशय की श्लैष्मिक कला पर पैप्सिन+अम्ल की पाचक क्रिया क्यों नही होती। ऐसे व्रणों की उत्पत्ति प्रत्येक व्यक्ति मे और सदा नही होती। केवल कुछ विशेष दशाओं में होती है। अतएव यह मानना पड़ता है कि इन अगों की श्लेष्मल कला मे पैप्सिन तथा अम्ल के प्रतिरोध की कोई विशेष शक्ति है। उसमे रस के अम्ल की क्रिया के निराकरण का कोई विशेष साधन है।

किन्तु अभी तक ऐसे किसी साधन या शक्ति का पता नही लगा है। तो भी समय समय पर कई सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये है। कुछ ने प्रतिरोध के कारणों से श्लेष्मल कला को ही युक्त माना है। कुछ बाहरी कारणों को मानते हैं। भीतरी कारण ये है :—

१. श्लेष्मा (mucus)—अम्ल की क्रिया के प्रतिरोध का पहला साधन श्लेष्मा है जिसको आमाशय की श्लेष्मल कला बनाती रहती है। यह अम्ल की पाचक क्रिया से कला की रक्षा करता है। श्लेष्मल कला की कोशिकाओं की उत्पत्ति भी शीघ्रता से होती है।

२. कुछ विद्वान आमाशय की श्लैष्मिक कला के पोषण पर विशेष महत्व देते हैं। उनका मत है कि जब तक कला का उत्तम पोषण होता है वह दृढ बनी रहती है और तब तक वह अम्ल की क्रिया नही होने देती। जब उसके पोषण मे त्रुटि आ जाती है तो वह अम्ल के द्वारा वध्य हो जाती है।

३. रक्त संभरण की कमी के कारण, जैसा वहाँ की किसी रक्तवाहिका में रक्तातंचन (thrombosis) आदि से हो सकता है, व्रण की उत्पत्ति का मत बहुत समय तक प्रतिपादित होता रहा है। इसकी संभावना अवश्य हो सकती है। किन्तु इसके भी कोई प्रमाण नहीं मिले हैं। फिर थोड़ी आयु वाले व्यक्तियों मे रक्त अवरोध की संभावना मानना भी संगत नहीं है।

४. हारमोन की कमी—हारमोन का व्रणोत्पत्ति से कुछ संबंध अवश्य मालूम होता है। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों मे व्रणोत्पत्ति विशेषतया कम होती है। फिर गर्भावस्था मे तो पुराने व्रण भी भर जाते हैं। रोगिणी नीरोग हो जाती हैं। इससे विद्वानों का हारमोनों की ओर ध्यान गया और उन्होंने ऐसे हारमोन को खोजने का प्रयत्न किया जिससे व्रणों का आरोह न हो। किन्तु अभी तक किसी विशेष हारमोन का पता नहीं लगा है।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी बाहरी बातें अवश्य हैं जिनका व्रणोत्पत्ति पर प्रभाव पड़ता है। निम्न लिखित बातों का इस विषय के संबंध में विचार संगत है।

अ. **मानसिक चिन्ता**—इसमे तनिक भी सन्देह नहीं है कि मानसिक उद्वेग व्रणोत्पत्ति का कारण होते हैं। व्यवसाय की चिन्ता, आर्थिक चिन्तायें, परीक्षा की चिन्ता, यहाँ तक कि भावी आपरेशन की चिन्ता से व्रण उत्पन्न होते देखे गये हैं। विद्वान इस का कारण कार्टिसोन की अति उत्पत्ति मानते हैं। चिन्ता या विषाद की अवस्था मे अधिवृक्कों मे कार्टिसोन की उत्पत्ति अधिक हो जाती है जो आमाशय में पाचक रस के उद्रेक को बढ़ाती है और व्रणों के उत्पन्न होने की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है। इससे यह मत संगत मालूम होता है कि मानसिक उद्वेग अधिवृक्क के द्वारा आमाशय मे व्रणोत्पत्ति का कारण होता है।

ब. **आनुवंशिकता**—वंशपरम्परा भी इस रोग की उत्पत्ति में कुछ भाग लेती मालूम होती है। यह पाया जाता है कि इस रोग से ग्रस्त माता पिता की सन्तान मे भी इस रोग की प्रवृत्ति होती है। ग्रहणी के व्रणों से ग्रस्त पिता की सन्तान को ग्रहणी के व्रण होते हैं। यदि माता पिता को आमाशय के व्रण हुए हैं तो सन्तान को भी आमाशय ही के व्रण होते हैं।

क. **मौसम** के साथ भी संबंध पाया जाता है। इंग्लैंड मे इस रोग से सब से अधिक मृत्यु अगस्त और सितंबर मे होती है। अक्टूबर से फिर मृत्यु संख्या बढ जाती है। कहा जाता है कि लक्षणो की पुनरावृत्ति भी होने लगती है। फरवरी मार्च मे सब से अधिक हो जाती है।

विकृति—लक्षणों के वर्णन के पूर्व यह समझ लेना चाहिये कि व्रण क्या होता है। उसके लक्षण आकार, रूप, स्थिति आदि ही से उत्पन्न होते हैं।

व्रण साधारण घाव की भाति होते हैं जिनमे उस स्थान की वस्तु गल कर निकल जाती है। इस कारण श्लैष्मल कला का कुछ भाग अनुपस्थित होता है। उसके नीचे के अधोश्लेष्मिक स्तर तथा पेशी स्तर अनाच्छादित दिखाई देते हैं। संभव है पेशी स्तर का कुछ भाग भी गल कर अनुपस्थित हो गया हो और व्रण का शिखर (apex) सीरीय स्तर पर हो।

गहराई में व्रण एक कोण की भाति होता है जिसका तल ऊपर श्लैष्मिक कला पर और शिखर बाहर या पेशीस्तर पर या उससे भी बाहर सीरीय स्तर पर रहता है। अतएव गहराई की ओर उसका विस्तार कम होता जाता है। वह शिखर पर केवल एक बिन्दु सरीखा हो सकता है।

व्रण दो प्रकार के होते हैं। एक उग्र (acute) और दूसरे जीर्ण (chronic)। ऊपर जो वर्णन किया गया है वह एक उग्र व्रण का है। उग्र व्रण गहरे और प्राय: एक से अधिक तथा परिमित आकार के होते हैं। वे पिन के शिर के समान आकार के हो सकते हैं। इसके विरुद्ध जीर्ण व्रणों की गहराई अधिक नही होती। किन्तु विस्तार अधिक होता है। वे अधिकतर पेशीस्तर तक परिमित होते हैं यद्यपि उनके द्वारा पेशी और उससे बाहर सीरीय स्तर तक का विदार (perforation) संभव है। ऐसे स्तरों के किनारे प्राय: मोटे और उभरे हुए होते है। अधोश्लेष्मल स्तर के विस्तृत नाश से इनसे रक्तस्राव अधिक होता है। इनकी स्थिति ऊर्ध्व धारा (लघु वक्रता) पर या उसके समीप और इससे कम पायलोरस के पास होती है। उग्र व्रण प्राय. इन स्थितियो में नही पाये जाते।

रोग के लक्षण, चिह्न तथा परीक्षायें

लक्षण—इस रोग का मुख्य लक्षण पीड़ा है जैसा पहले कहा जा चुका है। किन्तु पीड़ा प्रतीत होने के कितने ही समय पूर्व से, छै मास से या १, २ वर्ष पूर्व से रोगी को अग्निमांद्य या अपच जिसको बदहजमी (dyspepsia) कहते हैं, का कष्ट रहता है। इसका इतिहास जानना बहुत आवश्यक है। पीड़ा की तीव्रता को जानने के लिये यह भी पूछना चाहिये कि उसको वास्तव में पीड़ा प्रतीत होती है या केवल बेचैनी मालूम होती है। वमन भी होता है जिनमे रक्त आ सकता है। अन्त मे विदार तक हो जाता है जो जीवन संकट उपस्थित कर देता है।

आमाशय और ग्रहणी दोनों के व्रणों के मुख्य लक्षण और चिन्ह बहुत कुछ समान होते हैं। इस कारण उनके वर्णन के पश्चात् दोनों के भेदों का उल्लेख किया जायगा।

अग्निमांद्य—रोग अग्निमाद्य से प्रारंभ होता है जो बहुत काल तक बना रहता है। प्रथम अग्निमाद्य के आक्रमणों के बीच में दीर्घकाल का अन्तर रहता है और आक्रमण काल मे भी पीड़ा नही होती। केवल असुविधा या बेचैनी उदर के ऊपरी भाग मे बाई या दाहिनी ओर प्रतीत होती है। कुछ समय पश्चात् आक्रमणों का अन्तर्काल कम होने लगता है और असुविधा भी बढ़ कर पीड़ा का रूप ले लेती है। अन्त मे अग्निमाद्य और पीडा दोनों ही संतत हो जाते है, सदा बने रहते है। प्रारम्भ में अन्तर्काल में रोगी सब कुछ खा-पी सकता है। उसको कोई हानि नहीं प्रतीत होती। अग्निमाद्य के आक्रमणो की पुनरावृत्ति के कारण का कुछ भी पता नहीं लगता। अग्निमाद्य के साथ हृद्दाह भी हो सकता है।

पीड़ा—उदर के ऊपरी भाग अधिजठर में प्रायः पीड़ा प्रतीत होती है। वह पीठ मे दोनो स्कधास्थियों के बीच के स्थान मे प्रतीत हो सकती है या वक्ष के निचले भाग में अन्तर्पर्शुका स्थानो मे। प्रायः पीड़ा उन स्थानों में मालूम होती है जिनमे नाड़ी-संभरण मेरुरज्जु के ५ से ८ वे खंडों से निकलने वाली नाड़ियो द्वारा होता है। किन्तु यदि (.; मे पीड़ा ऊपरी भाग से बढकर नीचे कटि प्रान्त मे भी मालूम होने लगे तो उससे समझना चाहिये कि उदर मे स्थित अन्य अग अग्न्याशय आदि भी व्रण द्वारा लिप्त हो रहे हैं।

पीड़ा का आहार से संबंध जानना भी आवश्यक है। आमाशय के व्रण में पीडा आहार के पश्चात् शीघ्र ही होती है। कभी कभी आहार से पहिले भी होती है। ग्रहणी के व्रण मे पीड़ा प्राय' रात्रि मे आहार के कई टे पश्चात् होती है। यह ग्रहणी व्रण का विशिष्ट लक्षण है। आहार से यह पीड़ा शान्त हो जाती है।

वमन आमाशय के व्रण मे अधिक होता है। ग्रहणी के व्रण मे कम होता है। वमन से भी पीड़ा कम या शान्त हो जाती है। प्रत्यम्लों (antacids) की क्रिया से भी अम्ल के निराकरण द्वारा पीड़ा जाती रहती है।

व्रण से **रक्त स्राव** हो सकता है। ऐसी दशा मे वमन मे रक्त मिला रहता है। जो रक्त व्रण से निकलने पर तुरन्त ही वमन द्वारा बाहर आ जाता है वह चमकता हुआ लाल होता है। आमाशय के उग्र व्रण से ऐसा ही रक्त निकलता है। किन्तु जो रक्त कुछ समय तक आमाशय में रहने के पश्चात् वमित होता है उसका रंग बदल जाता है, ईंट के समान लाली ले लेता है। रक्त का वमन मे आना या न आना तथा उसकी मात्रा व्रण द्वारा फट जाने वाली रक्तवाहिका (blood vessel) पर निर्भर करती है।

यदि वाहिका बड़ी है या कई वाहिकाये फट या खुल गई है जैसा जीर्ण व्रणों में बहुत बार होता है तो रक्त की मात्रा अधिक होगी। उग्र व्रण इतना छोटा हो सकता है कि उससे तनिक भी रक्त स्राव न हो। जीर्ण व्रण मे केशिकाओ के नष्ट होने से रक्त धीरे धीरे आमाशय मे एकत्र होने के कुछ समय पश्चात् जब उसकी मात्रा अधिक हो जाती है तब रंग बदल कर बाहर आता है।

यदि वमन बहुत काल तक होते रहें और रोगी के स्वास्थ्य में क्षीणता न दिखाई दे तो वह वमन मानसिक कारणो से है।

चिह्न :—चिह्नों का पहिले वर्णन किया जा चुका है। अंगुलिसूचक चिह्न, उदरपेशी काठिन्य और आन्त्रगति की तरंगों का दर्शन, यदि ये तीनों चिह्न उपस्थित हों तो व्रण निश्चित है। अंगुलि सूचक चिह्न अत्यन्त विश्वसनीय चिह्न है।

ऐक्स-रे चित्रण—बेरियम सल्फेट का घोल खिलाकर कई दिशाओं मे चित्र लिये जाते हैं जिनमें जीर्ण व्रणों के 'निशे' लघु वक्रता पर अवश्य ही दिखाई देते हैं। उग्र व्रण प्रायः नहीं मालूम पड़ते। कभी कभी 'निशे' काफी बड़े होते हैं और उनमे विकृति भी अधिक होती है। उनमे द्रव-स्तर (fluid level) उपस्थित होता है। निशे व्रण का निश्चित द्योतक है और वे लघु वक्रता पर पाये जाते है।

ग्रहणी के व्रणों के प्रदर्शन करने के लिये एक्स-रे कोविद को चतुर कलाकार होना आवश्यक है। व्रणो को पहिचानना उसकी पटुता पर निर्भर करता है। बेरियम जब ग्रहणी में होकर निकलता है तो वह प्रतिदीप्तिदर्शक पट (fluoroscopic screen) द्वारा रोगी को एक्स-रे यंत्र के सामने खड़ा करके रोगी के ग्रहणी प्रान्त का निरन्तर निरीक्षण करता रहता है और रोगी को घुमा-घुमा कर किसी भी दिशा मे 'निशे' को देखने का प्रयत्न करता है। ज्यो ही 'निशे' दिखता है उसी स्थिति का वह चित्र ले लेता है। बहुत बार व्रण के मुख (crater) से चारों ओर को पहिये के धुरे से जाते हुये अरहो के समान बेरियम की 'छाया की सिलवटें या धाराये दिखाई देती हैं। ये जीर्ण व्रण के कारण उसके मुख के चारों ओर के ऊतक मे सिकुड़ने पड़ जाने से बन जाती है।

ग्रहणी का शिखर (duodenal cap) विशेष ध्यान देने योग्य है। जीर्ण व्रण के कारण उसका आकार विकृत हो जाता है। जीर्ण व्रण से विकृति स्थायी हो जाती है। उसके ऊतक मे सिकुड़ने पड़ जाती है और वह सदा संकुचित दशा (आक्षेपक, spasm) मे रहता है। इससे उसका आकार विकृत दिखाई देता है।

अन्तर्दर्शन—इसका विशेष प्रयोजन यह है कि व्रण के घातक (malignant) रूप लेने या उससे मुक्त रहने का पता चल जाता है जिससे चिकित्सा का भावी क्रम निर्धारित किया जा सकता है। लघुवक्रता और आमाशय के भीतर पश्चिम पृष्ठ के निचले भाग में स्थित व्रण सहज मे दिखाई दे जाते हैं। किन्तु ऊपरी भाग मे तथा पायलोरस के व्रणो को देखना कठिन होता है।

अव्यक्त रक्त—वमन मे तथा मल मे रक्त ऐसी दशा मे उपस्थित हो सकता है कि वह दिखाई न दे। केवल उसके अवयव उपस्थित हो। रासायनिक परीक्षा से ऐसे रक्त की उपस्थिति मालूम की जा सकती है।

लोहिताणु तिलछटन दर (Erythrocytic sedimentation)—इस परीक्षा से व्रण के आरोहन तथा उसके घातक रूप में परिवर्तन होने का अनुमान किया जा सकता है। सामान्य पैप्टिक व्रण मे यह दर सामान्य होती है। व्रण के चारो ओर शोथ अधिक होने से तथा व्रण के घातक अर्बुद मे परिवर्तित हो जाने से यह दर बढ जाती है। शोथ ज्यो ज्यो कम होता है त्यों त्यो यह दर कम होती जाती है। अतएव यदि दर ऊंची हो और वैसी ही बनी रहे तो समझना चाहिए कि या तो व्रण ने घातक रूप धारण कर लिया है या कुछ ऐसी दशायें उपस्थित हैं जो व्रण के आरोहन की रोधक हैं।

रोग निश्चिति प्रायः सहज होती है। रोगी का इतिहास, पीड़ा की स्थिति तथा आहार से सम्बन्ध, अंगुलि सूचक चिन्ह, ऐक्सरे चित्रण, ये सब रोग निश्चिति को निस्सन्देहात्मक कर देते हैं।

तो भी एक दो ऐसी दशाये है जिनसे भ्रम उत्पन्न हो सकता है। पायलोरस-जठर शोथ (Pyloric gastritis) जिसके लक्षण ठीक आमाशय व्रण के समान होते हैं उसको विद्वान् एक पृथक् रोग मानते हैं। ग्रहणी शोथ और कभी कभी व्रण के लक्षण वैसे ही होते हैं जैसे आमाशय व्रण के। मानसिक अग्निमाद्य के लक्षणों से इन रोगों की साम्यता हो सकती है।

इन सब का विचार कर लेने पर रोग निश्चिति विशेषतया कठिन नही होती। हॉ यदि व्रण की स्थिति आमाशय के उच्च भाग मे है तो उसके लक्षणों का ग्रासनाल के निचले प्रान्त के शोथ के लक्षणों से भेद करना दुस्तर हो जाता है।

चिकित्सा

१. विश्राम—पूर्ण विश्राम आवश्यक है। यदि घर पर ही रोगी चिन्ता से मुक्त हो कर पूर्ण विश्राम कर सकता है तो वह घर ही पर रहे। वह शैयारूढ और चिन्ता या विषाद मुक्त हो कर रहे। वह शौच या स्नान के लिये उठ कर जा सकता है। किन्तु शेष समय अपने व्यवसायादि या परिवार सम्बन्धी विचारों से

अपने चित्त को हटाकर लेटा रहे। उससे मिलने वालों की संख्या जितनी भी घटाई जा सके उत्तम है और जो उससे मिलने आवे वे उससे व्यवसाय सम्बन्धी या उन प्रश्नों के सम्बन्ध में बात न करें जो उसके रोग की उत्पत्ति मे सहायक हुए हैं।

यदि यह सब घर पर सम्भव न हो तो रोगी को अस्पताल में किसी उपयुक्त कमरे मे रखना ही उत्तम होगा। वहां उसकी परिस्थिति पूर्णतया बदल जायगी और सेवा-शुश्रूषा भी उत्तम हो सकेगी। तथा उसका जीवन भी अधिक नियमित हो सकेगा। यदि पीड़ा अधिक हो और पेशी-काठिन्य भी विशेष हो तो विदार की भावी संभावना को न भूलना चाहिये। ऐसी दशा मे अस्पताल में रोगी को रखना ही श्रेयस्कर है।

२. आहार—इस रोग में प्राचीनकाल से मसृण अथवा अक्षोभक (Bland) आहार की थोड़ी थोडी मात्रा अनेक बार देने की प्रथा चली आई है। इस बात का अभी तक कोई प्रमाण नहीं मिला है कि इस प्रकार के आहार मे कोई विशेष लाभ होता है या व्रणो के आरोहण में कोई सहायता मिलती है। इसके विरुद्ध प्राय ऐसा आहार रोगी को रुचिकर नहीं होता और उसके द्वारा उसको पर्याप्त पोषण भी नहीं पहुँचता जिससे वह क्षीण और दुर्बल हो जाता है।

रोगी को पर्याप्त पोषणयुक्त आहार पहुँचाना बहुत आवश्यक है। वह २६०० केलोरी मूल्य का (२४ घटे मे) अवश्य हो और उसमे विटामिन भी उपयुक्त मात्रा में उपस्थित हो। विटामिन सी अर्थात् एस्कौर्बिक अम्ल १०० मिली ग्राम प्रतिदिन अवश्य दिया जाय। सन्तरे या टमाटर के जूस मे विटामिन सी प्रचुर मात्रा में होती है। किन्तु टमाटर का जूस अम्लयुक्त होता है।

रोगी के लिये दूध अत्युत्तम वस्तु है। दिनरात में २½ सेर दूध देना उपयुक्त है। इसको रुचिकर रूपों में दिया जाय। उसको आइसक्रीम, फलो की क्रीम के साथ सलाद, चावल को पीस कर और दूध मे उबाल कर फिरनी बनाकर तथा कुलफी या मलाई के रूप में दिया जाय। अथवा ओट या बारले या मकई का दूध में पौरिज बनाकर दिया जा सकता है। बिस्कुट, और डबल रोटी के टुकड़े मक्खन लगाकर दिये जॉय। जो मास, अंडा, मछली आदि खाते हैं उनको ये भी थोड़ी मात्रा मे दिन मे एक या दो बार दिये जा सकते हैं। किन्तु मास या मछली के टुकड़े नरम हों, उनमे यदि कोई कडा भाग हो तो निकाल दिया जाय।

रोगी को पर्याप्त पोषण पहुँचाना प्रथम प्रयोजन है। उसमे केवल इतना

ध्यान रखना आवश्यक है कि आहार मे कोई कड़ा भाग उपस्थित न हो। वह पूर्णतया मसृण, एकरस और स्निग्ध हो। आमाशय की भित्तियां उससे दबे नही। तथा उसमे मसाला, मिर्च आदि जितना भी कम हो उत्तम है। आलू उबाल कर और मक्खन या घी मिलाकर तावे पर भून कर उसे स्वादिष्ट बनाकर रोगी को दे सकते हैं। किन्तु आलू के टुकड़ों से उसको हानि पहुँच सकती है। इसी प्रकार कड़े-हरे फल सेव, अमरूद, खुबानी आदि को भाप मे गलाकर (steaming) और उनके बीजों को निकाल उसे एकरस बनाकर रोगी को देने से कोई हानि नही हो सकती। वे बहुत लाभदायक होते हैं। शाकों का गाढा सूप बनाकर और चलनी या मलमल द्वारा छान कर उसमे हलका नमक मिलाकर और छोंक कर देने मे कोई आपत्ति नही हो सकती। संक्षेपतः उनको सब ही आहार पदार्थ दिये जा सकते हैं यदि वे एकरस, स्निग्ध, मसृण और कड़े भागों से पूर्णतया मुक्त हो। जो पदार्थ उसके लिये हानिकारक होने से निषिद्ध है उनका यहा उल्लेख किया जाता है। वे निम्नलिखित हैं—

कड़ी या गाढ़ी चाय। हलकी या पतली चाय दिन में एक या दो बार ली जा सकती है। काफी मे केफीन होने के कारण वह वागस की उत्तेजना द्वारा आमाशय की गतियों को बढाती है जिससे हानि हो सकती है। मद्य तथा मसालेदार सूप, मांससूप विशेषतया निषिद्ध हैं।

हरे शाक, सलाद पत्ती, गाजर, मूली, लौकी, कद्दू आदि इनके टुकड़े, टमाटर।

कच्चे फल तथा शुष्क फल, बादाम, अखरोट, काजू। किशमिश या मुनक्का को उबाल कर भी न दिया जाय। इनका ऊपर का छिलका गलता नही और वह आमाशय मे क्षोभ उत्पन्न कर सकता है।

भुने हुवे आहार पदार्थ सर्वथा वर्जनीय हैं, किसी भी प्रकार के हो भुना हुआ मास-मछली भी देना उचित नही है।

चटनी, अचार, मुरब्बे—ये भी वर्जनीय हैं। कोई भी कड़ी वस्तु।

३. औषधिया—अ. प्रत्यम्ल (antacids)—आमाशय रस के अम्ल का निराकरण करने के लिये इनका सदा से प्रयोग होता आया है। सोडियम-बाई-कार्बोनेट, कैलसियम कारबोनेट, मैगनेशियम आक्साइड, बिस्मथ कार्बोनेट, एल्यूमिनियम हाइड्रोक्साइड तथा मैगनेशियम ट्राईसिलिकेट इनका उपयोग किया जाता है। इनमे से सोडियम बाई-कार्बोनेट के समान अवशोष्य योगों के प्रयोग से शरीर मे अतिक्षारीयता (alkalosis) हो जाने का डर रहता है।

आज कल अन्य योगों की अपेक्षा ऐल्यूमिनियम हाइड्रोक्साइड और मैगनेशियम ट्राइसिलिकेट का अधिक उपयोग किया जाता है। ऐल्यूमिनियम हाइड्रोक्साइडका गैल (Gel) बनाया जाता है। इसी रूप में यह शीशियों में भरा हुआ (Aludrox) बाजार में बिकता है। इसके ४ से ८ मिलीलिटर (सी. सी.) प्रत्येक २ से ४ घंटे पर दिये जाते हैं। इसकी विशेषता यह है कि वह आमाशय रस के अम्ल की क्रिया के ph मूल्यांक को ४·० से अधिक नहीं बढ़ने देता। और इतने मूल्यांक पर पेप्सिन+अम्ल रस की पाचक क्रिया बन्द हो जाती है। इस कारण यह एक सफल प्रत्यम्ल प्रमाणित हुआ है। यदि इससे कब्ज हो जाय तो लिक्विड पेराफिन द्वारा उसको दूर किया जाय।

मैगनेशियम ट्राईसिलिकेट भी बहुत कुछ ऐल्यूमिनियम हाइड्रौक्साइड के समान क्रिया करता है। १ से ४ ग्राम की मात्रा प्रत्येक दो या चार घटे पर दी जा सकती है। मैगनेशियम ट्राईसिलिकेट, मैगनेशियम कार्बोनेट भारी (Mag. Carb. Ponderosa), खड़िया (chalk medicinal) और सोडियम बाई कार्बोनेट को समान भागों में मिला कर एक चूर्ण बना लिया जाता है। इसको Pulv. mag. carb. co. कहते हैं। उग्र व्रण की अवस्था में इसको एक छोटी चम्मच लेकर, जो लगभग २ ग्राम होता है, प्रत्येक दो घटे पर जल के साथ खिलाया जाय। इसमें उपस्थित सोडाबाईकार्ब० की क्रिया तुरन्त होती है। अन्य अवयवों की धीरे धीरे अधिक काल तक होती रहती है। इसकी टिकिया भी बनी हुई आती हैं। उनको रोगी अपने साथ ले जा सकता है। और आवश्यकतानुसार घंटे घंटे या दो दो घटे पर एक टिकिया को मुंह में रख कर चूस सकता है। इसी प्रकार की एक Nalacin Tablets आती हैं जो कई प्रत्यम्लो और माल्टयुक्त दूध को मिलाकर बनाई जाती हैं। उनका प्रयोग भी हितकर होता है।

जिन रोगियों को इस से भी लाभ नहीं होता उनके जठर-रस के अम्ल के निराकरण के लिये 'संततबिन्दुकविधि' (continuous drip method) से आमाशय मे बूंद बूंद करके ३०० मिलीलिटर में एक ग्राम सोडा बाई कार्बोनेट मिला कर उसको पहुँचाना होता है। यह क्रिया चौबीसों घटे कई दिन तक जारी रखनी पड़ती है। २४ घटे में ३६०० मिलीलिटर सोडाबाईकार्ब० या मैगनेशियम ट्राईसिलिकेट मिला हुवा दूध रोगी के आमाशय में पहुँचाया जाता है जिससे उसको २४०० केलोरी पोषण प्राप्त होता है।

यह क्रिया कठिन नही है। रबड़ या प्लास्टिक की एक पतली नली को नाक द्वारा, मार्ग को एमिथोकेन आदि किसी योग से संज्ञाहीन करके, प्रविष्ट किया जाता है। धीरे धीरे वह ग्रसनी और ग्रासनाल में होती हुई आमाशय के हृद् द्वार से निकल कर आमाशय मे पहुॅच जाती है। साथ ही यदि रोगी घूंट घूंट करके जल पीता रहे तो उससे आंत्रगति उत्पन्न होकर नली के आमाशय में पहुॅचने मे सहायता मिलती है। यदि एक्स-रे द्वारा नली की यात्रा को देखते रहा जाय तो और भी उत्तम है। कई बार नली ग्रासनाल ही मे रह जाती है और दूध ग्रासनाल मे जाता रहता है। इस भूल से बचने का विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

क.—वागस क्रियारोधी औषधियां (Vagal depresants)

आमाशय मे होने वाली गतियों को कम करने अथवा उनको बन्द करने के लिये वागसनाडी की क्रिया को रोकना आवश्यक है। आमाशय के शिथिल हो जाने से रोगी की पीड़ा जाती रहती है और उसको विश्राम मिलता है। वह रात्रि को चैन से सो सकता है। इस लिये एट्रोपीन या बेलाडोना का प्रयोग किया जाता है। टिंचरबेलाडोना की प्रथम दिन ३ मिलीलिटर की एक मात्रा सोते समय दी जाय। और प्रतिदिन उसके प्रभावानुसार मात्रा को एक या दो मि.लि. बढा दिया जाय यहॉ तक कि उसकी सहनसीमा पहुॅच जाय, अर्थात् विषाक्तता के लक्षण प्रकट हो जाय। रोगी जब प्रातः काल उठे तो उसका मुॅह शुष्क हो और धुंधला दिखाई दे तब मात्रा थोड़ी घटा दी जाय और वही मात्रा प्रतिदिन रात्रि को सोते समय रोगी को दी जाय। यह मात्रा दिन मे नही दी जा सकती। उससे रोगी को देखने और गति करने मे कठिनाई होगी। हॉ उग्र अवस्था मे रोगी को शय्यारूढ़ करके १ से २ मिली लिटर टिंचर बेलाडोना तीन बार दिया जा सकता है।

ऐसी ही क्रिया करने वाले और भी कई योग बनाये गये हैं जो बाजार मे बिकते है। उनमे से कुछ के बाजारू नाम यहॉ लिखे जाते है जिन नामों से वे औषधिविक्रेताओं की दुकानों पर मिलते हैं। उनकी क्रिया बहुत कुछ बेलाडोना या एट्रोपीन के समान है। और सबों की क्रिया एक ही समान है। किन्तु अभी तक उनका इतना अनुभव नही प्राप्त हो सका है कि विश्वास के साथ उनके प्रयोग का निर्देश किया जा सके। कम से कम आरंभ मे पुरानी जंची हुई अनुभव प्राप्त औषधियो पर ही विश्वास तथा संतोष करना श्रेयस्कर है। इनके नाम ये हैं —आन्ट्रेनिल (antrenyl), मोनोड्राल (Monodral), प्रान्टाल (Prantal), बुस्कोपान (Buscopan), बैन्थीन (Banthine), प्रोबैन्थीन (Probanthine), लेर्गिन (Lergine)।

च. शामक औषधियां—

इसमें सन्देह नहीं है कि आमाशय व्रण की चिकित्सा में शामक औषधियों का विशेष स्थान है, मुख्यतया ऐसे रोगियों में जिनमें मानसिक उद्वेग, चिन्ता आदि रोगी को आक्रान्त किये हो। भय, विषाद, खिन्नता आदि ने उसको जकड़ रखा हो। ऐसी दशा में बारबिटोन योग रोगी के लिये लाभदायक होते हैं। विशेषकर फिनोबारबिटोन का प्रयोग चिकित्सकों द्वारा बहुत किया गया है। दिन में १५ से ३० मिलीग्राम (¼ से ½ ग्रेन) की तीन मात्रायें दी जाती हैं। यदि रात को रोगी को नींद नहीं आती तो तत्काल क्रिया करने वाला योग आवश्यक है। इसके लिये फिनाल बारबिटोन, ५० से २०० मिली ग्राम (¾ से ३ ग्रेन) उपयुक्त है। ऐसे योगों की क्रिया त्वरित किन्तु अल्पकालीन होती है। किन्तु यदि रोगी की आख रात मे किसी समय खुल जाती है और फिर नींद नहीं आती तो दीर्घकालिक क्रिया करने वाला योग वाञ्छित है। अतएव इस अवस्था मे ब्यूटो बारबिटोन या एमायलो बारबिटोन, ०·१ से ०·२ ग्राम (१½ से ३ ग्रेन) उपयुक्त हैं। क्लोरल हाइड्रेट आमाशय को क्षुब्ध कर देता है। इस कारण उसका उपयोग उपयुक्त नहीं।

पैप्टिक व्रण का उपचार रोगी और चिकित्सक दोनों के धैर्य, चिकित्सक के कौशल और रोगी के चिकित्सक के साथ सहयोग की क्षमता की परीक्षा लेने वाला है। चिकित्सा दीर्घकालिक होती है और फिर भी कितनी ही बार सफलता नहीं मिलती। फिर भी ऊपर बताये हुवे सिद्धान्तो के अनुसार चिकित्सा जारी रखना अभीष्ट है। आशा न रहने पर भी सफलता मिलना दैवी नियमो के बाहर नहीं है।

शल्य चिकित्सा— जब उपर्युक्त औषधियो द्वारा कुछ काल तक चिकित्सा करने पर भी रोगी की दशा क्षीण होती जाय, पीड़ा आदि लक्षणों मे कोई कमी न हो तथा उपद्रवो की आशंका हो तो शस्त्रकर्म द्वारा रोगीव्यथा को दूर करने का अवश्य ही विचार करना पड़ता है। व्रणों की स्थिति तथा उनके उपद्रवो के परिणामो की सम्भावना के अनुसार अनेक प्रकार के शस्त्रकर्म समय-समय पर होते रहे हैं और अब भी करने पड़ते हैं तथापि उनके परिणाम सदा निश्चित नहीं होते। यद्यपि उनकी विधियाँ भिन्न हैं तो भी उन सबों का अभिप्राय आमाशय के अम्लोत्पादक क्षेत्र को घटाना है।

शस्त्रकर्म की सार्थकता अथवा असार्थकता का विवाद यहाँ अभीष्ट नहीं। तथा कौन से प्रकार का शस्त्रकर्म लाभदायक होगा इन बातों का निर्णय शस्त्र-कर्म-कोविद अथवा सर्जन का है, जो शस्त्रकर्म करेगा। किन्तु सिद्धान्तरूप से यहाँ

इतना उल्लेख करना आवश्यक है कि शस्त्रकर्म करने के पूर्व रोगी को उसमें सम्भावित लाभ और हानि भलीभाँति बता देनी चाहिये। प्रथम आमाशय के शस्त्रकर्म या आपरेशन एक दो को छोड़कर इतने सीधे नहीं है कि उनमें रोगी के लिये कोई आपत्ति ही न हो। कुछ शस्त्रकर्मों (आमाशय का आंशिक उच्छेदन, पूर्णोच्छेद partial or total gastrectomy) में आमाशय का बहुत सा भाग काटकर निकालना पड़ता है क्योंकि उनका प्रयोजन अम्ल उत्पन्न करने वाले समस्त भाग को निकाल देना होता है। ऐसे वृहत् कर्मों में सब कुछ शल्य सम्बन्धी उन्नति हो जाने पर भी जीवन-हानि की संख्या ऊँची होती है। अतएव रोगी को यह जोखिम उठानी ही पड़ती है। दूसरे यह विश्वास के साथ कहना असम्भव है कि आपरेशन से रोगी कष्टमुक्त हो जायगा और उसको रोग की पुनरावृत्ति न होगी। आमाशय के व्रणयुक्त क्षेत्र को निकालने पर प्रायः आमाशय और मध्यांश आन्त्र के संयोजन स्थान पर व्रण बन जाता है जो पहिले व्रण के समान ही कष्टदायक होता है। और उसके लिये फिर से आपरेशन करना पड़ता है। तीसरे इन कर्मों के पश्चात् कर्मोत्तर लक्षण पुंज (Post-operative syndrome) उत्पन्न हो जाता है जिससे रोगी व्रण के समान ही कष्ट पाता है।

रोगी को ये सब बातें बता देनी चाहिये। आपरेशन से जो लाभ की आशा की जा सकती है किन्तु उसकी भी गारण्टी नहीं की जा सकती वह भी रोगी को बताया जाय। और फिर निर्णय स्वयं रोगी पर छोड़ दिया जाय। शस्त्रकर्म कराने का अन्तिम निर्णायक स्वयं रोगी है। यदि वह लाभ समझे तो कराये, नहीं तो नहीं।

शस्त्रकर्म कब आवश्यक या अनिवार्य है?

१. पैप्टिक व्रण के विदार मे।

२. रक्तस्राव तीव्र हो या पुन. पुनः हो।

३. व्रण के घातक (malignant) रूप ले लेने पर।

४. जब औषधोपचार से व्रण की चिकित्सा मे सफलता नहीं मिलती और व्रणोत्पत्ति की पुनरावृत्ति बारबार होती रहती है।

५. व्रण के कारण पायलोरस या आमाशय मे बद्धता (बद्धान्त्र obstruction) उत्पन्न हो चुकी है।

पैप्टिक व्रण के उपद्रव

पैप्टिक व्रण के सामान्यतया तीन उपद्रव होते हैं :—

१. रक्तस्राव, आमाशय से या ग्रहणी से।
२. व्रणविदार (Perforation)।
३. पायलोरस मे अवरोध (obstruction) या संवृत्ति (stenosis)

रक्तस्राव (Haemorrhage)

आमाशय तथा ग्रहणी दोनों के व्रणो मे रक्तस्राव उनका लक्षण बताया जा चुका है। थोड़ा बहुत रक्त तो वमन या मल मे (malena) सदा ही आता रहता है। यहाँ उस तीव्र रक्तस्राव से प्रयोजन है जिसके कारण रोगी का जीवन संकट में पड़ जाता है और रोगी के प्राण बचाने के लिये जिसकी तुरन्त चिकित्सा करनी पड़ती है। ऐसे रक्तस्राव के निम्नलिखित मुख्य कारण हो सकते हैं :—

१. उग्र व्रण आमाशय का।
२. जीर्ण व्रण आमाशय का।
३. जीर्ण व्रण ग्रहणी का।
४. कैंसर आमाशय का।
५. प्रतिहारी अवरोध (Portal obstruction)।

प्रथम तीन कारणों से ही सब से अधिक रक्तस्राव होता है। चौथा कारण भी अधिक आयुवालों मे बहुत होता है। पहले कहा गया है कि साधारणतया आमाशय के उग्र व्रणों में रक्तस्राव कम होता है। किन्तु जब कोई बड़ी रक्त-वाहिका खुल जाती है तो उससे तीव्र रक्तस्राव हो सकता है जो प्रायः वमन द्वारा बाहर आता है। जब रक्त मल द्वारा बाहर निकलता है तो वह काले से रंग का दिखलाई देता है और मल में मिला या उस पर चिपटा रहता है।

थोड़ी आयु वालों की अपेक्षा अधिक आयु वालो तथा वृद्धों मे रक्तस्राव अधिक चिन्ताजनक होता है। ५५ वर्ष की आयु के पश्चात् इस कारण से मृत्यु संख्या बढ जाती हैं।

लक्षण तथा चिह्न—रक्तस्राव प्रारम्भ होते ही रोगी को दुर्बलता मालूम होने लगती है। उसको विशेषकर टॉगों मे कमजोरी मालूम होती है। मूर्छा सी आती प्रतीत होती है। जी मिचलाता है तथा वमन होता है जिसमे रक्त निकल सकता है। ठण्डा पसीना आने लगता है। रक्त कुछ ही मिनटों मे मल के साथ निकलता देखा गया है।

परीक्षा करने पर तीन चिह्न मिलेंगे। प्रथम, रोगी की दुर्बलता, त्वचा पर ठण्ढा पसीना, विशेष कर माथे पर, जी घबराना। दूसरे, नाड़ी की गति का तीव्र हो जाना और तीसरे रक्तदाब (blood pressure) का घटना। नाड़ी रक्तस्राव का विश्वस्त सूचक है। रक्तस्राव प्रारम्भ होते ही नाड़ी की प्रति-मिनट गति सख्या बढ जायगी। जितना रक्तस्राव अधिक होगा उतनी ही नाड़ी तीव्र होगी। इससे रक्तस्राव की मात्रा का कुछ अनुमान किया जा सकता है, यद्यपि ठीक-ठीक मात्रा मालूम करना असम्भव है। जितना अधिक रक्तस्राव होगा उतना ही रक्तदाब कम होता जायगा।

चिकित्सा—प्रथम आयोजन रोगी को शय्यारूढ करके निश्चल और शान्त करना और उसकी चिन्ता को दूर करना है। इसके लिये मार्फीन अत्युत्तम औषधि है। १५ मिलीग्राम (¼ ग्रेन) का तुरन्त इन्जैक्शन दे दिया जाय और रोगी को कम्बल आदि से ढक कर लिटा दिया जाय। यदि रोगी को ठंढ मालूम हो तो उसके टांगों तथा धड़ के इधर-उधर दो चार गरम पानी से भरी रबड़ की बोतलों को लगा दिया जाय। आध आध घंटे पर नाड़ी की गणना और दो दो घंटे पर रक्तदाब की नाप तथा चार चार घंटे पर ताप लेने का आयोजन किया जाय।

रुधिराधान—इसके पश्चात् रोगी के शरीर मे रुधिराधान द्वारा आवश्यक मात्रा मे रक्त पहुँचाकर रक्त की क्षति की पूर्त्ति दूसरा आवश्यक आयोजन है। साथ ही शस्त्रकर्म की सहायता की आवश्यकता का विचार भी आवश्यक है जिसके लिये रोगी को अस्पताल में भेजना होगा। बहुत बार रक्तस्राव स्वयं बन्द हो जाता है और रुधिराधान (Transfusion of blood) आवश्यक नही होता। अतएव यह निर्णय तत्काल करना कि रुधिराधान आवश्यक है या नहीं तथा रोगी को अस्पताल भेजा जाय या घर ही पर चिकित्सा हो। इसका निर्णय करना चिकित्सक का उत्तरदायित्व है। उसको तुरन्त अपना मत स्थिर कर लेना चाहिये।

रुधिराधान का निर्णय रोगी की आयु और रक्तस्राव रुकने की संभावना पर निर्भर करता है। थोड़ी आयु के २०, ३० या ३२ वर्ष के रोगी उनमे रक्तस्राव रुकने की अधिक संभावना होती है। यदि रक्त केशिकाओं से या सूक्ष्म धमनियों से आ रहा है तो भी रक्त के स्वयं रुकने की आशा की जा सकती है। वाहिकाओं के मुख सकुचित होकर रक्तस्राव बन्द कर देते हैं। इसका कुछ अनुमान नाड़ी से किया जा सकता है। यदि नाड़ी की गति स्थिर हो गई है, उसकी प्रतिमिनट संख्या का बढ़ना बन्द हो गया है तो वह रक्त-स्राव के रुकने या कम होने का द्योतक है। इससे रक्तस्राव के बन्द होने की

आशा की जा सकती है। किन्तु अधिक आयु वालों मे, विशेषकर ५० वर्ष से ऊपर वालों में यह आशा नहीं की जा सकती। उनकी धमनियों में प्रायः काठिन्य (sclerosis) हो जाता है। ऐसी धमनी का मुंह या छिद्र स्वयं बन्द नहीं होता। इस कारण अधिक आयु वालो मे शीघ्रातिशीघ्र रुधिराधान की व्यवस्था करनी चाहिये।

दूसरी विचारने योग्य बात यह है कि रोगी के शरीर से कितनी शीघ्रता से रक्त निकल रहा है, कितना निकल चुका है, उसका रोगी पर कितना प्रभाव पड़ चुका है। उसकी सामान्य दशा कैसी है। यदि रोगी का वर्ण पीला पड़ गया है, शरीर-त्वचा ठंढी हो रही है, नाड़ी की गति विशेषतया अधिक हो गई है तो उसका अर्थ है कि शरीर से रक्त अकस्मात् शीघ्रता से निकला है, अधिक रक्तक्षति हुई है और वह अभी तक बन्द नहीं हुई है। यदि नाड़ी की गति अब भी बढ रही है तब तो रुधिराधान तुरन्त आवश्यक है। जिन रोगियों मे पहिले भी रक्तस्राव का इतिहास मिले, या रोगी के कथन या उसके संबंधियों से प्राप्त सूचना से अनुमान हो कि उसको पहले भी रक्तस्राव हुवा है तब भी रुधिराधान अनिवार्य है।

रोगी को अस्पताल में भेजना शल्य-क्रिया के लिये आवश्यक होता है। विदार आदि दशाओं के अतिरिक्त जिनकी चिकित्सा केवल शस्त्र कर्म द्वारा ही हो सकती है, कितनी ही बार रक्तस्राव को रोकने के लिये भी शस्त्र-सहायता अपेक्षित होती है। यदि कोई बड़े आकार की धमनी खुल गई है तो उसको शस्त्र कर्म द्वारा ही बन्द किया जा सकता है। जब अकस्मात् वर्णहीनता के साथ गाढे अवसाद या स्तब्धता (shock) के लक्षण—नाड़ी की तीव्र गति, ठंढा पसीना, रक्तदाब का ह्रास, अतिदौर्बल्य आदि—लक्षण भी उपस्थित हो तो अवश्य ही कोई बड़ी धमनी फटी है जिसकी चिकित्सा के लिये शस्त्रकर्म की आवश्यकता होगी।

ऐसी दशा मे रोगी को अस्पताल में भेज देना ही श्रेयस्कर है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि एक बड़े आकार की धमनी से रक्तस्राव से इतनी तीव्र गति से रक्तस्राव हो सकता हे कि उसके वमन द्वारा बाहिर आने से पूर्व रोगी का प्राणान्त हो जाय।

यदि रोगी को कई बार रक्तस्राव हो चुका हो तो उसको आमाशयोच्छेदन का शस्त्रकर्म करवाना आवश्यक है।

आहार—रोगी को आहार रोकने की तनिक भी आवश्यकता नही है। जो आहार आमाशय व्रण मे बताया जा चुका है वह बिना किसी संकोच के

दिया जाय। प्राय: रक्तस्राव बन्द होते ही रोगी को भूख लगती है। यदि वह इच्छा प्रगट करे तो आहार कभी न रोका जाय। उसमे न केवल उसको बल मिलता है किन्तु मानसिक आश्वासन भी होता है।

व्रणविदार (Perforation of ulcer)

प्राय: व्रणविदार की दशा दारुण होती है। किन्तु कितनी ही बार ऐसे विदार होते है कि उनका पता भी नही लगता। केवल आकस्मिक शस्त्र कर्म के समय आमाशय के खोलने पर क्षतांक चिह्नों (scar) से पता लगता है कि विदार हुवा था। विदार होकर आमाशय के खाली होने पर वे स्वयं ही बन्द हो जाते हैं। विदार जितना बड़ा होता है और आमाशय के भीतर की जितनी वस्तु बाहर आ जाती है और उसके द्वारा पर्युदर्या कला का जितना अधिक क्षेत्र संक्रमित होता है उतने ही लक्षण उग्र होते हैं। वे वास्तव मे पर्युदर्या कलाशोथ के लक्षण होते है। ऐसा भी होता है कि थोड़ी पीड़ा के साथ विदार होता है। किन्तु विदार के तुरन्त ही बन्द हो जाने से पीड़ा भी शान्त हो जाती है। अन्य लक्षण भी शीघ्र ही जाते रहते हैं। ऐसे लक्षणों को रोगी साधारण अपच समझता है और उनकी परवाह भी नही करता।

उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह है कि विदार अत्यन्त सूक्ष्म बेमालूम से लेकर प्राणान्तक तक हो सकते हैं।

लक्षण—जितना बड़ा विदार होता है उतने ही लक्षण उग्र होते हैं। सूक्ष्म विदारों मे कोई भी लक्षण नही होते या मृदु होते हैं।

विदार का मुख्य लक्षण पीड़ा है जिसकी स्थिति एकदेशीय यहाँ तक कि रोगी द्वारा निर्दिष्ट होती है। वह अंगुलि से बता सकता है उसको चीरने की सी पीड़ा कहा प्रतीत हुई थी। धीरे धीरे पीड़ा फैल जाती है। आमाशय या ग्रहणी के विदार से जितनी अधिक अन्तर्वस्तु उनके भीतर से निकलकर पर्युदर्या के सपर्क मे आती है उतना ही पीड़ा का क्षेत्र विस्तृत होता है। वस्तु के महाप्राचीरा के सम्पर्क मे आने से कधे में पीड़ा प्रतीत होती है।

पीड़ा के साथ ही विवर्णता हो जाती है तथा अवसाद (shock) के लक्षण प्रगट होते हैं। पसीना आता है। जी मिचलाना तथा वमन हो सकता है। श्वास भी उथला हो सकता है। उदर भित्ति का काठिन्य पहिले एकदेशीय होता है किन्तु बाद मे सारे उदर मे हो जाता है। सारी उदर-भित्ति निश्चल दिखाई देती है। उदर में गैस की उत्पत्ति से आध्मान हो जाता है। यदि यकृत् और मध्यच्छदा के बीच में एक्स-रे द्वारा गैस की उपस्थिति दिखाई दे तो व्रणविदार निश्चित है।

कुछ समय पश्चात् अवसाद के कम होने से रोगी की दशा सुधरी दीखती है। किन्तु शीघ्र सामान्य पर्युदर्या शोथ (general peritonitis) के लक्षण प्रगट होकर रोगी की दशा गिरने लगती है।

चिकित्सा—प्रारंभ में रक्तस्राव ही के समान चिकित्सा की जाती है। शय्यारूढ़ करके मार्फीन का इन्जेक्शन रोगी की पीड़ा दूर करने तथा उसे आश्वस्त करने के लिये आवश्यक है। यद्यपि मार्फीन द्वारा लक्षणों की उग्रता छिप जाने की आशंका से, जिसका परिणाम चिकित्सा मे असावधानी हो सकती है, कुछ विद्वान मार्फीन के पक्ष मे नहीं हैं किन्तु यह आशंका सभव नहीं है। रोगी की पीड़ा को गिराना या हटाना चिकित्सा और चिकित्सक का प्रथम लक्ष्य है। उससे न केवल रोगी को चैन या विश्राम मिलता है किन्तु उसके बल की भी रक्षा होती है और रोग का प्रतिरोध करने की सामर्थ्य उसमें बनी रहती है। फिर जब चिकित्सक रोगी के रोग के रूप को पहिचानता है और यह भी समझता है कि रोगी की पीड़ा तथा अन्य लक्षणोंमे कमी मार्फीन का परिणाम है तो उसको रोगी की दशा मे भ्रम हो कैसे सकता है।

इसके आगे की चिकित्सा के लिये शल्य सहायता की आवश्यकता है। इस दशा की प्राचीन चिकित्सा यह है कि उदर को खोल कर आमाशय या ग्रहणी के विदार को स्पष्ट करके उसके तथा गलित वस्तु का उच्छेदन करने के पश्चात् किनारों को सीकर विदार को बन्द कर दिया जाता है। आज कल सर्वमान्य मत यही है कि उग्र व्रण के विदार के लिये यही उपयुक्त चिकित्सा विधि है। इस कर्म को करनेके पश्चात् तीन या चार दिन तक आमाशय को पूर्णतया रिक्त रखना आवश्यक है। कोई भी आमाशयिक स्राव उसमे एकत्र न होने पावे। इसके लिये एक पतली रबड़ या प्लास्टिक की नली नाक मे होकर ग्रसनी और ग्रासनाल मे होती हुई आमाशय मे प्रविष्ट की जाती है और उसके दूसरे सिरे पर एक छोटा सा ऐसा पम्प लगा देते है जो आमाशय के भीतर के स्राव को निरन्तर बाहर खींचता रहता है। तीन दिन तक इस योजना को बराबर जारी रखा जाता है।

इन दिनों ४००,००० प्रोकेन पेनिसिलिन ०·५ ग्राम स्ट्रेप्टोमायसीन के साथ मिला कर प्रतिदिन एक बार इञ्जैक्शन दिया जाता है। शरीर के द्रवों की हानि की ओर भी ध्यान रखना आवश्यक है जिससे निर्जली भवन न होने पावे। शरीर मे लवणों तथा जल की कमी न होवे। इस लिये ग्लूकोज सहित लवणविलयन प्रतिदिन या दिन मे दो या अधिक बार आवश्यकतानुसार पर्याप्त मात्रा मे शिराओं द्वारा रक्त मे पहुँचाया जाता है। तीन दिन

मे विदार के छिन्न किनारे जुट चुकते हैं और तब रोगी को द्रव, मसृण आहार पदार्थ मुंह द्वारा दिया जाता है। तीन दिन पश्चात् व्रण का सा आहार (पृष्ठ३३) दिया जा सकता है, और एक सप्ताह पश्चात् साधारण आहार।

जीर्ण व्रणो के लिये विद्वान सम्पूर्ण या आंशिक आमाशयोच्छेद (total or partial gastrectomy) उपयुक्त समझते ह। जीर्ण और उग्र व्रणो मे भेद इस प्रकार करते हैं कि जिनको अग्निमाद्य बहुत समय से, एक या दो वर्ष या इससे भी अधिक समय से रहा है या जिनको बार बार रक्त-स्राव होता रहा है उन रोगियों मे जीर्ण व्रण हैं। उग्र व्रणो के साथ अग्निमाद्य नहीं होता। विदार उग्र व्रण का प्रथम लक्षण हो सकता है। प्राय. पीड़ा और रक्तस्राव प्रथम लक्षण होते है। यही चिकित्सा पद्धति आजकल सर्वमान्य है।

पायलोरस मे अवरोध अथवा संवृत्ति

यह दशा पायलोरस अथवा ग्रहणी में उत्पन्न हुवे व्रण, वहाॅ की सूजन, पेशियो के आक्षेपक और कुछ रोगियो मे कैंसर के कारण उत्पन्न होती है। प्राय॰ प्रथम तीन दशाये मिली रहती हैं, अर्थात् व्रण उपस्थित होता है और उसके कारण शोथ होता है जिससे वहा की पेशियो का संकोच निरन्तर बना रहता है जिसको आक्षेपक कहते हैं। व्रण के भर जाने से क्षताक (scar) के बनने पर वहाॅ की धातुएॅ सकुचित हो जाती हैं जिससे वहाॅ का आन्त्रनाल का मार्ग छोटा हो जाता है। यह दशा संवृत्ति (stenosis) कहलाती है। यदि व्रण ग्रहणी मे पायलोरस द्वार के समीप होता है तो ग्रहणी मे सवृत्ति अथवा अवरोध उत्पन्न हो जाता है और आमाशय का नीचे का भाग विस्तृत हो जाता है जिसमे आहार अवशेष तथा जल या अन्य पेय भरा रहता है। प्रातः काल आमाशय मे पहली रात्रि के आहार या पेय के अवशेष की उपस्थिति इस दशा की विशेष सूचक है। एक्स-रे से इसको देखा जा सकता है। अथवा एक रबड़ नली को आमाशय मे प्रविष्ट कर के चूषकयन्त्र या एक साधारण सिरिंज द्वारा उसको बाहर खीचा जा सकता है।

शिशुवों मे पायलोरस द्वार के चारों ओर की भित्तियो मे स्थित पेशियो की अतिवृद्धि होने से भी यह दशा उत्पन्न हो जाती है। यह दशा जन्मजात होती है (congenital hypertrophic pyloric stenosis) और शिशु के जीवन के प्रथम एक या दो मास ही मे प्रकट हो जाती है।

लक्षण और चिह्न—

वमन इस दशा का विशेष लक्षण है। प्राय॰ रोगी को कुछ समय से अग्नि-माद्य होने का इतिहास मिलता है। शीघ्र ही जी मिचलाना और वमन होना

प्रारंभ हो जाता है। कुछ समय में आमाशय का प्रसार (dilatation) हो जाता है और उसमें आहार—अवशेष तथा पेय बहुत मात्रा मे एकत्र होने लगते है। वमन में २४ घटे पूर्व किया हुवा आहार निकल सकता है। वमन निरन्तर होते रहते हैं और उनमे द्रव का बहुत मात्रा निकल जाती है।

वमन के कारण शरीर से तरल द्रव्यो तथा लवणों की बहुत हानि होती है। इनसे निर्जलीभवन की दशा उत्पन्न हो जाती है। हाइड्रोक्लोरिक अम्ल, सोडियम, पोटाशियम तथा क्लोराइडों की विशेष कमी हो जाती है जिनकी पूर्ति आवश्यक होती है।

परीक्षा करने पर यदि रोगी के उदर को हिलाया जाय तो जल के छल छलाने का सा (splashing) शब्द सुनाई देगा। शरीर में क्षीणता के लक्षण दिखाई देंगे। आमाशय की आन्त्रगति का परिदर्शन पायलोरस अवरोध का विशेष चिह्न है जिसको देखने का प्रयत्न करना चाहिये। प्रातः काल कुछ भी खाने के पूर्व आमाशय से आहार-अवशेष को निकालना रोग का निश्चयात्मक चिह्न है।

चिकित्सा—शरीर मे द्रवों और लवणो की त्रुटि की पूर्ति बहुत आवश्यक है। सोडियम और पोटासियम की त्रुटि की मात्रा रक्त के सीरम की रासायनिक परीक्षा से मालूम की जा सकती है। सोडियम और द्रवों की कमी सामान्य लवण विलयन के शिरा द्वारा आधान से दूर की जा सकती है। पोटासियम भी उसी के साथ दिया जा सकता है। पोटासियम क्लोराइड का उपयोग किया जाता है। ४ से ८ ग्राम पोटासियम क्लोराइड नित्यप्रति मुँह से जल के साथ दिया जा सकता है। इसको कुछ समय तक—१५ से २० दिन तक जारी रखना चाहिए, जब तक ७५ ग्राम पोटासियम क्लोराइड न पहुँच जाय। मुँह से रोगी जितना द्रव ले सके उत्तम है। मुँह से अथवा शिरा द्वारा द्रवों और लवणों की आवश्यक मात्रा को पहुँचाना चिकित्सा का प्रथम चरण है। इससे रोगी की क्षीणता दूर होती है। उसका शरीर भार उन्नत होता है और व्रण के कारण जो संवृत्ति उत्पन्न हुई थी वह भी कम हो जाती है।

आमाशय का प्रक्षालन प्रातः और सायं दो बार होना चाहिए। उसके द्वारा आमाशय मे एकत्रित आहार-अवशेष को निकालने का सतत प्रयत्न जारी रहना चाहिये। आमाशय को अवशेष से मुक्त करने मे कितने ही दिन लग जाते हैं। अवशेष से मुक्त होने और जल तथा लवणो के पुनराधान से आमाशय में भी बल आता है। उसकी संवृत्ति या सकीर्णता कम होती है। वमन भी घट जाते हैं और रोगी में मुंह से पोषण ग्रहण करने की शक्ति लौट आती है। यदि इस चिकित्सा-क्रम से रोगी की दशा उन्नत मालूम होती है जिसका उसके

शरीर-भार से तथा वमनों की कमी से अनुमान किया जा सकता है तो संकीर्णता के दूर होने और आमाशय के स्वाभाविक कार्य क्षम हो जाने की कम से कम आंशिकतया आशा की जा सकती है। किन्तु रोगी को अपने आहार का रूप बदलना होगा। उसको पेय तथा ऐसा द्रव आहार ही लेना होगा जिसका न्यूनतम अवशेष बने। यदि उसको यह अभीष्ट है तो शस्त्रकर्म आवश्यक नहीं।

किन्तु यदि इस चिकित्सा-क्रम से रोगी की दशा में उन्नति नहीं होती, आहार अवशेष की मात्रा पहिले ही के समान बनी रहती है या रोगी के शरीरभार और साधारण दशा में कुछ समय तक उन्नति होने के पश्चात् फिर उसकी पूर्ववत् दशा हो जाती है तो शस्त्रकर्म करना आवश्यक है। दो प्रकार के शस्त्रकर्म किये जाते हैं। एक प्रकार के शस्त्रकर्म में आमाशय और क्षुद्रान्त्र के बीच में मार्ग बनाकर उन दोनों को जोड़ दिया जाता है। इसको (gastrojejunostomy) कहते हैं। दूसरा आंशिक आमाशयोच्छेदन होता है। इसमे आमाशय के एक भाग को काट दिया जाता है और शेष भाग के साथ क्षुद्रान्त्र के प्रथम भाग (मध्याश jejunum) को जोड़ दिया जाता है। जब आमाशय मे अम्लोत्पत्ति अधिक होती है तब यह कर्म किया जाता है। कुछ सर्जन इसके साथ ही वागस और आमाशय के संबंध का भी उच्छेदन कर देते हैं जिससे उसमें होने वाली गतिया कम हों और अम्लस्राव भी कम बने।

आमाशय शोथ (Gastritis)

आमाशय की श्लेष्मल कला के शोथ को आमाशय शोथ कहा जाता है। आमाशय शोथ के वर्गीकरण पर बहुत विवाद रहा है। किन्तु उसके दो प्रकार के रूप मान लेना क्रियात्मक दृष्टि से तथा विद्यार्थियों के लिये भी सरल और सुगम है। (१) एक उग्र रूप (acute) (२) दूसरा जीर्ण (chronic) रूप, जहाँ शोथ अकस्मात् प्रारम्भ होने वाला और तीव्र रूप का होता है जैसे धात्वीय विषो, अम्ल या क्षारों की क्रिया से, वह उग्र है। जब शोथ हलका होता है और बहुत काल तक बना रहता है तो वह जीर्ण रूप है। इन दो रूपो के अतिरिक्त एक और दशा को भी आमाशय शोथ ही का प्रकार माना गया है यद्यपि उसमें शोथ तनिक भी नही होता है। उसको जठर अपुष्टि (gastric atrophy) कहते हैं। इसमें श्लैष्मिक कला का ह्रास होता है।

अनेक विद्वानो का मत है कि पूर्ण स्वस्थ शोथहीन आमाशय एक असाधारण वस्तु है। प्रत्येक व्यक्ति मे कुछ न कुछ शोथ पाया ही जाता है चाहे वह

आमाशय के किसी एक अति सूक्ष्म क्षेत्र में ही परिमित हो। ऐसे शोथ का पूर्णतया लक्षणहीन होना संभव है।

उग्र आमाशय शोथ मे कला मे तीव्र क्षोभ होता है। वह गहरी लाल रक्तमय और सूजी हुई दीखती है जिससे उसकी सिलवटे और गहरी हो जाती है। कही कही वह खुरची हुई सी या व्रणयुक्त भी होती है। जहाँ तहाँ उसपर श्लेष्मा लगा होता है। यह शोथ एकदेशीय अथवा सारी कला मे हो सकता है। सूक्ष्म दर्शक द्वारा देखने से शोथ के सामान्य परिवर्तन, रक्ताधिक्य, शोथ, कोशिकाओं का अन्तः सरण (infiltration) और श्लेष्मल कला के ऊपरी परत का यतस्ततः पृथक् हो जाना आदि दिखाई देते हैं।

लक्षण—इस दशा के विशेष लक्षण अरुचि (anorexia), जी मिचलाना, उदर के ऊपरी भाग में बेचैनी, हृद्-दाह तथा सिर चकराना है। वमन तीव्र क्षोभको जैसे मद्य, का परिणाम हो सकता है। यदि शोथ का आन्त्र मे विस्तार हो चुका है तो अतिसार हो जायगा, पतले दस्त आने लगेगे।

जीर्ण आमाशय शोथ—यह वास्तव में श्लेष्मल कला का ह्रास या क्षय है। जिसमे ग्रन्थि ऊतक का बहुत कुछ नाश हो जाता है जिससे स्राव की उत्पत्ति कम हो जाती हैं। और लसीकाणुओं तथा प्लाविका कोशिकाओं का अन्तः सरण हो जाता है। अर्थात् वे वहा की धातुवों में फैल जाते हे। साथ ही तान्तव ऊतक (fibrosis) भी बनने लगता है जैसा घाव भरने के पश्चात् होता हं जिससे क्षताक बन जाता है। कहीं कही उग्र शोथ के लक्षण भी उपस्थित होते हैं।

लक्षण चिरकालिक अग्निमाद्य के से होते हैं। अम्लरस की कमी से आहार नही पचता। और भूख भी नहीं लगती। अरुचि, बेचैनी, आदि उपस्थित होते हैं। उग्र शोथ के पुनः पुनः आक्रमण से यह दशा उत्पन्न हो सकती है। व्रण और कैंसर के साथ भी बहुधा यह दशा पाई जाती है इसको (Chronic atrophic gastritis) भी कहा जाता है।

सामान्य जठर अपुष्टि (Simple gastric atrophy)—इसमे शोथ के तनिक भी चिह्न नही होते। इसके विरुद्ध कला का क्षय या ह्रास होता है। दुष्ट रक्तक्षीणता (pernicious anaemia) मे यह दशा पाई जाती हे। व्रण और कैंसर में भी हो सकती है। इसके कोई लक्षण नही होते। अम्ल की कमी के कारण अतिसार हो सकता है।

इस रोग के निदान मे एक्स-रे से कोई सहायता नहीं मिलती। अन्तर्दर्शन से ऊपर बताये हुवे परिवर्तन दृष्टिगोचर हो सकते हे। शोथ से श्लेष्मल कला की अतिवृद्धि तथा रक्ताधिक्य से गहरी लालिमा दिखाई दे सकती है। जठर

अपुष्टि मे श्लेष्मल कला रक्तहीन और सिलवटों रहित सपाट पतली कला की भांति दिखाई देगी जिसके नीचे रक्तवाहिकाओं का जाल दीखेगा। ऐसी कला मे व्रण होने से तत्काल रक्तस्राव हो सकता है।

शोथ होने से रक्त मे अम्ल की कमी हो जाती है। शोथ हट जाने पर अम्लोत्पत्ति फिर से सामान्य हो जाती है। जठर अपुष्टि तथा जीर्ण शोथ में जितनी ही अपुष्टि अधिक होती हैं उतनी ही रसोत्पत्ति कम होती है, वह बिल्कुल बन्द हो सकती है।

चिकित्सा—कारण को दूर करने से शोथ की दशा कुछ समय में जाती रहती है। क्षोभक वस्तुओ जैसे मद्य, अम्ल, क्षार आदि के प्रयोग को बन्दकर और वस्तुओं का प्रत्यम्ल या प्रतिक्षारीय पदार्थो द्वारा उनका निराकरण उचित है। संक्रामक रोगो के ज्वरों में उत्पन्न हुवा शोथ ज्वर समाप्त होने के पश्चात् कुछ दिनो मे स्वयं शान्त हो जाता है और भूख लगने लगती है। इन्फ्लुयेंजा जठर शोथ का विशेष कारण होता है। स्टेफिलोकोकाई जन्य शोथ से प्रवाहिका भी होती हैं क्योंकि उसका प्राय: आन्त्र मे विस्तार हो जाता है। रोग की चिकित्सा से रोग शान्त होने पर आमाशय की श्लैष्मिक कला का शोथ भी शान्त हो जाता है।

जब शोथ के कारण वमन अधिक हो और उनके द्वारा जल और लवणों का परित्याग हो तो उनकी शरीर मे पुन: स्थापना शोथ की शान्ति के लिये आवश्यक है।

जठर अपुष्टि अथवा श्लेष्मल कला के ह्रास को रोकने का अभी तक उपाय नही मालूम हुआ है। व्रण अथवा कैंसर के साथ जो शोथ होता है उसकी स्वत: कोई चिकित्सा नहीं होती।

आमाशय या जठर शोथ एक ऐसी दशा है जिसमे आमाशय के भीतर ऊतकों में हुवे परिवर्तनों और लक्षणो मे कोई समता नही मिलती। पूर्ण अपुष्टि शोथ लक्षणहीन हो सकता है। इसलिये कुछ विद्वान् इसको स्वतन्त्र रोग नही मानते। और लक्षणों की चिकित्सा के अतिरिक्त उसकी कोई चिकित्सा भी नही होती।

आमाशय का कैंसर

यह रोग ४५ वर्ष से ऊपर की आयु वालों मे और स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषों म अधिक पाया जाता है। यह सबसे अधिक पायलोरस मे होता है जहाँ यह पायलोरस अवरोध या संकीर्णता के समान लक्षण उत्पन्न करता है। उसके पश्चात् आमाशय के बुध्न या काय मे होता है जहाँ वह एक पिंड के समान

थोड़े ही समय में प्रतीत होने लगता है। इससे भी कम और असाधारण वह दशा है जहाँ कैंसर कोशिकायें आमाशय की भित्तियों में अन्तःसरण (infiltration) करती चली जाती हे और पेशीसूत्रों का नाश करके स्वय उनमें विस्तृत हो जाती हैं। ऐसी आमाशय भित्तियों में कोई गति नहीं होती। वह चमड़े के थैले की भाति हो जाता है और इस कारण उसको (Leather Bottle Stomach) कहा जाता है। लेखक के एक रोगी में यह दशा पायलोरस द्वार और कपाटिका तक विस्तृत हो चुकी थी जिससे कपाटिका (pyloric valve) नष्ट हो गई थी और आमाशय आहार को धारण करने की सामर्थ्य बिल्कुल खो चुका था। रोगी को बेरियम खिलाने पर वह आमाशय में तनिक भी नहीं ठहरता था। तुरन्त पायलोरिक द्वार से ग्रहणी और क्षुद्रान्त्र में चला जाता था। इस प्रकार का कैंसर असाधारण है।

आमाशय या जठर कैंसर शल्य संबधी विषय है अतएव यहाँ इसका अति संक्षेप से वर्णन किया जायगा जिससे रोग के निदान में त्रुटि न हो।

रचना के अनुसार कैंसर कई प्रकार का होता है। उनके रूपों में भी भेद होता है। किसी विकृति विज्ञान की पुस्तक से यह ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। किन्तु आमाशय के कैंसर अर्बुद के संबंध में कुछ विशेष बातें जान लेनी चाहिये।

अन्य स्थानों की भाँति आमाशय के किसी कोशिका समूह की अपरिमित वृद्धि का परिणाम कैंसर होता है जो कुछ ही कोशिकाओं से उत्पन्न हुई अगणित कोशिकाओं का समूह है जिनमें से प्रत्येक कोशिका अब भी प्रतिक्षण अपनी संख्या को दुगुनी और चौगुनी कर रही हैं। इससे उसका आकार द्रुत गति से बढ रहा है। जो कोशिका समूह कभी नेत्रों से देखा भी नहीं जा सकता था वही अब बढ़ कर आमाशय के एक भाग को भरे हुवे है और एक बड़े पिंड के समान दिखाई देता है। उसमें कितनी ही नई नई रक्तवाहिकायें बन गई हं। कभी कभी किसी रक्तवाहिका का मुंह खुल जाता है। नये कोशिकासमूह उसको खोद देते हैं तो फट जाती है और उससे रक्तस्राव होता है। इस कोशिका-पिंड से सूक्ष्म कोशिकासमूह टूट कर रक्तवाहिकाओं तथा लसीकावाहिनियों द्वारा अन्य अंगों में पहुँच कर वहाँ फिर अपनी वृद्धि करते हैं और वहाँ भी एक कैंसर अर्बुद बन जाता है। आमाशय के कैंसर से इस प्रकार प्रतिहारणी शिरा द्वारा यकृत, पित्ताशय आदि में कैंसर का विस्तार हो सकता है। ये **गौण वृद्धिया** (metastases or secondary growths) कहलाती हे। अनेक बार इन गौण वृद्धियों का आकार पितृ अर्बुद की अपेक्षा भी तीव्र गति से बढ़ता है। इस प्रकार दूर दूर के अंगो में अर्बुद हो सकता है।

आमाशय व्रण का कैंसर रूप ले लेने के संबंध में बहुत विवाद रहा है।

कैंसर और व्रण दो भिन्न रोग है। कुछ विद्वान जीर्ण व्रण का कैंसर में बदल जाना संभव नही मानते। उनके मतानुसार व्रण अन्त तक व्रण ही रहता है। यह देखा भी जाता है। प्रत्येक व्रण कैंसरीय नहीं होता। तो भी यह निर्णय करना कि व्रण केवल जीर्ण रूप का है या कैंसरीय है सहज नही होता यद्यपि वह अत्यन्त आवश्यक होता है। संभव है जिस व्रण को कैंसर रूप मे परिवर्तित माना जाता है वह प्रारंभ से कैंसरीय ही हो जो व्रण के रूप में प्रारंभ हुवा है।

लक्षण—प्राय: रोगी जब चिकित्सक के पास परामर्श के लिये आता है तब तक उसके आमाशय मे कैंसर पिंड इतना बड़ा हो चुका होता है कि वह उदर पर से परिस्पर्शन से प्रतीत हो सकता है। उसको कुछ मास या एक या दो वर्ष से अग्निमांद्य के लक्षण रहे हैं। जी मिचलाना, वमन, बेचैनी या पीड़ा भी होती रही है। सभव है कभी वमन में रक्त रंजित द्रव निकला हो। रोगी क्षीण भी हो चुका है। उसको अरुचि, क्षुधाह्रास तथा शरीरभार-क्षय प्रारंभ ही से हो रहे हैं। अब क्षीणता इतनी वढ चुकी है कि उसको विशेष दुर्बलता मालूम होती है।

यह चित्र एक ऐसे रोगी का है जिसका रोग इतता बढ़ चुका है कि वह 'असाध्य' की श्रेणी मे आ गया है। इस समय शस्त्र कर्म से भी रोगी की जीवन-रक्षा की आशा नही की जा सकती। उसको रोग उस समय प्रारंभ हुवा था जब उसको प्रथम बार अजीर्ण के लक्षण प्रकट हुवे थे। वही समय था जब उसके रोग का निदान होना चाहिये था। यदि उस समय चिकित्सा प्रारंभ की जाती तो उसकी सासारिक जीवन-यात्रा के सम्पूर्ण होने की आशा कम से कम रुपये में आठ आने बढ जाती। किन्तु अब तो वह उस यात्रा को शीघ्र ही, संभव है अधिक से अधिक एक या दो वर्ष ही मे या कुछ महीनो ही में अंत करने को बाध्य है।

रोग के प्रारंभ ही में उसको पहिचानना आवश्यक है। अर्बुद-पिंड बन चुकने तक तो वह असाध्य हो जाता है। फिर शस्त्र कर्म द्वारा उसका छेदन करना भी व्यर्थ है। तब तक नही मालूम किस किस अंग मे उसका प्रसार हो चुका है। अतएव सिद्धान्तत: ४० या ४५ वर्ष से अधिक आयु के व्यक्ति मे जो भी अग्निमान्द्य से ३ सप्ताह से ग्रस्त हो और चिकित्सा होने पर भी उसकी दशा उन्नत न हुई हो या उसको अग्निमांद्य के बार बार आक्रमण होते हों तो कैंसर का सन्देह करना चाहिये और उसकी पूर्ण परीक्षा तथा भिन्न भिन्न प्रकार की जाचों द्वारा उसका अन्वेषण करना चाहिये। यदि यह सिद्धान्त बना लिया जाय तो कम से कम २० प्रतिशत इस रोग के ग्रास बनने वाले व्यक्तियों की जीवन-रक्षा संभव है।

रोग के प्रारंभिक लक्षण अरुचि, जी मिचलाना, भूख न लगना, उदर में बेचैनी और शीघ्र ही शरीरभार का घटना है। प्रथम वार रक्तवमन भी रोग का प्रथम लक्षण हो सकता है। रक्तक्षीणता, जिसका अन्य कोई कारण न हो, भी इसका परिणाम हो सकती है। ऐसी दशाओ में रोगी की पूर्ण जाच आवश्यक है।

रोग बढने पर अर्बुद-पिंड बन जाने के पश्चात् निरन्तर उदर में पीड़ा और रक्तमिश्रित वमन मुख्य लक्षण हैं। पीड़ा का आहार से कोई संबंध नही होता। उससे न घटती है न बढती है। सदा एकसी बनी रहती है। वमन का ईंट के समान लाल रंग होता है जिसकी समता काफी पेय से दी जाती है। उनको coffee ground vomits कहा जाता है। रोगी की क्षीणता (cachexia) बराबर बढती जाती है।

जांच—इतिहास और दैहिक परीक्षा के पश्चात् एक्स-रे परीक्षाये अन्तर्दर्शन तथा आमाशयिक स्रावो की रासायनिक तथा सूक्ष्मदर्शक द्वारा परीक्षाये आवश्यक हैं।

एक्स-रे चित्रण—बेरियम सल्फेट का घोल पिलाने के पश्चात् कई दिशाओ मे आमाशय के चित्र लिये जाते हैं। आमाशय कितने समय में खाली हो जाता है इसके लिये एक चित्र ३ या ३½ घटे पश्चात् लिया जाता हैं। यदि आमाशय में अर्बुद-पिंड बन चुका है तो उसके स्थान मे बेरियम न होने से चित्र में उसकी छाया नही आती। और इस कारण आमाशय का चित्र सम्पूर्ण नही होता। उस में अर्बुद के स्थान मे अपूर्णता रह जाती है। यह पूर्णता त्रुटि (filling defect) कहलाती है और अर्बुद की विशेष द्योतक होती है। यह प्रायः आमाशय की काय या पायलोरस मे पाई जाती है। ऊपर के हृद् भाग में अर्बुद होने से वहाँ बेरियम की अनुपस्थिति के कारण त्रुटि मिलेगी। पायलोरस में स्थित होने पर त्रुटि पायलोरस के संकोच का रूप ले सकती है जब पायलोरस एक संकीर्ण नलिका के समान दिखाई देगी जिससे आमाशय का निचला भाग विस्तृत और बेरियम से भरा हुवा दीखेगा।

आमाशय दर्शक यन्त्र के द्वारा अन्तर्दर्शन से अर्बुद की स्थिति का ठीक ठीक पता चल जायगा। ऊतक परीक्षा के लिये उसके द्वारा अर्बुद का सूक्ष्म भाग भी काटा जा सकता है। किन्तु जहां रोग मे सन्देह न हो वहा यह परीक्षा आवश्यक नही है।

आमाशय के स्राव की परीक्षा से उसमें अम्ल की कमी (achlorhydria) पाई जायगी। स्राव मे रक्त भी उपस्थित मिलेगा। अव्यक्त रक्त (occult blood) हो सकता है।

स्राव में जो आमाशय से निकाला जाय तथा वमन में कैंसर कोशिकाओं को खोजना चाहिये। प्रारंभिक अवस्था के निश्चय में इससे बहुत सहायता मिलती है।

साध्यासाध्यता (prognosis) जैसा एक विद्वान ने लिखा है 'आमाशय कैन्सर से ग्रस्त रोगियों में से थोड़े ही अस्पताल पहुँचते है, जो पहुँचते हैं उनमें से कुछ ही शस्त्रकर्म (आमाशयोच्छेदन) के लिये तैयार होते हैं, जिनके शस्त्रकर्म किये जाते हैं उनमें से बहुत थोडे रोगी वर्ष तक जीवित रहते हैं। इस प्रकार रोग को असाध्य ही कहना चाहिये। हा, शस्त्रकर्म के पश्चात् रोगी कुछ वर्षो तक सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकता है।

चिकित्सा—इस रोग की चिकित्सा केवल सम्पूर्ण या आंशिक आमाशयोच्छेदन है। किन्तु जैसा उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है शस्त्रकर्म के परिणाम सतोषजनक नही कहे जा सकते। शस्त्र कर्म के पश्चात् भी ५ वर्ष तक जीने वालो की संख्या अत्यल्प होती है। हां उससे कुछ समय तक रोगी का जीवन कष्ट-रहित हो सकता है।

शस्त्रकर्म के पूर्व रोगी के शरीर मे जल और लवणो की पर्याप्त मात्रा पहुँचा कर उसकी शारीरिक दशा जितनी भी उन्नत की जा सके करनी चाहिये। आपरेशन के समय रुधिराधान करना आवश्यक होता है। रक्तक्षीणता दूर करने के लिये आपरेशन के पूर्व भी रुधिराधान करना योग्य है।

क्षुद्रान्त्र के रोग

क्षुद्रान्त्र की लम्बी नली का काम शेष आहार अवयवों का पाचन तथा आमाशय और ग्रहणी से आये हुए समस्त पक्व अवयवों का अवशोषण है। क्षुद्रान्त्र के रस तथा वहा के निवासी तृणाणु आमाशय और अग्न्याशय-रस द्वारा पाचन के पश्चात् जो अपक्व दशा मे अवयव रह जाते हैं उनका भी पाचन कर डालते हे और आन्त्र की श्लेष्मल कला तथा उन पर लगे हुवे अंकुर उन पाचित अवयवों का अवशोषण करते हैं। सिलवटों (folds) और उन पर लगे हुवे अंकुरों के कारण श्लेष्मल कला का क्षेत्र क्षुद्रान्त्र की अपेक्षा कई गुना बढ़ जाता है। अब विद्युद् सूक्ष्मदर्शक (electron microscope) द्वारा मालूम हुआ है कि अंकुरों पर भी और सूक्ष्म अंकुर लगे हुवे हैं जो अवशोषक पृष्ठ को २४ गुना और बढ़ा देते हैं। इस प्रकार क्षुद्रान्त्र के अवशोषक पृष्ठ का क्षेत्र कई सौ गुना बढ़ जाता है। प्रोटीन और कार्बोहाइड्रेटों का अवशोषण रक्तवाहिकाओं द्वारा रक्त मे होता है। स्नेह या वसा तथा वसाम्लो का अवशोषण अधिक गूढ है। उनके रूप

का परिवर्तन होकर अंकुरों और अंकुराणुवों की लसीकावाहिनियों द्वारा होता है और श्लेष्मल कला ही में फिर से उनका संश्लेषण होकर स्नेह के बड़े परमाणु बन जाते हैं जो अन्त में रक्त में पहुँच कर उसके द्वारा अंगों को उपलब्ध होते हैं। इस कारण वसा के अवशोषण के विकार अधिक होते हैं। उसके पूर्ण अवशोषण न होने से मल में वसा अधिक निकलने लगती है। इस दशा को स्टियाटोरिया (steatorrhoea) या वसामल कहते हैं।

क्षुद्रान्त्र में होने वाली आन्त्रगति की ओर ध्यान आकर्षित करना भी आवश्यक है। इन गतियों के बढ जाने से अतिसार हो सकता है जिससे आन्त्र के भीतर की अन्तर्वस्तु का प्रवाह तीव्र गति से बृहदान्त्र की ओर को होता है और आहार के पक्व अवयवों का पूर्ण अवशोषण भी नही होता। यह कुपोषण या अपोषण का एक कारण होता है। तृणाणु, अपच्य आहार वस्तुएँ, कड़े ठोस पदार्थ जैसे गुठलिया या बीज तथा क्षोभक औषधिया आन्त्रगति को बढ़ाती हैं जिससे पतले दस्त आते हैं। गतियों के तीव्र होने से उदर मे गड़गड़ाहट का शब्द होता है। बद्धान्त्र में (obstruction) उदर में स्टेथिस्कोप से बड़े उग्र शब्द सुनाई देते हैं। आन्त्र के अंगघात में (paralysis) शब्द बन्द हो जाते हैं जिसको 'शान्त उदर' कहते हैं।

परीक्षायें—सामान्यदैहिक परीक्षा के अतिरिक्त एक्स-रे परीक्षा से आन्त्र की दशा का बहुत कुछ ज्ञान हो सकता है। आमाशय के रोगों की भाति इनमे भी बेरियम सल्फेट का घोल पिला कर उदर के चित्र लिये जाते हैं। बीस मिनट पश्चात् आमाशय से बेरियम क्षुद्रान्त्र में जाने लगता है और डेढ से ढाई घंटे मे सारा बेरियम क्षुद्रान्त्र में चला जाता है और चार घटे के अन्त तक क्षुद्रान्त के अन्त तक पहुँच कर अन्धान्त्र (coecum) मे जाने लगता है। इस समय में दो या तीन चित्रों द्वारा बेरियम का क्षुद्रान्त्र के आदि से अन्त तक का प्रवाह भली भाति प्रदर्शित हो जाता है। क्षुद्रात्र के भीतर सिलवटों की बहुलता मध्यांश (jejunum) और शेषांश (ileum) के ऊपरी भाग मे दिखाई पड़ती ह। निचले भाग में रचना बहुत कुछ बृहदान्त्र के समान किन्तु चौड़ाई मे कम दीखती है।

बेरियम द्वारा क्षुद्रान्त्र की श्लेष्मल कला की स्थिति अर्थात् उसकी सिलवटों आदि का रूप, अन्तर्वस्तु के प्रवाह की गति अथवा कोई असामान्यता या विकार जैसे पूर्णता-त्रुटि, आन्त्रसंकोच या प्रसार (dilatation) ये सब प्रदर्शित हो जाते हैं।

आमाशय-आन्त्र शोथ (Gastroenteritis)

यह दशा आन्त्र रोगों मे सब से अधिक पाई जाती है। जिसमे आमाशय और क्षुद्रान्त्र की श्लैष्मिक कला मे यतस्ततः शोथ हो जाता है। उग्र दशा मे सारी कला शोथयुक्त हो जाती है। इस कारण वमन और अतिसार (पतले दस्त) दोनों होते है। यह रोग कितने ही कारणों से उत्पन्न हो सकता है जिनमे से आहारजन्य विषायणता (food poisoning), रासायनिक विष, जैव विष (Toxins), संक्रमण (infection) तथा विषैले शाक पदार्थ विशेष हैं जिनमे विषैले फंगस मुख्य है।

आहारजन्य विषायणता (Food poisoning) भोजन करने के कुछ ही समय पश्चात् उपर्युक्त दशा अर्थात् वमन और दस्त प्रारंभ हो जाते हैं जो आमाशय और क्षुद्रान्त्र मे शोथ-उत्पत्ति के परिणाम होते है। हैजा, प्रवाहिका आदि दशाओं की गणना इस दशा मे नही की जाती। इस दशा का कारण आहार का किसी न किसी प्रकार विषाक्त हो जाना होता है। आहार पदार्थ स्वयं विषैला हो जैसे विषैला फंगस। आहार में कोई विष मिल जावे या आहार के अनुचित प्रकार से रखने से उसमे विष उत्पन्न हो जावे, जैसे टीन के डिब्बो मे बन्द आहार पदार्थों में कभी कभी हो जाता है। स्वयं संक्रमण आहार-पदार्थों मे पहुँच सकता है। तथा तृणाणुओं के कारण जीव विषों द्वारा वे पदार्थ विषायणता का कारण हो सकते हैं।

तृणाणुजन्य विषायणता दो प्रकार की होती है। (१) स्वयं तृणाणुओं के आहार मे पहुँच जाने से। ये तृणाणु प्रायः साल्मोनेला (salmonella) प्रकार के होते है, जैसे टायफाइड उत्पन्न करने वाले साल्मोनेला टायफोजा। ऐसे ही अन्य तृणाणु भी होते है। (२) आहार-पदार्थों मे जीव विष (Toxins) उत्पन्न करने वाला विशेषकर स्टेफिलो कोकस पायोजिनीज (staph. pyogenes) होता है और प्रायः ऐसे व्यक्ति द्वारा आहार मे पहुँचता है जो अपने व्रणयुक्त हाथों से उन पदार्थों को छूता है, बनाता है या रखता है या परोसता है। जब आहार-पदार्थ बनाकर रख दिये जाते हैं और वे कुछ समय तक गरम गरम बने रहते हैं तो उस दशा में तृणाणुओ की बहुत वृद्धि होती है। उनको रेफ्रीजरेटर मे रखने से तृणाणुवो की वृद्धि नही हो पाती।

यह स्मरण रखने योग्य है कि तृणाणुवों अथवा जीव विषों की जितनी अधिक मात्रा आहार के साथ आमाशय या आन्त्र मे पहुँचेगी उतना ही रोग उग्र होगा।

लक्षण—जी मिचलाना, वमन, पेट मे दर्द और अतिसार अर्थात् पतले दस्त आना ये ही इस दशा के विशेष लक्षण हैं। रासायनिक या धात्वीय विषों से विषाक्त आहार खाने पर वमन आधे घंटे के भीतर आरंभ हो सकते है। जीवविषजन्य विषायणता मे ६ से १२ घंटे मे लक्षण प्रकट होते है। और तृणाणुवो द्वारा संक्रमण से १२ से २४ घटे पश्चात् उत्पन्न होते हैं, जब तृणाणुवो की वृद्धि होकर उनकी संख्या बढ़ चुकती है।

दशा इतनी उग्र हो सकती है जैसे हैजा। वमन और दस्त इतने अधिक हो सकते हैं कि रोगी में जलाल्पता (dehydration) या निर्जलीभवन हो जाता है और हैजे की भांति अवसाद (shock) के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। ठंढा पसीना शरीर से निकलने लगता है। नाड़ी की गति तीव्र हो जाती है। रोगी की दशा विषम दिखाई देती है। किन्तु साधारणतया २४ घटे मे रोगी की दशा सुधर जाती है। तृणाणुवों द्वारा संक्रमण से रोग की उत्पत्ति शनैः शनैः होती है। उसमें ताप बढ जाता है। जीवविष और रासायनिक वस्तुजन्य रोग मे ताप अतिन्यून होता है। तृणाणुजन्य रोग में रोगी को रोगमुक्त होने में भी कई दिन लग जाते हैं।

रोग की पहिचान—रोग भोजन करने के पश्चात् अल्प समय मे प्रारंभ हो जाता है। रोगग्रस्त होने वाले बहुत से व्यक्ति होते है जिन्होंने भोजन किया था। ऐसी दुर्घटनायें प्रायः दावत या पार्टियों के पश्चात् होती हैं और रोगी एक ही स्थान पर बने हुवे भोजन को खाने वाले होते है। सब ही साथ रोगग्रस्त होते हैं।

बालको में विशेषतया उग्रोदर (acute abdomen) को पहिचानना आवश्यक है। जहां भी हो सके वमन तथा मल की परीक्षा रोगोत्पादक जीवाणुवो को जानने के लिये करवानी चाहिये।

चिकित्सा—चिकित्सा बहुत कुछ लक्षणानुसार की जाती है। रोग स्वयं परिमित होता है। यदि रोगी को कुछ समय तक जल, शर्बत, फलों का रस और लवण विलयन (हलका, तनु) आदि पेयों के अतिरिक्त कुछ न दिया जाय तो दो-तीन दिन में रोगी रोगमुक्त हो जाता है।

रोगी को शय्यारूढ़ करके उसके शरीरताप की कम्बलो और आवश्यक हो तो गरम पानी की रबड़-बोतलों को लगाकर रक्षा की जाय। दूसरा आयोजन उसके शरीर के द्रवों की पूर्ति मुंह द्वारा द्रव दे कर अथवा शिरा द्वारा द्रवाधान से अत्यन्त आवश्यक है। वमन के लिये बरफ के टुकडे चूसने को दिये जायँ। दस्तों के अधिक होने पर केओलिन (kaolin) मुंह से खिलाई जाय। यह एक श्वेतरंग का बहुत बारीक खड़िया के समान चूर्ण होता है। इसकी

एक बड़ी चम्मच भर कर (१५ ग्राम या ½ औंस) प्रति दो घंटे पर जल के साथ खिलाई जाय। कोडीन, ३० से ६० मिलीग्राम, दिन में तीन या चार बार देना भी लाभदायक सिद्ध होता है। प्राय प्रतिजीवियों से कोई लाभ नही होता। दशा दारुण होने पर यदि रक्तविषमयता (septicaemia) का सन्देह हो तो क्लोरेम्फिनिकौल उपयोगी प्रमाणित हो सकता है। दशा उन्नत होने पर रोगी को हलका आहार दिया जा सकता है। बिस्कुट, पतली घुटी हुई खिचड़ी, डबल रोटी मक्खन के साथ तथा ऐसे स्निग्ध पदार्थ तथा नरम फल दिये जा सकते हैं।

बद्धान्त्र (Intestinal obstruction)

यह एक शल्यसम्बन्धी रोग है जिसमें प्रायः शस्त्र कर्म की सहायता लेनी पड़ती है। तो भी प्रथम बार रोगी को देखने का अवसर बहुधा चिकित्सक ही को मिलता है। रोगी अपने पारिवारिक चिकित्सक ही के पास आता है या चिकित्सक को उसके घर जाकर रोगी को देख कर और पूर्ण परीक्षा करके यह निर्णय करना होता है कि रोगी का तुरन्त ही शल्योपचार आवश्यक है अथवा औषधोपचार के फल की प्रतीक्षा करना अभीष्ट होगा। यदि ऐसा निर्णय किया जाय तो भी प्रारम्भ ही से किसी सर्जन के साथ परामर्श करके उपयुक्त चिकित्सा का आयोजन उचित है। इस रोग मे मृत्यु अधिक होती है और किसी भी समय आपरेशन करना आवश्यक हो सकता है। इस कारण रोगी को अस्पताल में पहिले ही से रखना उचित है। अनिवार्य होने पर वहाँ तत्काल ही आपरेशन का आयोजन हो सकता है।

रोग को शीघ्र ही पहिचानना चिकित्सक का कर्तव्य है। इसी लिये शल्य रोग होने पर भी इसका यहाँ संक्षेप से वर्णन किया जाता है।

बद्धान्त्र वह दशा है जिसमें आन्त्र में किसी स्थान पर किसी कारण से अवरोध उत्पन्न हो गया है जिससे उसके भीतर की अन्तर्वस्तु आगे को प्रवाहित नहीं हो पाती। वहीं पर रुक जाती है। इसके कई प्रकार के कारण हो सकते हैं। वास्तव में बद्धान्त्र एक रोग नहीं है। यह कई प्रकार की आन्तरिक विकृतियों से उत्पन्न हुआ एक लक्षणपुंज मात्र है। अतएव सफल चिकित्सा के लिये उन विकृतियों को दूर करना आवश्यक होता है। किन्तु चिकित्सक को तुरन्त चिकित्सा का आयोजन करने के लिये दो प्रकार की दशाओं को पहिचान लेना चाहिये। १—क्या बद्धान्त्र यान्त्रिक (mechanical) है, अर्थात् किसी प्रकार के अर्बुद बन जाने, बन्ध (band) बनकर उसके आन्त्र पर कस जाने, आन्त्र में मोड़ पड़ जाने आदि कारणों से आन्त्र का मार्ग अवरुद्ध हो गया है।

२—अथवा आन्त्र का अंगघात (paralysis) होने से आन्त्रगति (peristalsis) बन्द हो गई है और उसके कारण अन्तर्वस्तु का प्रवाह रुक गया है। इन दोनों दशाओं की चिकित्सा भिन्न-भिन्न प्रकार से की जाती है।

रोग के इन दोनों विशिष्ट प्रकारो को समझने के पश्चात् इसका निर्णय करना चाहिये कि अवरोध या बद्धान्त्र की स्थिति कहाँ है। क्षुद्र आन्त्र के मध्यांश (Jejunum) में है या शेषांश (Ileum) मे अथवा बृहदान्त्र में है। एक और दशा जिसको शीघ्रातिशीघ्र पहिचान लेना भी आवश्यक है वह बन्धता (strangulation) है। इस दशा मे अवरोध के स्थान पर आन्त्र की भित्तियों की रक्तवाहिका में तथा नाड़ियों पर दबाव पड़ने से, उन पर बन्ध सा लग जाने से रक्तसंचार बन्द हो जाता है तथा नाड़ियों के निष्क्रिय हो जाने से आन्त्र का पोषण रुक जाता है। इस दशा मे तत्काल आपरेशन करके बन्धता को दूर करना आवश्यक होता है।

रोग के कारण

अ. यान्त्रिक.

१. बन्ध या जोड़, जो उदर के भीतर के दो अंगों या पर्युदर्याकला और अंगो के बीच मे पहिले किसी समय हुए शोथ के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। ये बन्ध तान्तव या सौत्रिक ऊतक (fibrous tissue) के बने पतली रज्जु के समान होते हैं। जब दो अंगों या पर्युदर्या और एक अंग के बीच मे बने हुए ऐसे बन्ध के नीचे आन्त्र का एक भाग आ जाता है तो वह बन्ध द्वारा इतना दब सकता है कि वहाँ की रक्तवाहिकाये और नाड़ियाँ कुचल सी जाती हैं। कभी-कभी ये बन्ध आन्त्रपाश (loop of intestine) पर गाँठ के समान लिपट जाता है और फाँसी जैसा काम करता है।

इस दशा में बन्ध को काट कर आन्त्रपाश को तुरन्त मुक्त करना आवश्यक है।

२. हर्निया—बन्ध के पश्चात् हर्निया बद्धान्त्र का कारण होती है। हर्निया बाह्य (external) और आन्तरिक (internal) दोनो प्रकार की हो सकती है। जब आच्छादक कला के किसी छिद्र द्वारा आन्त्र का एक पाश उदर से बाहर निकल जाता है जैसे वंक्षणी हर्निया में जिसमे आन्त्रपाश अण्डकोश मे उतर जाता है तो वह **बाह्य हर्निया** कहा जाता है। जब यह घटना उदर के भीतर ही की किसी कला द्वारा घटती है तो वह **आभ्यन्तर हर्निया** कहलाती है। दोनों मे आन्त्रपाश के प्रारम्भ पर फासी-सी लग जाती है।

यह दशा भी तत्काल आपरेशन द्वारा दूर करनी आवश्यक होती है।

३. **बृहदान्त्र का कैंसर**—इसके कारण बृहदान्त्र ही मे तथा क्षुद्रान्त्र का भी अवरोध हो सकता है। बृहदान्त्र ही के भीतर अर्बुद-पिण्ड इतना बड़ा हो जाय कि वह आन्त्रमार्ग को रोक दे। अथवा अर्बुद बाहर की ओर को बढने वाला पिंड हो। तब क्षुद्रान्त्र के किसी भी समीपस्थ पाश पर उसका इतना दबाव पड सकता है कि उसके केवल दब जाने से अन्तर्वस्तु वहाँ से आगे को प्रवाह न कर सके। इससे दबे हुए स्थान से ऊपर के भाग में मल एकत्र होने से वह भाग विस्तृत हो जाता है।

४. **वौलवूलस** (volvulus)—यह वह दशा है जो आन्त्र के एक पाश के अपने ही अक्ष पर घूम जाने से उत्पन्न हो जाती है। यदि हम एक रबड़ की या मोटे वस्त्र, कैनवास आदि की नलिका को एक या दो फुट के अन्तर पर दोनों हाथों में पकड़ कर उस ही के अक्ष पर घुमावे तो उस नलिका में हमारे हाथों द्वारा पकडे हुये दोनों स्थानों पर मोड़ पड़ जायेंगे। नलिका के बीच के भाग का मार्ग तो खुला रहेगा, किन्तु जहाँ हम उसको दोनो हाथों मे पकड़े हुए थे नलिका के उन दोनो सिरों पर मोड़ पड़ जाने से वहाँ मार्ग बन्द हो जायगा। न आने का मार्ग रहेगा न जाने का। बीच के भाग मे जो भी वस्तु है वह वही रह जायगी। किसी भी सिरे से नही निकल सकेगी। वौलवूलस यही दशा होती है जिससे आन्त्र पाश के भीतर की वस्तु वही फँस जाती है।

५. **अन्तर्निवेशन** (intussusception)—यह उस दशा का नाम है जब आन्त्र का एक भाग अपने से ऊपर के भाग मे धँस जाता है। उसके भीतर कुछ दूर तक प्रविष्ट होता चला जाता है। यह दशा बच्चों मे अधिक होती है। कभी कभी यह दशा स्वयं सुधर जाती है। ऐसा भी होता है कि आन्त्रनलिका के स्तर (भीतर जानेवाला, लौटने वाला और बीच का) आपस में जुट जाते हैं और बीच का मार्ग फिर से बन जाता है।

६. **आन्त्र मे बाह्य वस्तुएँ** (foreign bodies)—पित्ताश्मरी तथा आन्त्र से उत्पन्न होने वाली अश्मरियो (enteroliths) से बद्धान्त्र उत्पन्न होते देखा गया है।

क **अंगघातजन्य बद्धान्त्र** (paralvtic ileus)—इस का कारण प्राय: पर्युदर्या का शोथ होता है जिससे जीवविषयुक्त स्राव बन कर उदर मे एकत्र होकर वहाँ की नाड़ी जालिकाओ (nerve plexuses) को शिथिल कर देती है। उदर के अन्य अन्तरागों के पूयज संक्रमण जन्य शोथ का भी यही परिणाम होता है। उदर मे तीव्र शूल से भी आत्र शिथिल हो

जाता है। पैप्टिक व्रण के विदार तथा आपरेशनों के पश्चात् भी यह दशा उत्पन्न हो जाती है।

इस दशा में आन्त्रगति बन्द हो जाती है। इस कारण उदर मे कोई शब्द नहीं होता है। स्टेथिस्कोप से सुनने पर उदर शब्दहीन या 'शान्त' (silent) मिलता है। यांत्रिक बद्धता मे उदर में होने वाली ध्वनि बहुत बढ जाती है। गड़गड़ाहट के बड़े तीव्र शब्द सुनाई पड़ते हैं।

लक्षण—१. मल का अत्याग, कब्ज— मल त्याग न होगा यही विशेष लक्षण है। साधारण कब्ज या कोष्ठबद्धता में भी मलत्याग नही होता। कई कई दिन तक कब्ज बढ़ता है। किन्तु उससे कोई विशेष हानि नही होती। किन्तु बद्धान्त्र मे मल रुकने के साथ ही पीड़ा तथा कारणानुसार हलके या गंभीर अवसाद (shock) के लक्षण प्रगट हो जाते हैं। जितना बन्ध कड़ा होता है उतनी ही नाड़ियों और रक्तवाहिकाओं को क्षति अधिक पहुँचती है और उतना ही अवसाद गाढ़ा होता है जिसमे नाड़ी की गति तीव्र हो जाती है। ठण्ढा पसीना आने लगता है और रक्तदाब कम हो जाता है। प्रारम्भ में अतिसार हो सकता है। पतले दस्त आ सकते हैं। यह मल आन्त्र के अवरोध के नीचे के भाग से आते हैं। जब नीचे की सारी आन्त्र रिक्त हो जाती है तो दस्त आने बन्द हो जाते हैं और पूर्ण कब्ज हो जाता है।

२. पीड़ा—शूल के समान पीड़ा होती है। प्रारंभ मे पीड़ा ठहर ठहर कर होती है। किन्तु आगे चलकर वह संतत हो जाती है। सदा होती रहती है। बंधता (strangulation) में अत्यंत तीव्र और निरन्तर पीड़ा होती है। अंगघातजन्य बद्धान्त्र मे पीड़ा नही होती अथवा बहुत थोड़ी होती है। पीड़ा का कारण आन्त्र मे होने वाली गतियों की क्रमहीनता होती है। जहाँ स्वस्थ दशा में ये गति तरंगो के रूप में आन्त्र के एक सिरे से दूसरे सिरे तक चली जाती थी, वहा बद्धान्त्र होने पर अवरोध के स्थान पर उनका क्रम अस्त-व्यस्त हो जाता है। उनकी दिशा मे भी क्रमहीनता आ जाती है। इससे पेशीतन्तुओं के संकोचों की शृंखला बिगड़ जाती है और अनियमित सूत्रसंकोचों से नाड़ीसूत्रों के उलटा-सीधा दबने से पीड़ा होती है।

३- वमन—अवरोध जितना ऊँचा होता है, ग्रहणी के पास होता है, उतने ही वमन होते हैं। बृहदान्त्र के बद्ध होने में वमन बहुत कम होते हे। मध्यांश के प्रथम भाग के बन्ध द्वारा बंधित (strangulation by band) होने से वमनों की अत्यधिकता हो जाती है। और वमन बड़े बड़े होते हैं। प्रथम दो एक वमनों में जो कुछ आमाशय मे होता है वह

निकलता है। उसके पश्चात् आमाशयिक स्राव निकलता है। तब वमन में पित्त निकलने लगता है। और ग्रहणी से पक्काहार लौट कर आमाशय में आने लगता है। वमन दुर्गन्धि युक्त होता है। अन्त मे वमन का रंग और गंध मल के समान हो जाते है और रोगी की मृत्यु के कुछ समय पूर्व मल के टुकड़े निकलने लगते हैं। मालूम होता है बन्ध से ऊपर के भाग में प्रत्यान्त्रगति (antiperistalsis) होने लगती है। आन्त्र-गतियों की दिशा आमाशय की ओर को होती है जिससे आन्त्र के अवयव आमाशय में पहुँच जाते हैं। वमन न केवल निरन्तर और बड़े-बड़े होते है किन्तु वह रोगी के बिना प्रयास ही के होते हैं। द्रव मुँह में भर आता है और सहज ही मे वमन हो जाता है। शेषान्त्र मे बद्धता होने से इतने अधिक वमन नहीं होते और सबसे कम बृहदान्त्र के रोग मे होते हैं।

वमन द्वारा विशेषतया और दस्तों द्वारा भी शरीर के द्रवों और लवणो की अत्यन्त हानि होती है। यह अनुमान किया गया है कि २४ घंटे मे ८ लिटर केवल पाचक रसों की हानि होती है। इसके अतिरिक्त आन्त्र के विस्तृत भाग मे, अवरोध के स्थान से ऊपर जितना द्रव एकत्र होता है वह भी शरीर से बाहर समझना चाहिये। स्वेद द्वारा भी जल की हानि होती है। इससे शरीर का निर्जलीभवन हो जाता है। इस जल और लवणाल्पता का शरीर पर घातक प्रभाव होता है। बच्चे उसको सहन करने मे नितान्त असमर्थ होते हैं। दूसरी आयु के व्यक्तियों मे भी यह पाया गया कि यदि लवण और जलाल्पता की दशा दूर कर दी जाय तो बहुत से रोगी (यान्त्रिक अवरोध के अतिरिक्त) रोगमुक्त हो जाते हैं। अंगघातजन्य बद्धान्त्र की तो यही चिकित्सा है। यांत्रिक बद्धान्त्र, चाहे किसी कारण से हो, जब तक रोगी की जल और लवण क्षति की पूर्ति नहीं की जाती तब तक वह आपरेशन करने पर भी स्वास्थ्यलाभ नहीं कर सकता। बद्धान्त्र रोग मे अंगविकृति (pathology) को मालूम करने का बहुत प्रयत्न किया गया। किन्तु यही लवण और जल की त्रुटि ही विशेष विकृति मिलती है।

अतएव रोगी के शरीर से त्यक्त हुवे द्रवो तथा मुख द्वारा या शिरा द्वारा रोगी के शरीर मे प्रविष्ट द्रवो का पूरा पूरा ब्यौरा रखना उचित है। शरीर से जितने द्रवकी हानि हुई है उतना द्रव पर्याप्त लवणों सहित शरीर मे पहुँचाना परम आवश्यक है।

५. नाड़ी (Pulse)—ज्यों ज्यों वमन और दस्तों द्वारा शारीरिक द्रवों की हानि होती है और पीड़ा अधिक होती है त्यों त्यों अवसाद की दशा बढ़ती

है। अतएव नाड़ी की गति तीव्र होती चली जाती है। वह लघु भी हो जाती है, भरी हुई नहीं खाली प्रतीत होती है। हल्के से अंगुलियों से दबाने से दब जाती है। रुधिरदाब (blood pressure) निरन्तर गिरता जाता है।

६. श्वास—की गति भी बढ़ती जाती है। श्वास उथले आते हैं। उनकी गहराई कम हो जाती है। वक्ष से ही रोगी खींच कर श्वास लेता है। आन्त्र-पाशों में गैस के एकत्र होने से रोगी को उदर भरा और फूला हुवा प्रतीत होता है। इस कारण वह वक्ष ही से अधिक काम लेता है।

७. स्वेद— जितना अवसाद अधिक होता है उतना ही ठंढा स्वेद अधिक आता है। माथे पर और हाथों, बाहुवों, टांगों पर भी आने लगता है। अन्त में वक्ष और उदर पर भी ठंढा स्वेद छा जाता है।

८. ताप— शरीरताप की निरन्तर हानि होती रहती है। अवसाद जितना अधिक होता है उतना ही ताप कम होता है।

९. रुधिरदाब— अवसाद के साथ रुधिरदाब का ह्रास ऊपर बताया जा चुका है।

४—आध्मान (meteorism)—बद्ध आन्त्रपाश में उपस्थित मल शीघ्र ही द्रवीभूत हो जाता है। आन्त्रभित्तियों की रक्तवाहिकाओं से भी द्रव खिंच आता है। इससे द्रव की मात्रा और भी बढ़ जाती है। किन्तु इसका प्रवाह न होने के कारण उसमें घुली हुई गैसें उससे पृथक् हो जाती हैं। उसके किण्वीकरण (fermentation) से भी गैसें उत्पन्न होती हैं। इन गैसों के एकत्र होने से आन्त्रपाश विस्तृत हो जाते हैं और उदर फूल जाता है। आन्त्र में अवरोध की स्थिति के अनुसार उदर का भाग फूला हुवा दीखता है। क्षुद्र आन्त्र के अवरोध में उदर का बीच का भाग अधिक फूला होगा। बृहदान्त्र के अवरोध में उदर के पार्श्व तथा अनुप्रस्थ बृहदान्त्र के क्षेत्र फूले दीखेंगे। आरोही बृहदान्त्र में दाहिना पार्श्व, दाहिने श्रोणिखात (right ilesc fossa) से ऊपर यकृत तक बाहर को निकला होगा अवरोही बृहदान्त्र के निचले भाग में अवरोध से बाया पार्श्व विस्तृत दीखेगा और अनुप्रस्थ के अवरोध से उदर के ऊपर के भाग में आरपार फूला हुवा आन्त्रपाश दिखाई देगा।

रोग के उदर की दैहिक परीक्षा करना उचित है, विशेषतया हर्निया के लिये। जिन जिन स्थानों में हर्निया हो सकती है उन सबों की परीक्षा करनी चाहिये। उदर में कहीं कोई पिंड तो स्पर्श्य नहीं है। उदर का विस्तार कौन से भाग में अधिक है। आन्त्र के विस्तृत पाश उदरभित्तियों द्वारा दिखाई दे सकते हैं। जीर्ण बद्धान्त्र का यह विशेष चिह्न है। परिश्रवण द्वारा आन्त्र

मे होने वाले शब्दों का श्रवण आवश्यक है। इसमें शान्त या कोलाहल युक्त उदर का पता लगेगा। गुदपरीक्षा (rectal examination) भी आवश्यक है विशेषकर बालकों में जिनमें बहुधा अन्तर्निवेशन बद्धान्त्र का कारण होता है। अंगुलि को अन्तर्निविष्ट पिंड प्रतीत हो सकता है जिसमें अंगुलि मे रक्त लग जायगा। इस दशा में प्रायः बालकों को रक्त और श्लेष्मा मिश्रित पतले दस्त आते है। अथवा केवल रक्त और श्लेष्मा निकलते हैं।

एक्स-रे द्वारा गैस की उपस्थिति को देख कर अवरोध की स्थिति का अनुमान संभव है।

चिकित्सा—इस दशा की चिकित्सा का उपयुक्त स्थान अस्पताल है। यान्त्रिक बद्धान्त्र में उदर खोलना सदा आवश्यक होता है। जो अन्य आयोजन करने होते हैं उनकी सुविधा अस्पताल ही में होती है। यदि घर पर ही कुछ समय तक चिकित्सा कराने का निश्चय हो तो भी चिकित्सक को परामर्श के लिये सर्जन को अपने साथ रखना चाहिये।

यदि यह निश्चय हो जाय कि अवरोध यान्त्रिक कारणों से, विशेषकर बन्ध द्वारा या हर्निया के कारण है तो तुरन्त ही आपरेशन आवश्यक है। अधिकतर रोगियों मे हर्निया ही अवरोध का कारण पाया जाता है जिसको शीघ्रातिशीघ्र आपरेशन करके दूर करना चाहिए। अतएव ऐसी दशा में आपरेशन का जितना भी जल्दी आयोजन हो सके उत्तम है। ज्यों ज्यों समय निकलता है त्यों त्यों रोगी की दशा क्षीण होती जाती है और रोगी के स्वास्थ्य लाभ के अवसर कम होते जाते हैं। यदि चिकित्सक के रोगी को देखने से पूर्व ही अधिक समय निकल चुका है तो वमन आदि द्वारा रोगी की दशा पहले ही क्षीण हो चुकी होगी। ऐसे रोगी की सामान्य दशा को उन्नत करके उसको इस योग्य बनाना होगा कि वह आपरेशन को सहन कर सके।

रोगी की दशा को उन्नत करने के लिये तथा अंगघातजन्य बद्धान्त्र की चिकित्सा के लिये दो आयोजन नितान्त आवश्यक हैं।

(१) रोगी के द्रवों और लवणों की क्षति की पूर्ति।

(२) बद्ध आन्त्रपाश में एकत्र हुवे स्राव या द्रवों को वहां से हटाना, आन्त्र को जितना भी मलरहित किया जा सके करना।

१. गत पृष्ठों में जैसा बताया जा चुका है जल और लवणों की हानि रोगी की क्षीणता का विशेष कारण होती है। अंगघातजन्य दशा की तो केवल यही चिकित्सा है। साथ ही कुछ आन्त्रगति उत्तेजक औषधियों का भी प्रयोग किया जा सकता है जिनमे नियोस्टिग्मीन (neostigmine) मुख्य है।

रोगी के शरीर से जल और सोडियम क्लोराइड की विशेष हानि होती है। साथ में पोटासियम क्लोराइड का भी त्याग संभव है और कम-वेश मात्रा मे सदा होता है। जल और सोडियम क्लोराइड लवण-विलयन के रूप में शिरा द्वारा पहुँचा कर उनकी कमी को पूरा किया जाता है। पोटासियम क्लोराइड को भी लवण-विलयन में मिलाया जा सकता है। किन्तु जहा पोटासियम क्लोराइड की कमी स्वयं आन्त्रगतिक्षीणता तथा पेशीदौर्वल्य उत्पन्न कर सकती है वहा पोटासियम की अधिकता भी हानिकारक होती है। इस कारण जहा भी संभव होता है रक्त के सीरम में उपस्थित पोटासियम की मात्रा मालूम की जाती है जिससे पोटासियम की हानि का अनुमान हो जाय। किन्तु जहा ऐसी प्रयोग-शालाओं की सुविधा उपलब्ध नही होती वहाँ केवल अनुमान से काम लेना पड़ता है। स्वस्थ रक्त में १४–२१ मिली ग्राम पोटासियम तथा ३१०–३४५ मिलीग्राम सोडियम प्रति १०० मि० लिटर सीरम उपस्थित होते हैं। जो सोडियम क्लोराइड के रूप में ५८५–६३० मि. ग्राम समझना चाहिये। इसके अनुसार शरीर से त्यक्त द्रवों की मात्रा के अनुसार लवणो की आवश्यक मात्रा का अनुमान करना होता है। सामान्य दशा में १ पाइन्ट सामान्य लवण-विलयन सायं और प्रात. दिया जाता है। दशा की क्षीणता के अनुसार मात्रा बढाई जा सकती है। रोगी के शरीर से वमन आदि द्वारा त्यक्त द्रवों और मुख तथा शिरा द्वारा प्राप्त द्रवों का एक चार्ट बनाना आवश्यक है जिससे द्रवहानि का ठीक ठीक अनुमान हो सके। द्रवाधान की विधि, मात्रा, सघटन आदि का पूर्ण विचार नव्य चिकित्सा-विज्ञान भाग १ में पृष्ठ १६–२४ मे किया गया है।

(२) दूसरा आवश्यक आयोजन आन्त्र मे एकत्र द्रवमात्रा को निकालना है। यह द्रव द्रवीभूत मल से युक्त होने के कारण अत्यन्त विषैला होता है। उसमे अनेक वायवीय तथा अवायवीय तृणाणु होते हैं जो जीवविषों की उत्पत्ति करते हैं, गैसें भी बनाते हैं। इन विषों के प्रभाव से आन्त्र का अंगघात हो जाता है। आन्त्रभित्तियाँ प्रारंभ में आन्त्रगति को बढाकर पेशियो के तीव्र संकोचों द्वारा इस विषैले द्रव को बाहर निकाल देने का प्रयत्न करते है। किन्तु निकालने में सफल न होने के कारण विषो के प्रभाव से आन्त्रपेशी शिथिल हो जाती ह और अन्त को वे गलने लगती हैं। उनका कोथ (gang-rene) हो जाता है।

इस विषैले एकत्रित द्रव को आन्त्र में एक रवड़ की नली को प्रविष्ट करके उससे खीचा जाता है। यह क्रिया निरन्तर २४ या ४८ घटे अथवा इससे भी अधिक समय तक जारी रखनी पड़ती है। इस कारण इस नली के बाहर के सिरे पर एक स्वचालित चूपक यन्त्र या पम्प लगा दिया जाता है जो भीतर के द्रव को खीचता रहता है।

दो प्रकार की नलिकाये काम में लाई जाती हैं। एक को मिलर-रॉबट नलिका कहते हे। इसकी पतली नलिका के भीतर दो मार्ग होने है जो एक पतले रबड़ के पटल द्वारा विभक्त होते है। एक भाग के अन्त पर एक छोटा ना किन्तु इतना बड़ा कि फूलने पर वह आन्त्रभित्ति पर दबाव डाल सके, बैलून लगा होता है। दूसरे मार्ग का मुंह बैलून से बाहर किन्तु उसके पास ही खुला होता है। जब नली का यह सिरा आन्त्र के बद्ध भाग मे पहुंच जाता है तो इस मार्ग से वहा एकत्र द्रव पम्प द्वारा खिच कर बाहर आने लगता है। दूसरा मार्ग बैलून मे वायु भरने के लिये होता है जिससे बैलून फूल जाता है और आन्त्रभित्तियों के सम्पर्क मे आता है।

इस नली को प्रविष्ट करना कुछ कठिन होता है। उसके लिये थोड़ा अनुभव और धैर्य की आवश्यकता है। नासिका और वायुमार्गों को २ प्रतिशत एमिथोकेन विलयन द्वारा संज्ञाहीन करके नली के बैलून वाले अग्र भाग को, वायु निकाल कर, एक नासारंध्र के द्वारा प्रविष्ट किया जाता है। धीरे धीरे नली रन्ध्र के पश्चिम द्वार मे होती हुई, कोमल तालु पर से निकल कर ग्रसनी और तत्पश्चात् ग्रासनाल को पार करके आमाशय मे प्रवेश करती है जहां वह पायलोरस के एन्ट्रम मे पहुँचती है जिसके दूसरे सिरे पर पायलोरस का कपाटिकायुक्त द्वार है। यहां पर नलिका को द्वार में प्रविष्ट कराना कठिन होता है। एक्सरे के प्रतिदीप्ति पट्ट (fluoroscopic screen) द्वारा देखकर उपयुक्त हस्त व्यापार से नलिका को पायलोरस द्वार में प्रविष्ट करने में सुगमता होती है। रोगी को एक्स-रे के कमरे मे मेज पर दाहिनी करवट से लिटाकर एक्स-रे ट्यूब या मशीन को रोगी की पीठ के पीछे और स्क्रीन को पेट के सामने रखकर मिलर-रावट नलिका की गति को चिकित्सक आमाशय के भीतर देखता रहता है। इस समय रोगी के घूँट घूँट कर जल पीने से नलिका को पायलोरस द्वार को पार करने मे सहायता मिलती है। नलिका के ग्रहणी (डूओडिनम) में प्रवेश करने पर उसके बैलून को फुला दिया जाता है और पम्प द्वारा चूषण भी प्रारम्भ कर दिया जाता है। बैलून के फूलने से उसके आन्त्रभित्तियो के सम्पर्क मे आने से आन्त्रगति का उद्दीपन होता है। वे तेजी से होने लगती हे जिससे बैलून को आगे बढने में सहायता मिलती है और वह शीघ्र ही अवरोध के स्थान के ऊपर के विस्तृत स्थान पर पहुँच जाता है जहाँ द्रवीभूत मल एकत्र है। बस इस दुर्गन्धित द्रव का नलिका के बाहरी सिरे से निकलना प्रारम्भ हो जाता है। इस द्रव को माप लेना चाहिये। क्योंकि शरीर से निकले हुए द्रवो के बराबर लवणविलयन रोगी के शरीर में पहुँचाना आवश्यक है।

एक दूसरे प्रकार की नलिका भी होती है जिसके सिरे पर बैलून नहीं होता। यह लेवीन नलिका (levine tube) कहलाती है। इसको प्रविष्ट करने मे विशेष कठिनाई नही होती। आमाशय में पहुँचने पर चूषण प्रारम्भ कर दिया जाता है। धीरे धीरे बढकर यही बद्धान्त्र में पहुँच जाती है।

जिस समय चूषण के द्वारा बद्धान्त्र का द्रव बाहर निकलता रहता है। उस समय शिरा द्वारा लवण-विलयन रक्त मे पहुँचाते रहना चाहिये।

उपयुक्त दशा (असम्पूर्ण बद्धान्त्र) मे आक्षेपकों को दूर करने के लिये ऐट्रोपीन १ मिलीग्राम अन्तर्शिरीय मार्ग से देने से बहुत लाभ होता है। आन्त्र में गड़गड़ाहट की ध्वनि तथा पीडा सब शान्त हो जाते है।

अंगघातजन्य बद्धान्त्र प्रायः पर्युदर्या कला-शोथ के कारण होता है जो स्वयं आमाशय या आन्त्र विदार या अन्य अंगों के उग्रशोथ का परिणाम हो सकता है। अतएव इस दशा की चिकित्सा भी आवश्यक है। शोथ प्रायः संक्रमण के कारण उत्पन्न होता है। इस कारण प्रतिजीवियों (antibiotics) का उपयुक्त मात्रा मे प्रयोग आवश्यक है।

आपरेशनों के पश्चात् भी इस प्रकार का बद्धान्त्र हो जाता । ऐसी दशा में आंत्रगति को बढाने के लिये ०·५ मिलीग्राम नियोस्टिगमीन प्रत्येक छै घंटे पर अधस्त्वक् इंजेक्शन द्वारा दी जा सकती है। इस दशा की चिकित्सा मे आपरेशन का कहीं भी स्थान नहीं है क्योंकि वह केवल नाड़ियों की शिथिलता के कारण उत्पन्न हुई है। उसकी चिकित्सा के केवल दो ही उपाय हैं। द्रवाधान तथा चूषण द्वारा आन्त्र को रिक्त कर देना जिसको **निसंपीडन** (decompression) कहते हैं तथा नियोस्टिगमीन अथवा तत्सम औषधियो द्वारा आन्त्रगति की उत्तेजना।

आध्मान भी कभी कभी बहुत कष्टदायक होता है। आन्त्र मे वायु भरने से आन्त्र फूल जाती है। साधारणतया क्षुद्रान्त्र में वायु नहीं होती। वह आन्त्र में उपस्थित अन्तर्वस्तु में घुली रहती है। जब अन्तर्वस्तुये वहां एकत्र हो जाती हैं, उनका वहा से प्रवाह नहीं होता तो वायु से नाइट्रोजन पृथक होकर आन्त्र पाशों में भर जाती है। जब तक आन्त्रगति होती रहती है तब तक ऐसा नहीं होता। आन्त्रगति के शिथिल होने पर आन्त्रपाशों में नाइट्रोजन भर कर उनको फुला देती है जिससे रोगी को बहुत बेचैनी होती है।

आक्सीजन सुंघाने से इस दशा मे बहुत लाभ होता है। किन्तु आक्सीजन को पूर्णमात्रा मे उसकी सान्द्रता कम किये विना सुंघाना चाहिये। एक B. L. B. मास्क द्वारा आक्सीजन इस गति से सुंघाई जाय कि १ मिनट मे ६ लिटर आक्सीजन रोगी सूंघते। यदि मास्क न हो तो नासारन्ध्र मे रबड़ केथिटर डाल कर उसके द्वारा दी जाय।

उग्रोदर (Acute abdomen)

इस शब्द का बहुत समय से प्रयोग होता आया है। इस कारण यह सार्थक हो गया है। किन्तु इससे किसी रोग का बोध नहीं होता। यह केवल इसका सूचक है कि रोगी के उदर के भीतर कोई दारुण विषम-दशा उपस्थित है जिससे उसका जीवन संकट मे है और उसका तत्काल उपचार आवश्यक है। ऐसी दशा उदर के भीतर कितने ही रोगों के कारण उत्पन्न हो सकती है। अतएव उग्रोदर केवल एक लक्षणसूचक शब्द है जिससे रोगी की संकटमय अवस्था समझनी चाहिये। और चिकित्सक को दशा के कारण का शीघ्रातिशीघ्र पता लगाकर उसके शमन का तत्काल आयोजन करना चाहिये।

इस दशा के कारणों को तीन समूहों में विभक्त किया जा सकता है। (१) उदर के अभ्यन्तरांगों मे उग्र शोथ, (२) उदर के भीतर रक्तवाहिकाओं सम्बन्धी रोग और (३) उदर शूल (colics)

१. अभ्यन्तरांगों का उग्रशोथ या दशा—इस प्रकार का सबसे अधिक होने वाला रोग पर्युदर्या शोथ है। आमाशय या ग्रहणी के विदार से तुरन्त उस रोग के लक्षण प्रगट हो जाते हैं। विदार स्वयं पीड़ारहित होता है किन्तु अंग की अन्तर्वस्तु के पर्युदर्या के सम्पर्क के कारण तत्काल पीड़ा उत्पन्न होती है और अन्य लक्षण प्रगट हो जाते हैं। किन्तु बृहदान्त्र के विदार से लक्षणों के प्रगट होने मे विलम्ब होता है। इतने शीघ्र नहीं प्रगट होते। पित्ताशय, अग्न्याशय तथा उण्डुक के उग्र शोथ (cholecystitis, pancreatitis, appendicitis) मे भी यही दशा होती है। इन सबो में प्रारंभ मे बद्धान्त्र के से लक्षण होते हैं क्योकि शोथ के कारण उत्पन्न हुवे विषैले स्राव से आन्त्र का अंग घात हो जाता है। स्वयं बद्धान्त्र की भी इसी दशा मे गणना की जाती है।

(२) रक्तवाहिकाओं के रोग—आन्त्रसंयोजनी (mesentery) की वाहिकाओं में रक्त का जमना जिसको **घनास्रता** (thrombosis) कहा जाता है, वाहिकाओं का गुल्म (aneurysm), और डिम्बवहा गर्भ (ectopic gestation) का विदार (rupture) ये तीन मुख्य दशायें हैं जिनसे उग्रोदर होता है।

संयोजनी घनास्रता अधिकतर वृद्ध जनों मे होती है जिनमे वाहिकाओ मे धमनी-काठिन्य होता है। उदर मे तीव्र शूल होता है। रक्तयुक्त पतले दस्त आ सकते है या गुदा द्वारा रक्त आ सकता है।

ऐन्यूरिज्म (व्यवच्छेदक प्रकार के) मे रक्त रक्तवाहिका के स्तरों के बीच मे

किसी छिद्र या रोग से क्षत स्थान पर छेदन करके घुस जाता है और स्तरों को एक दूसरे से कुछ दूर तक पृथक् करता चला जाता है। वह पेशीस्तर द्वारा बहिः स्तर के नीचे पहुँच सकता है। और इस स्तर के पतला या दुर्बल होने के कारण उसके फटने से बाहर आ सकता है। रोगी को तीव्र पीड़ा होती है जो उदर में सामने तथा पीठ में फैल जाती है। नीचे ऊरु में फैल सकती है। रोगी की सामान्य दशा बड़ी ही चिन्ताजनक होती है।

डिम्बवहा में स्थापित गर्भ में प्रायः तीसरे या चौथे महीने में डिम्बवहा का विदार होकर गर्भ उदर में आ जाता है। ऐसी दशा मे विदार के कारण रक्तस्राव होता है और अवसाद के कारण रोगी की सामान्य दशा अत्यन्त क्षीण हो जाती है।

(३) उदरशूल—उदर में आन्त्रशूल, पित्तशूल और वृक्कशूल (intestinal, biliary and renal colic) ये तीन प्रकार के शूल होते हैं। आन्त्रशूल आन्त्र में उग्रशोथ अथवा आन्त्र की भित्तियों की पेशियो के अक्रमिक संकोचों से उत्पन्न होता है। पित्तशूल और वृक्कशूल पित्तवाहनी (bile duct) या गवीनी (ureter) में अश्मरी के अटक जाने और उस पर वाहनी के संकोच करने के कारण उत्पन्न होता है।

शूल का ठीक ठीक रूप बताना कठिन है। साधारणतया उदर में होने वाली काटने के समान दारुण पीड़ा को शूल कहते हैं। ये तीनो शूल अत्यन्त तीव्र वेदनायुक्त होते हैं, विशेषतया पित्त और वृक्कशूल। आन्त्रशूल उदर के मुख्यतया बीच के भाग में होता है। पित्तशूल उदर के दाहिनी ओर ऊपरी भाग मे होता है और बहुत बार पीठ के निचले भाग, दाहिने स्कन्ध और स्कन्धास्थि के क्षेत्र मे प्रतीत होता है। वृक्कशूल की पीड़ा उदर में गहराई पर पार्श्व के पास से नीचे वृषण या शिश्न की ओर जाती हुई प्रतीत होती है।

इन सब दशाओं में रोगी की दशा शीघ्र ही क्षीण हो जाने के कारण ये उग्रोदर में गिनी जाती हैं। उपर्युक्त रोगों में से प्रायः उग्र पर्युदर्या-शोथ, उण्डुकशोथ, पित्ताशय शोथ, पित्तशूल, वृक्कशूल और बद्धान्त्र तथा संयोजनी की घनास्रता उग्रोदर का कारण होते हैं।

कारण का अन्वेषण—रोगी को देखने पर चिकित्सक को यह निर्णय करना होता है कि क्या यह वास्तव मे उग्रोदर की दशा से ग्रस्त है। सब से महत्त्वशाली लक्षण पीड़ा है। यदि दारुण पीड़ा कही भी उदर मे हो रही है और कुछ वमन भी हो रहे हैं, साथ ही सामान्य दशा क्षीण हो रही है तो वह उग्रोदर का रोगी है। यदि पीडा कम भी है, ठहर-ठहर कर शूल की भाँति हो रही है किन्तु वमन अधिक है, पेट फूल रहा है, कोष्ठबद्धता है और अवसाद के लक्षण

हैं तो भी उग्रोदर की दशा उपस्थित है। यदि तीव्र शूल, पित्ताशय का या वृक्क का या केवल आन्त्रसम्बन्धी शूल है और रोगी की सामान्य दशा अल्प-काल ही में क्षीण हो गई है तो भी उसको उग्रोदर ही समझना चाहिये।

उग्रोदर को पहिचानने के पश्चात् उसके कारण को ढूंढ कर निकालना आवश्यक है। चिकित्सक को स्मरण रहे कि वह तनिक भी समय व्यर्थ नहीं खो सकता। यह रोगी आपद्-ग्रस्त है और उसके लिये क्षण क्षण भारी हो रहा है। उसका यह जीवन-मृत्यु संग्राम है। यदि चिकित्सक उसकी सहायता करना चाहता है जो उसका धर्म है, तो अन्य सब कामों को छोड़ कर उसको रोगी में लिपट जाना चाहिये और शीघ्र से शीघ्र रोग का अनुसन्धान करके निश्चय करने के पश्चात् उपयुक्त चिकित्सा का आयोजन करके तब रोगी के पास से हटना चाहिये। यदि वह शल्य-सहायता आवश्यक समझता है तो किसी सर्जन से तुरन्त परामर्श करके रोगी को उसके नर्सिङ्ग होम मे या अस्पताल मे पहुँचाकर और सर्जन के हाथ मे सौंप कर तब वह वहाँ से हटे। रोगी की दशा की विषमता को सम्बन्धियों को समझा देना भी उसका कर्तव्य है। साथ ही रोगी से कोई ऐसी बात न कहे जिससे रोगी और घबड़ा जाय और उसकी चिन्ता और बढ जाय। वह पहिले ही से विषाद और चिन्ताग्रस्त है। ऐसे समय मे उसका आश्वासन करना योग्य है न कि उसका अवसाद बढ़ाना।

अन्वेषण—रोग-निर्णय के दो ही उपाय हैं। रोगी का इतिहास या इति-वृत्त और दूसरे रोगी की परीक्षा, दैहिक तथा प्रयोगशाला-सम्बन्धी।

रोगी का इतिहास अत्यन्त महत्व का होता है। रोग कब प्रारम्भ हुआ, किस प्रकार प्रारम्भ हुआ, लक्षण किस क्रम मे प्रगट हुए, पीड़ा प्रथम किस स्थिति पर प्रतीत हुई, फिर किधर और कहाँ फैली, प्रारम्भ मे बेचैनी अधिक थी या कम, वमनों का क्रम और उग्रता, इन सब बातों के ज्ञान से रोगनिश्चिति मे बहुत सहायता मिलती है। अवसाद के लक्षण कब प्रगट हुए यह भी जानना उचित है।

इसके पश्चात् दैहिक परीक्षा करनी चाहिये। परीक्षा की चार विधियो का उल्लेख पहिले ही किया जा चुका है। यद्यपि दैहिक परीक्षा सब ही अगों की की जाती है। किन्तु उदर पर विशेष ध्यान दिया जाता है। प्रथम परिदर्शन द्वारा उदर के प्रत्येक भाग को ध्यान से देखना चाहिये। बद्धान्त्र मे उदर फूला हुआ होगा। जिस भाग मे विस्तार अधिक होगा उसको देखने से बद्धान्त्र की स्थिति का कुछ अनुमान हो सकता है। तीव्र पर्युदर्या शोथ मे उदर भीतर को खिचा सा दीखता है। फिर उदरभित्ति की गति को देखना चाहिये।

पर्युदर्या शोथ में उदरभित्ति श्वास के समय भी निश्चल रहेगी। रोगी वक्ष ही द्वारा श्वास लेता है। किन्तु फुफ्फुस के मध्यच्छदा के पास के निम्न भाग मे निमोनिया (basal pneumonia) होने पर वक्ष अचल हो जायगा और और उदरभित्तियों की श्वास लेने की गति और भी बढ जायगी। उण्डुकशोथ में उदरभित्ति के केवल दाहिनी ओर का निचला भाग गति न करेगा।

परिस्पर्शन से उदरभित्ति में पेशीकाठिन्य (rigidity) का निश्चय किया जा सकता है। स्पर्शासह्यता का क्षेत्र परिस्पर्शन द्वारा मालूम करना आवश्यक है। किन्तु उदरभित्ति को हल्का ही दबाना उचित है। अधिक दबाने से रोगी को पीड़ा होती है और नीचे के शोथयुक्त अग को भी हानि पहुँच सकती है। आन्त्रगति तरंग को भी परिस्पर्शन द्वारा देखने का प्रयत्न करना चाहिये। उस परीक्षा में परिदर्शन और परिस्पर्शन दोनों विधियो की सहायता आवश्यक होती है।

परिताड़न परीक्षा द्वारा एकत्र हुए द्रव की स्थिति का पता लगता है। जीर्ण पर्युदर्या शोथ मे स्राव उदर में कहीं पर भी एकत्र होकर ठोस ध्वनि देता है और परिमित पुटी या सिस्ट (cyst) का सा अनुभव होता है। पूय (पस) के एकत्र होने से भी इसी प्रकार का शब्द होता है। किन्तु यदि आमाशय, ग्रहणी या आन्त्र के किसी भाग का विदार हो जाता है तो उससे उदर में गैसे भर जाती हैं और तब परिताड़न से ढोल को पीटने के समान शब्द होता है। जिसको अनुनादी (resonant) कहते हैं। उदर के जिस भाग में गैस उपस्थित होगी वही पर ऐसा शब्द होगा। आमाशय तथा ग्रहणी के व्रण विदार से गैस यकृत पर छा जायगी और मध्यच्छदा और यकृत के बीच मे एकत्र होकर यकृत के मन्द क्षेत्र (dull area) को भी अनुनादमय (resonant) बना देगी।

परिश्रवण से भी बहुत कुछ सूचना मिलती है। बद्धान्त्र मे उदर का अनुनादमय होना बताया जा चुका है। आन्त्र मे तीव्र गड़गड़ाहट के शब्द सुनाई पड़ते हैं। पर्युदर्या तथा अन्य अंगों के शोथ के विषैले स्राव से, नाड़ीस्तम्भ के कारण अंगघातजन्य बद्धान्त्र तथा उग्रशूल से आन्त्रगति बन्द हो जाती है। इससे 'शान्त उदर' मिलेगा।

इन परीक्षाओं के पश्चात् गुद-परीक्षा (rectal examination) भी करना आवश्यक है। बालकों में अन्तर्निवेशन का बहुत बार पता लग जाता है। अर्बुद का पता लग सकता है। शोथयुक्त उण्डुक की प्रतीति हो जाती है। यदि डगलस की कोटर (Douglas pouch) में स्राव या पूय एकत्र है तो उसका अनुभव हो जाता है।

प्रयोगशालाओं द्वारा परीक्षाओं की भी सहायता वांछित है। रक्त-परीक्षा बहुत आवश्यक है। श्वेतकणिकागणना से पूयज तृणाणुजन्य अवस्थाओं का पता लग जाता है। मूत्र मे रक्त की उपस्थिति से वृक्क और गवीनी द्वारा अश्मरी (stone) की यात्रा का अनुमान किया जा सकता है।

इसी प्रकार एक्स-रे की सहायता लेना भी अभीष्ट है, एक्स-रे द्वारा बद्धान्त्र की ठीक ठीक स्थिति का ज्ञान संभव है यद्यपि इसके लिये एक्स-रे के अभ्यास की आवश्यकता है।

बृहदान्त्र के रोग (Large intestines)

प्रवाहिका, तृणाणुजन्य और अमीबाजन्य, दोनो का इस पुस्तक के प्रथम भाग मे वर्णन किया जा चुका है। ये दोनों अत्यन्त साधारण दशाये हैं जिनसे प्रायः प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में कभी न कभी कष्ट पाता है। अमीबा का संक्रमण जनता की बहुत बड़ी संख्या मे गुप्त दशा मे पड़ा रहता है, केवल कभी कभी उग्र रूप धारण करता है और प्रवाहिका के उग्र आक्रमण के रूप मे प्रकट होता है।

कोष्ठबद्धता, कब्ज (Constipation)

आन्त्र से मल त्याग न होने की दशा को कोष्ठबद्धता कहा जाता है। यह वास्तव में रोग नहीं है। केवल एक ऐसी दशा है जिसमें मलाशय की पेशिया अपने संकोच द्वारा मल को निकालने मे असमर्थ होती हैं। या यह दशा अन्य रोगों का लक्षण मात्र होती है जैसे बद्धान्त्र का। ऐसे रोगों में उग्र (acute) कोष्ठबद्धता होती है। मलत्याग अकस्मात् बन्द हो जाता है। साधारणतया जीर्ण कोष्ठबद्धता होती है। जिसमे मलत्याग विलम्ब से या अधिक समय के अन्तर से होता है। विलम्ब या अन्तर शब्द की व्याख्या करना भी कठिन है। वास्तव मे कोष्ठबद्धता दशा की हीं व्याख्या कठिन है। कुछ लोगो को दिन मे दो बार शौच की आदत होती है। उनको एक बार शौच न होना कब्ज होता है। बहुतेरे केवल एक बार ही दिन मे शौच को जाते हे। पश्चिमी देशों में तो दूसरे और तीसरे दिन शौच करना साधारण सी बात है। वे उसको कब्ज नहीं समझते।

साधारणतया स्वाभाविक या जीर्ण कब्ज (habitual or chronic constipation) ही को कब्ज कहा जाता है जब व्यक्ति को उसके अभ्यासानुसार भी शौच नही होता। प्रायः प्रतिदिन एक बार मलत्याग न होने को या अपूर्ण मलत्याग को कब्ज कहा जाता है। इसमे भी दो भेद किये गये हैं। एक बृहदान्त्री (colonic) कोष्ठबद्धता और दूसरी मलाशयी (dyscbezia) कोष्ठबद्धता।

बृहदान्त्री कोष्ठबद्धता

इस प्रकार की कोष्ठबद्धता बृहदान्त्रनली की भित्तियों की पेशियों की शक्ति के ह्रास के कारण हो सकती है जिससे आन्त्रगति शिथिल हो जाती है। इससे आन्त्र में उपस्थित आन्त्रवस्तु का प्रवाह या परिवहन बहुत धीमा हो जाता है। सामान्यतया खाया हुवा आहार पच कर ४½ घंटे पश्चात् बृहदान्त्र मे (प्रथम भाग) पहुँचने लगता है। ६½ घंटे पर वह आन्त्र के यकृत कोण (hepatic flexure) और ९ घंटे पर प्लैहिक कोण (splenic flexure) पर पहुँचना चाहिये। १२ घंटे पर वह श्रोण्यन्तर्गत बृहदान्त्र (pelvic colon) में पहुँचना है और १८ घंटे पर मलाशय में पहुँच जाता है। और २२ घंटे पश्चात् मल के रूप में शरीर का त्याग करता है।

बृहदान्त्र या मलाशय की नली में आंशिक अवरोध का भी परिणाम कोष्ठ-बद्धता हो सकती है। अर्बुदोत्पत्ति अथवा कभी कभी मल के सूख जाने से अश्मरी (enteroliths) बन कर अवरोध उत्पन्न कर देती है।

फिर आहार की अपर्याप्तता, जल की कमी तथा आहार में मोटे अपच्य भाग (roughage) के कम होने से भी मल त्याग अपूर्ण या नहीं होगा। आहार के न मिलने से आन्त्र खाली रहने पर उसमें आन्त्रगति न होगी। आहार का ऐसा भाग, जिसका अवशोषण न हो, भी आन्त्र मे रहकर आन्त्रगति को उत्तेजित करने के लिये आवश्यक है। इसके अपर्याप्त होने से भी आन्त्रगति क्षीण हो जाती है। जब मल बहुत शुष्क हो जाता है तो भी उसका प्रवाह रुक जाता है।

नाड़ीसंबंधी विकारों से भी कोष्ठबद्धता हो सकती है।

हीनावटुता (hypothyroidism) की दशा का कभी कभी कोष्ठबद्धता प्रथम लक्षण होती है और अवटुका सत्व देने से दूर हो जाती है।

कुछ व्यक्तियों को कब्ज का वहम होता है। उनको तनिक कम मलत्याग होने से या एक समय न होने से चिन्ता हो जानी है। वे शरीर मे अनेक प्रकार के लक्षण अनुभव करने लगते हे और प्राय विरेचक औषधिया लेतें रहते हैं। उनके प्रभाव से एक बार आन्त्र खाली हो जाता है। और तब आन्त्र-गति और शिथिल हो जाती है जिससे फिर पहिले से भी अधिक कोष्ठबद्धता हो जाती है।

मलाशयी कोष्ठबद्धता

इस दशा मे विशेषतया मलाशय ही में मल रुका रहता है। इसके कारण प्राय: निम्न लिखित होते हैं—

१. आन्त्र की शिक्षा की कमी अथवा आदत—बचपन ही से आन्त्र को

प्रातः काल मलत्याग करने की शिक्षा देनी चाहिये। मलत्याग एक प्रतिवर्त (reflex) क्रिया है जिसके संवेग मेरुरज्जु में उत्पन्न होकर श्रोणि नाड़ियों (pelvic nerves) द्वारा मलाशय और मूत्राशय मे आते हैं जिससे उनकी पेशियों का संकोच बढता है। यही इच्छा कहलाती है। मलत्याग की इच्छा होने पर शौच के लिये बैठते ही मलत्याग हो जाता है। प्रतिवर्त की उत्पत्ति बहुत कुछ आदत पर निर्भर करती है। इस कारण बचपन ही से प्रातः मल-त्याग की आदत डलवानी चाहिये। प्रारंभ में इच्छित फल न हो। किन्तु बालक के नित्य प्रति बैठने से कुछ समय में उसको मलत्याग होने लगेगा और फिर उसी समय प्रतिवर्त की उत्पत्ति होने लगेगी।

एक बार इच्छा होने पर मलत्याग को न जाने से प्रतिवर्त नष्ट हो जाता है जिसका परिणाम कोष्ठबद्धता होती है।

२. उदर तथा उपस्थ (perenium) प्रान्त की पेशियों की दुर्बलता—स्त्रियों में बारम्बार प्रसव क्रिया तथा वृद्धावस्था में पेशियों की दुर्बलता कोष्ठ-बद्धता का विशेष कारण होती है। मलत्याग में ये पेशियाँ विशेष भाग लेती हैं। इनके संकोच मे उदराभ्यन्तर दबाव बढ जाता है और मलत्याग-क्रिया सम्पूर्ण होती है।

३. आहार में अशोष्य भाग की कमी का वृहदान्त्री कोष्ठबद्धता के संबंध में उल्लेख किया जा चुका है। आन्त्र तथा मलाशय में मलपिंड या मल की मात्रा इतनी होनी चाहिये कि उनकी भित्तियों पर उसका दबाव पड़े जिससे आन्त्रगति उत्तेजित हो। उसकी कमी से आन्त्रगति शिथिल हो जाती है।

४. पीड़ा होने से भी, जैसा गुदविदर (anal fissure) मे होता है, मलत्याग मे अड़चन होती है। पीड़ा होते ही व्यक्ति क्रिया को रोक देता है। अर्श (piles) में भी ऐसा ही होता है।

५. मलाशय मे अर्बुद बन जाने से मल के मार्ग मे रुकावट भी कब्ज का कारण हो सकती है। मलाशय से बाहिर श्रोणि में कही पर उत्पन्न हुवे अर्बुद से मलाशय पर दबाव पड़ने के कारण मल की गति अवरुद्ध हो सकती है।

६ **स्थिति**—मलत्याग के समय व्यक्ति की स्थिति का भी प्रभाव होता है। हमारे देश में प्रायः ऊकडू बैठ कर मलत्याग करने की आदत है। ऐसे व्यक्तियों को पश्चिमी ढंग से कमोठ पर बैठ कर मलत्याग नही होता।

लक्षण—जीर्ण या सहज कोष्ठबद्धता से कोई लक्षण नही होते और न रोगी पर कोई बुरा प्रभाव ही होता है। कुछ शिर का भारीपन, अरुचि आदि हो सकते है जो मलाशय के मल से भरे रहने के कारण होते हैं। पूर्ण मलत्याग मे

प्लैहिक कोण से नीचे का आन्त्र का सारा भाग और मलाशय सब खाली हो जाने चाहिये। व्यक्ति नित्य मलत्याग करने पर भी कोष्ठबद्ध हो सकता है। और नित्य मलत्याग न होने पर भी उसको कोष्ठबद्धता न हो। यों तो स्वास्थ्य के लिये शरीर से प्रत्येक प्रकार के मल या दूषित अवयवों का सम्पूर्ण त्याग नितान्त आवश्यक है। किन्तु साधारण कब्ज से कोई विशेष हानि नही होती। उससे शरीर के 'विषाक्त' (intoxication) होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

जीर्ण कब्ज से उत्पन्न होनेवाले तीन विशेष विकार (sequelae) हैं :— १. अर्श (Piles), २. सूखे हुवे मल के एकत्र रहने से मलाशय में व्रण (stercoraceous ulceration) उत्पन्न होने की सम्भावना, ३. मलाशय से बृहदान्त्र में संक्रमण फैलने से बृहदान्त्र शोथ (colitis) की दशा उत्पन्न हो सकती है।

चिकित्सा—कारण को ढूँढना प्रथम कर्तव्य है। उसी के अनुसार चिकित्सा आवश्यक है। गुदविदर, अर्श तथा गुदभ्रंश (prolapse of rectum) यदि उपस्थित हों तो उनको दूर किये बिना कब्ज की चिकित्सा नही हो सकती।

रोगी को अपने आन्त्र का पुनः शिक्षण करना आवश्यक है। उसको तीव्र विरेचकों का प्रयोग सर्वथा त्याग देना उचित है। प्रारभ मे १½ पाइन्ट लवण विलयन के एनीमा से मलाशय में एकत्र मलपिंडों को निकाल देना आवश्यक है। वास्तव मे एनीमा द्वारा प्रक्षालन बृहदान्त्र के अवरोही भाग तक का होना चाहिये। ऐनीमा का जल प्लैहिक कोण तक पहुँचना चाहिये जिससे वहा तक का मार्ग स्वच्छ हो जावे और मार्ग मे एकत्र मल का शरीर से निकास हो जाय। यदि आवश्यक हो तो दो या तीन दिन तक इसका उपयोग किया जा सकता है। किन्तु उसके पश्चात् एनीमा भी बन्द कर दिये जायं। और आन्त्र को स्वयं अपनी दुर्बलता दूर करने और अपनी क्रियाशक्ति को बढाने को उत्साहित किया जाय।

उदर तथा उपस्थ-पेशियों की शिथिलता दूर करने का प्रयत्न भी आवश्यक है। यह व्यायाम और अभ्यंग (message) द्वारा किया जाता है। इन पेशियों के विशेष व्यायाम नियमानुसार करने से बहुत लाभ होता है। मालिश भी उपादेय है।

आहार की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है। उसमें अशोष्य भाग की उपयुक्त मात्रा रहनी चाहिये। हरे पत्ती वाले शाक, हरे फल, गोभी, सेम,

बीन आदि मे सैल्यूलोज अधिक होता है जिस पर न पाचक रसों की क्रिया होती है न उसका अवशोषण होता है। उसका जो कुछ विभंजन होता है केवल तृणाणुओं द्वारा। ऐसे पदार्थों का भाग आहार में अधिक होना चाहिये। सलाद, टमाटर, कच्ची गाजर, मूली, सेव, नाशपाती, अमरूद, अंजीर पकी हुई अथवा उबालकर, मुनक्का ये सब लाभदायक वस्तुएं हैं।

औषधियाँ—सहज कोष्ठवद्धता के दूर करने के लिये विरेचक औषधियों का प्रयोग सर्वथा वर्जनीय है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है प्रारंभ में दो-चार दिन तक १ या डेढ़ पाइन्ट लवण विलयन से बृहदान्त्र के अवरोही अंश और मलाशय को स्वच्छ किया जा सकता है। किन्तु नित्य जल की मात्रा घटाते जायं और तब बन्द कर दे। नित्य ऐनीमा लेने से उसकी आदत पड़ जाती है।

विरेचकों में पैरेफिन द्रव (Liquid Paraffin) और अगर अगर (agar-agar) का प्रयोग उपादेय है। ये दोनों स्निग्ध वस्तुये आन्त्रमार्ग को चिकना करके मल को फिसला कर निकालने वाली हैं। पैरफिन द्रव ४ से ८ मिलीलिटर (१ से ४ ड्राम) या अगर-अगर ४ से १६ ग्राम दिन में तीन बार लिये जा सकते है। इन दोनों को मिलाकर बने हुवे योग अगरोल (Agarol) और पैट्रोलागर नाम से बाजार में विकते हैं। इनका प्रयोग लाभदायक हो सकता है। इनसे आदत नहीं पड़ती। इनकी मात्रा अनुभव से निश्चित की जा सकती है। कैस्करा सैग्रेडा नामक औषधि आन्त्र की भित्तियों को बल-प्रदान करती है। इसका द्रव सत्व प्रयोग किया जाता है। पार्कडैविस कम्पनी का बनाया हुवा इस औषधि का 'कैस्करा ईवाकुआन' (cascara evacuant) नाम का एक योग बजार मे विकता है। इसके २ से ६ मिलीलिटर ($\frac{1}{2}$ से १$\frac{1}{2}$) ड्राम नित्य रात को लेने से उसकी संतोषदायक क्रिया होती है।

यदि शुष्क होकर मल बहुत कड़ा हो जाता हो जिसका निकलना कठिन या कष्टदायक हो तो रात्रि के समय एक न० १२ के रबड़ कैथेटर या एक लम्बी रबड़ नलिका और कुप्पी (funnel) द्वारा ४ से ६ औंस ओलिव तेल (olive oil जैतून का तेल) गुदा में धीरे धीरे प्रविष्ट कर दिया जाय। रोगी रात भर उसको गुदा ही मे धारण किये रहे। इससे मल कड़ा न हो पायगा। और मलत्याग सहज और पूर्ण होगा।

अतिसार (Diarrhoea)

इस रोग मे पतले दस्त आते हैं। जल के समान पतले से लेकर लेही के समान गाढ़े होते हैं। यह रोग अनेक कारणों से हो सकता है। सबसे साधारण

कारण किसी अपच्य भोजन पदार्थ का आन्त्र मे पहुँचना होता है इसके अनेक प्रकार के कारण हो सकते है। इसके उग्र और जीर्ण दो रूप होते हैं।

कारण—आन्त्रगत अपच्य आहार का आत्र में पहुँचना जिससे आन्त्र में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। आहार विषायणता तथा धात्वीय विष, संखिया, ताम्र आदि। तृणाणुजन्य रोगों मे जीवविषो (toxins) द्वारा विषायणता से भी अतिसार हो जाता है। ये जीवविष आन्त्र की श्लैष्मिक कला को प्रक्षुब्ध करते है। निमोनिया, यूरिमियाँ, रक्तपूतिता (septicaemia) आदि में ऐसा ही होता है। कुछ संक्रामक रोगो मे तृणाणुओं द्वारा श्लैष्मिक कला में शोथ उत्पन्न हो जाता है। टायफाइड, प्रवाहिका, विसूचिका (हैजा), प्रजीवाणु जैसे लैम्बलिया (Lambliasis), ट्युबर्क्यूलोसिस आदि मे ऐसा ही होता है। अर्बुद भी अतिसार उत्पन्न कर सकता है। यकृत विकार (सिरोसिस) से भी अतिसार हो जाता है।

अग्न्याशय रस तथा पित्त की कमी।

आमाशय रस मे अम्लाल्पता।

कार्बोहाइड्रेट का किण्वन—आहार में कार्बोहाइड्रेट के अत्यधिक होने से वह पूरा नही पचता। इससे शेष भाग का किण्वन (fermentation) होने से पतले दस्त आने लगते हैं।

बृहदान्त्रशोथ (Colitis) सब प्रकार का

अत्यवटुता (Hyperthyroidism)

मधुमेह (Diabetes mellitus)—इस रोग मे भी कभी कभी अतिसार हो जाता है विशेषकर उन रोगियों मे जिनको रोग के कारण नाड़ी शोथ हो जाता है।

लक्षण—कारण के अनुसार लक्षणो में भिन्नता पाई जाती है और उन्हीं के अनुसार चिकित्सा करनी होती है। उग्र अतिसार मे जहा रोगी के शरीर से जल और लवणों का विशेष ह्रास होता है वहा निर्जलीभवन के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। दस्तों की संख्या अधिक होने से रोगी शीघ्र ही अशक्त हो जाता है। हैजे के से लक्षण प्रकट हो जाते है।

जीर्ण अतिसार मे दस्तों की संख्या कम होती है। निर्जलीभवन की अवस्था नही होती। किन्तु बालक की वृद्धि रुक जाती है। दिन में चार-पांच बार पतले दस्त आ जाते हैं। मूत्रत्याग के लिये बैठने पर भी थोड़ा पतला मल निकल आता है। कुछ दिनों मे रोगी अशक्त हो जाता है।

रोगी की दैहिक परीक्षा के पश्चात् मल-परीक्षा आवश्यक है। मल को देख कर उसके रंग रक्त, पित्त, श्लेष्मा (आंव) फटा-फटा होना, द्रव और फुटके पृथक् पृथक् होना, कड़े पिंड आदि का अनुमान होता है। रक्त पतले दस्त में मिलने से उसका रंग गहरा लाल (ईंट के समान) हो जायगा। गाढ़े दस्त में तुरन्त का रक्त लकीर के समान या मल पर एकत्र दीखेगा। पित्त की कमी होने से मल का रंग सफेद सा होगा।

इसके पश्चात् मल की अणुदर्शी (microscopic) परीक्षा आवश्यक है। तृणाणुओं की खोज प्रथम बात है। फिर आहार के अवशिष्ट अवयव अपक्व वसा की मात्रा, तथा कृमि, सिस्ट आदि मालूम करनी चाहिये। दस्त में गुप्त रक्त (occult blood) उपस्थित हो सकता है जिसका रासायनी परीक्षा से पता लगेगा।

चिकित्सा—कारण के अनुसार चिकित्सा की जाती है। जहाँ अतिसार केवल लक्षणमात्र है वहाँ मुख्य रोग की चिकित्सा आवश्यक है।

साधारण आकस्मिक अपच के कारण होने वाले अतिसार के आक्रमण की चिकित्सा में प्रथम आन्त्रशुद्धि और तत्पश्चात् आन्त्र क्षोभ का शमन आवश्यक है। शुद्धि के लिये अरण्ड तैल (Oil Ricini, Castor oil) उत्तम वस्तु है। एक औंस या दो औंस (यदि अतिसार तीव्र हो) तैल युवक के लिये उपयुक्त मात्रा है। इसको पीना प्रायः कठिन होता है। प्रथम रोगी मुँह में एक घूँट उत्तम दूध ले ले। तब मुँह में अरण्ड तैल डाल दिया जाय और तिस पर फिर से एक पाव गरम दूध पिला दिया जाय। तत्पश्चात् एक पान खिला दिया जाय।

आन्त्र के शमन के लिये 'केओलिन' (Kaolin) उपयुक्त पदार्थ है। यह एक श्वेत रंग का अत्यन्त बारीक और हलका चूर्ण होता है। इसका एक बड़ा चम्मच दो-दो घण्टे पर जल के साथ रोगी को दिया जाता है जब तक केओलिन दस्त में नहीं निकलने लगती। इसका आन्त्र द्वारा अवशोषण नहीं होता। आन्त्र की श्लेष्मल कला पर इसका एक हलका परत छा जाता है।

आमाशय-आन्त्र क्षोभ की दशा में, जिसमें अतिसार के साथ ही कुछ वमन भी होते हैं, निम्नलिखित योग उपयोगी माना गया है।

विसमथ कार्बोनेट	० ६ ग्राम (१० ग्रेन)
सोडा बाईकार्बोनेट	१.० ग्राम (१५ ग्रेन)
क्रीटा प्रेपराटा	०.३ ग्राम (५ ग्रेन)
टिंचर क्लोरोफार्म एट मार्फीन	०.६ मि. लि. (१० मिनिम)
जल	आधा औंस।

ऐसी ३ मात्रायें दिन मे तीन बार, एक मात्रा प्रत्येक चार घण्टे पर।

विस्मथ, आन्त्र का विशेष शामक होता है। आवश्यकतानुसार उसकी मात्रा वढ़ाई जा सकती है।

जब अतिसार का कारण तृणाणुसंक्रमण होता है तो एण्टरोवायोफार्म (enterovioform) की एक से दो टिकिया दिन में दो-तीन बार देना चाहिये। आहार विषायणता (food poisoning) में भी एण्टरोवायोफार्म ही का प्रयोग उचित है।

लैम्बलिया (Lamblia intestinal) नामक प्रजीवाणुओं के कारण उत्पन्न हुए अतिसार की औषधि **मेपाक्रीन** है जिसका इस पुस्तक के प्रथम भाग मे मैलेरिया के सम्बन्ध मे उल्लेख किया गया है। मेपाक्रीन की १०० मिली-ग्राम की टिकिया दिन में तीन बार एक सप्ताह तक देनी चाहिये।

आहार की ओर ध्यान देना भी आवश्यक है। आहार मे कड़े अपच्य भाग न होने चाहिये। वह स्निग्ध और पूर्णतया अवशोष्य हो। यदि रोग तीव्र हो, तो एक-दो दिन के लिये आहार को बन्द कर देने से लाभ होता है। हॉ, द्रव की उपयुक्त मात्रा रोगी को सदा उपलब्ध होनी चाहिये। यदि मुँह द्वारा वह नहीं ले पाता है, वमन होने के कारण, तो शिरा द्वारा द्रवों को पहुँचाना आवश्यक है।

बृहदान्त्रशोथ (Colitis)

इस रोग मे बृहदान्त्र की श्लैष्मिक कला मे शोथ हो जाता है। इसके तीन प्रकारों की व्याख्या की गई है। (१) उग्रश्लेष्मल (acute catarrhal) (२) जीर्णश्लेष्मल (chronic catarrhal)। (३) व्रणयुक्त बृहदान्त्र-शोथ (ulcerative colitis) जिसमे कोई विशेष तृणाणु नहीं पाया जाता।

उग्रबृहदान्त्रशोथ—टायफायड, प्रवाहिका, आन्त्रयक्ष्मा, अर्बुद आदि रोगो मे यह दशा उत्पन्न हो जाती है। फ्रैडलेण्डर दण्डाणु (क्लैब्सीला निमोनी) भी इसको उत्पन्न कर देता है। बहुधा उग्र आमाशय-क्षुद्रान्त्र शोथ (gastro-enterits) का बृहदान्त्र मे भी प्रसार हो जाता है। कारण के अनुसार इसके लक्षण होते है। दस्तों मे श्लेष्मा और रक्त या केवल श्लेष्मा आता है। उदर मे शूल तथा मलत्याग की संतत इच्छा भी बनी रहती है। इसकी चिकित्सा कारणानुसार की जाती है।

जीर्ण बृहदान्त्र शोथ—प्राय. उग्र दशा के पश्चात् रोग जीर्ण रूप ले लेता है। श्लेष्मल कला का शोथ कम हो जाता है, किन्तु बना रहता है। उसकी अधिवृद्धि (hyperplasia) होकर वह अंकुरों (polyp) के समान दीखने

लगती है। तन्तुवन (fibrosis) इस प्रकार के रोग मे अधिक होता है जिससे क्षतांक (scar) ऊतक बन सकता है जिससे बद्धान्त्र होने की संभावना होती है। रक्त और श्लेष्मा मिश्रित पतले दस्त और उदर में ऐंठन रोग के विशेष लक्षण हैं। परिस्पर्शन से आक्रान्त्र बृहदान्त्र के क्षेत्र मे स्पर्शासह्यता मिलेगी। बृहदान्त्र का भाग सूजा हुवा प्रतीत हो सकता है। जब यह दशा अन्य रोगों के कारण उत्पन्न होती है तो उसकी कोई स्वतन्त्र चिकित्सा की आवश्यकता नही होती। हा स्थानिक पीड़ा दूर करने के लिये शामक गुदवर्ति या ऐनीमा का प्रयोग किया जा सकता है। टिंचर बैलाडोना ०·६ मिली लिटर (१० मिनिम) दिन में ३ बार देने से आन्त्र के आक्षेपक (spasm) शान्त होते हैं जिससे पीड़ा दूर होती है।

अमीबाजन्य प्रवाहिका में प्रायः बृहदान्त्र में इसी प्रकार के परिवर्तन होते हैं। उसकी चिकित्सा का उल्लेख अमीबाजन्य प्रवाहिका तथा अमीबिकता में इस पुस्तक के प्रथम भाग में किया गया है।

व्रणयुक्त बृहदान्त्रशोथ अविशिष्ट

(Ulcerative Colitis)

इस रोग का कारण ठीक नही मालूम है। शोथयुक्त श्लैष्मिक कला में व्रणों की उत्पत्ति इस रोग की विशेष विकृति है। यह दशा प्रथम मलाशय में प्रकट होती है जहाँ सूजी हुई श्लेष्मल कला में जहा तहां सारे मलाशय मे व्रण बन जाते हैं। शलाका या अंगुली से छूने से उससे रक्तस्राव होने लगता है। और श्लेष्मा की बहुत उत्पत्ति होती है। व्रणों के चारों ओर सूजन का क्षेत्र होता है। यह दशा प्रथम मलाशय मे प्रारम्भ होती है। वहाँ से अवरोही बृहदान्त्र में होती हुई अनुप्रस्थ और आरोही बृहदान्त्रों मे तथा क्षुद्र अन्त्र तक फैल सकती है।

लक्षण और चिह्न—२० और ४० वर्ष के बीच की आयु वालों को यह रोग अधिक होता है। ६० वर्ष से ऊपर वालों मे नही पाया जाता। इस रोग मे आंव (श्लेष्मा) और रक्तयुक्त पतले दस्त आते हैं, पूय हो सकती है। चौवीस घटे में १० से २० तक दस्त आ सकते हैं। रोग प्रायः शनैः शनैः प्रारंभ होता है और कुछ दिनों में दस्तों की संख्या इतनी हो जाती है। रोगी को ९९ से १०१·० फै. ज्वर भी रहता है। रोगी धीरे धीरे क्षीण होता जाता है। उसका शरीर भार घटता जाता है। उसमें रक्तक्षीणता हो जाती है जो रोगी के चेहरे से दिखाई देती है। विटामिन न्यूनता के लक्षण जिह्वा शोथ तथा चर्मविकार भी उपस्थित होते हैं।

रोगी को इस प्रकार के आक्रमण पुनः पुनः होते हैं। बीच के काल में रोगी लक्षणमुक्त रहता है। इन आक्रमणों का कारण नहीं मालूम हो सका है।

परीक्षा करने पर परिस्पर्शन से शोथयुक्त बृहदान्त्र प्रतीत होती है। पीड़ा-सह्यता भी होती है। दबाने से रोगी पीड़ा अनुभव करता है। रक्तपरीक्षा से रक्तक्षीणता तथा हीमोग्लोबिन का ह्रास मालूम हो जाता है। गुददर्शक (Sigmoidoscopy) द्वारा गुदा तथा श्रोणिगत बृहदान्त्र की श्लैष्मिक कला शोथयुक्त लाल सूजी हुई दीखती है जिसमें जहां-तहां व्रण बने होते हैं। ये व्रण उत्तल (Superficial) होते हैं, गहरे नहीं होते और श्लेष्मा से ढके रहते हैं। गुददर्शक द्वारा देख कर रुई के स्वाब से हटाने पर स्पष्ट होते हैं।

इस रोग का एक प्रकार इतना मृदु होता है कि उसमें केवल दस्त ढीले होते हैं। संख्या में बहुत कम वृद्धि होती है। दस्तों में नेत्रों से दृश्य रक्त और श्लेष्मा नहीं होते। रासायनिक परीक्षा से अव्यक्त गुप्त रक्त (occult blood) मिल सकता है।

एक उग्र प्रकार का भी वर्णन किया गया है जिसमें बारबार रक्त और श्लेष्मायुक्त मलत्याग से रोगी क्लान्त हो जाता है। रक्तविषमयता तथा स्पन्दनात्यय (tachycardia) हो जाते हैं।

रोग के अधिक बढ़ने पर बृहदान्त्र में इतना अधिक तन्तुवन हो चुकता है कि वह एक सीधी लम्बी कड़ी लचकीलेपन से विहीन नली बन जाती है जिसका अवशोषण कर्म नष्ट हो चुकता है। कुछ विद्वान् इसको रोगमुक्ति की अवस्था समझते हैं।

उपद्रव—विदार (perforation), तीव्र रक्तस्राव, संकिरण (stricture), सन्धिशोथ (arthritis) तथा चर्मरोग। गुदा या बृहदान्त्र के आक्रान्त भाग में यह रोग कैंसर का रूप ले सकता है।

निदान—आन्त्रशोथ के दूसरे रूप, बृहदान्त्र में अर्बुदोत्पत्ति, प्रवाहिका तथा दुष्ट रक्तक्षीणता (pernicious anaemia) इन रोगों से विशेषकर इस रोग को भिन्न करना आवश्यक है। गुददर्शक द्वारा परीक्षा, रक्तपरीक्षा तथा मलपरीक्षा द्वारा अन्य रोगों को पृथक् किया जा सकता है। जीर्ण प्रवाहिका में तृणाणु उपस्थित मिलते हैं। ऐक्स-रे की सहायता से आन्त्र की गति तथा बृहदान्त्र की दशा का ज्ञान करना बहुत आवश्यक है। यदि आन्त्र की क्रिया बहुत बढ़ी हुई है जैसा प्राय उग्र दशाओं में होता है, जब दस्तों की संख्या अधिक होती है तो उसको घटाना आवश्यक है। बृहदान्त्र की वास्तविक दशा बेरियम एनीमा देकर या बेरियम सल्फेट खिला कर चित्रण से मालूम की जाती है। उसमें जो व्रण बन गये हैं तथा बृहदान्त्र नाल की दशा, वह अब भी काम

करने योग्य है अथवा तन्तुवन हो कर वह केवल एक नली बन गया है, ये सब जानने योग्य बाते हैं।

चिकित्सा—चिकित्सा दीर्घकालीन कई महीनों तक अथवा वर्ष भर तक करनी होती है और फिर भी फल संतोषजनक नही होता। रोग के पुनः पुनः आक्रमग, जिनका कोई विशेष कारण अभी तक नही मालूम हो सका है, रोगी को क्षीण कर देते हैं। रोगी के शरीर से द्रवो के अतिरिक्त विशेष कर पोटासियम की हानि होती है। रक्त के सीरम मे पोटासियम स्तर का पता लगा कर १०–१५ ग्राम प्रतिदिन मुंह से दिया जाय जब तक कि पोटासियम स्तर सामान्य न हो जाय।

अतिसार रोकने में सल्फा औषधियों का प्रयोग प्रायः असफल रहता है। अन्य की अपेक्षा सालाजोपायरिन (सल्फासेलेजीन, सेलीसिलसेजो, साल्फापायरिडीन) अधिक सफल बताया जाता है। इसकी ०·५ ग्राम की टिकिया दिन में तीन या ४ बार आहार के साथ दी जाती है।

यदि आन्त्र की गति बहुत बढी हो, जिसका पता बेरियम आहार के पश्चात् चित्रण से लग सकता है, और दस्त अधिक आ रहे हो तो टिंचर बेलाडोना से लाभ होता है। उसको पूरी मात्रा मे दिया जाय यहा तक कि रोगी की सहन सीमा पहुँच जाय। कुछ चिकित्सक रात्रि को ०·८ मिलीग्राम ऐट्रोपीन (१/७५ ग्रेन) इंजेक्शन द्वारा देना पसन्द करते हैं। दस्तों को कम करने के लिये मैदा (स्टार्च) और अफीम (ओपियम) का ऐनीमा (३० मिनिम टिन्चर ओपियम, ६० ग्रेन स्टार्च और २ औंस जल) दिन मे एक बार दिया जाय जब तक कि दस्तों की संख्या घट कर तीन या चार प्रति दिन न रह जाय। यह पीड़ा को भी घटाता है।

रोगी की रक्तक्षीणता को दूर करना भी आवश्यक है। जहां संभव हो सके रुधिराधान द्वारा रक्त की त्रुटि को दूर किया जाय। रुधिर-गणना तथा हीमोग्लोबिन मात्रा इसकी द्योतक हैं। मुंह द्वारा भी लोह देना आवश्यक है। फैरीएट-ऐमोन साइट्रास (Ferri et ammon. citras) उपयोगी लोह योग है। यदि इससे दस्तो की संख्या बढ जाय तो इसे बन्द करना पड़ेगा।

कोर्टिसोन, कार्टिकोट्रोफिन (A. C. T. H.), प्रैडनीजोलोन आदि का भी इस दशा मे प्रयोग किया गया। इसमे सन्देह नही कि इनके प्रयोग से रोगी की दशा मे बहुत सुधार होता है और आक्रमण के रोग मे वांछित सहायता मिलती है तथापि इसमें सन्देह है कि आक्रमण की पुनरावृत्ति को रोकने मे वे कितने सफल होते हे। किन्तु उनके द्वारा रोगी आपरेशन को सहन करने के अवश्य ही योग्य हो जाता है।

कार्टिसोन १०० से ३०० मिलीग्राम प्रतिदिन तक आवश्यकतानुसार दिया जा सकता है। इसी के साथ पोटासियम लवण भी उपयुक्त मात्रा मे दिये जांय। इससे बहुधा रोगी का पाचन विशेषतया उन्नत हो जाता है। उसको इतनी भूख लगती है कि उसके पोषण का प्रश्न हल हो जाता है। यह भी पाया गया है कि अतिसार द्वारा प्रोटीन की हानि भी कम हो जाती है जिससे रोगी के शरीर को प्रोटीन प्राप्ति अधिक होती है। यद्यपि कार्टिसोन तथा ऐसे अन्य योग रोग की चिकित्सा नहीं हैं किन्तु चिकित्सा मे उनका उपयोग भली भाँति प्रमाणित हो चुका है। कार्टिसोन रोग की उग्र दशा में उसके प्रथम आक्रमण मे अधिक उपयोगी प्रमाणित हुआ है, पुनरावृत्ति में इतना लाभदायक सिद्ध नहीं हुआ।

पुनराक्रमणों में ए. सी. टी. एच. अनेक विद्वानों द्वारा अधिक लाभदायक पाया गया है। इसकी मात्रा ४० से १२० मात्रक प्रतिदिन है। प्रयोग करते समय इसके उपद्रवों का ध्यान रखना चाहिये।

प्रैडनीसोलोन भी इस दशा के लिये प्रयोग किया गया है और उपर्युक्त योगों के समान उपयोगी पाया गया है। उसको १० मिलीग्राम २ या ३ औंस जल मे घोलकर दिन में ३ या ४ बार उसका ऐनीमा दिया जाता है।

पीड़ा को कम करने के लिये फिनोबारबिटोन और कोडीन का प्रयोग किया जाता है। १० मिलीग्राम दिन में चार बार जल के साथ चार सप्ताह तक खिलाया जाता है और उसके पश्चात् ५ से १५ मिलीग्राम प्रतिदिन दिया जाता है जिससे औषधि का प्रभाव बना रहे। इसका एनीमा भी दिया जाता है। २० मिलीग्राम प्रेडनीसोलोन १०० मिलीलिटर जल में मिलाकर उसका नित्य प्रति धीमी गति से एनीमा देते हैं जिससे वह शीघ्र ही बाहर न निकल आवे। यह एनीमा रात्रि के समय दिया जाय और रोगी उसको रात भर भीतर ही धारण किये रहे।

उपर्युक्त साधनों द्वारा रोग के आक्रमण का शमन संभव है। किन्तु पुनरावृत्तियों को रोकने में सफलता संदेहात्मक है। और तब शस्त्र कर्म ही रोगी को विश्राम देने और व्यवसायात्मक दैनिक कर्म करने के योग्य बनाने का एक मात्र साधन रह जाता है। तो भी सब रोगियो मे शस्त्र कर्म नही किया जा सकता। कुछ व्यक्तियों मे रोग की इतनी उग्रता होती है कि आपरेशन को सहन करने की सामर्थ्य प्राप्त करने के पूर्व ही उनका देहावसान हो जाता है। कुछ में आक्रमणो की पुनरावृत्ति इतनी शीघ्रता से होती है कि उनकी दशा भी सुधर नही पाती। फिर जिनमें केवल मलाशय आक्रान्त होता है उनमे शस्त्र कर्म आवश्यक नही होता। केवल उन चिरकालिक रोगियों में शस्त्र कर्म वांछित

होता है जिनमे बृहदान्त्र भी आक्रान्त होता है और आक्रमणों के बीच का अन्तरकाल इतना लम्बा होता है कि चिकित्सा आदि द्वारा रोगी की दशा को इतना सुधारने का अवसर मिल जाता है कि वह शस्त्र कर्म को सहन कर सके।

बृहदान्त्र के आक्रान्त होने पर क्षुद्रान्त्र के तीसरे भाग (शेषान्त्र, ileum) के अन्तिम सिरे को जहाँ वह बृहदान्त्र से जुड़ता है काट कर पृथक कर देते हैं और उदर भित्ति मे एक छेदन करके उसमे जोड़ देते हैं। इससे मल के बाहर निकलने का मार्ग बन जाता है। इस मार्ग के मुख पर एक थैला लगा दिया जाता है जिसमें मल एकत्र होता रहता है। यदि शेषान्त्र का भी कुछ भाग आक्रान्त होता है, जैसा प्राय: होता है, तो उसको भी काटकर निकाल दिया जाता है। यह कर्म Ileostomy कहलाता है। आजकल प्लास्टिक पदार्थों के ऐसे थैले बन गये हैं जो उदर भित्ति मे बनाये हुये आन्त्र के मुख के चारों ओर त्वचा से जोड़े जा सकते हैं। इस कारण रोगी को विशेष असुविधा नहीं होती है। इस कर्म के पश्चात् सारे आक्रान्त बृहदान्त्र का भी उच्छेदन किया जाता है। मलाशय का उच्छेदन कुछ काल के पश्चात् किया जा सकता है।

यह एक बृहत् शस्त्र कर्म हैं। कोविद सर्जनों के हाथों में भी १० से २० प्रतिशत (शस्त्र कर्म किये हुये) रोगियों की मृत्यु होती हैं। शस्त्र कर्म के पश्चात रोगमुक्त रोगियों का भी स्वास्थ्य पूर्ववत् सामान्य अवस्था को कभी नही लौटता। वे क्षीण ही बने रहते हैं। आन्त्र को पक्व आहार के अवशोषण का पर्याप्त अवसर न मिलने से उनका शरीर उपयुक्त पोषण से वंचित रह जाता है।

उग्र उण्डुक शोथ (appendicitis)

प्राय: यह रोग बड़ा ही उग्र होता है यद्यपि इसका जीर्ण रूप भी पाया जाता है। ये विशेषतया शल्य अवस्थाये हैं। किन्तु आजकल की नवीन औषधियों, प्रतिजीवियों तथा सल्फा, की सहायता से अनेक बार शान्त हो जाती हैं। उग्र उण्डुक शोथ यदि उसकी तत्काल चिकित्सा नही आरंभ कर दी जाती तो शीघ्र ही प्राणान्तक सिद्ध होता है। इस कारण चिकित्सक को उसके लक्षणों से पूर्णतया अभिज्ञ होना चाहिये और सन्देह होते ही दैहिक और प्रायोगिक परीक्षाओं द्वारा रोग का निश्चय करके उपयुक्त चिकित्सा का तुरन्त आयोजन करना चाहिये। यहा रोग का केवल संक्षिप्त वर्णन लिखा गया है जो चिकित्सक के रोग पहिचानने के लिये पर्याप्त है। विस्तृत ज्ञान लेखक की शल्यप्रदीपिका नामक पुस्तक से प्राप्त किया जा सकता है।

रोग के पहिचानने पर चिकित्सक को प्रारंभ ही से किसी सर्जन का परामर्श प्राप्त करते रहना उपादेय है। किसी भी समय इस रोग मे शस्त्र कर्म की आवश्यकता पड़ सकती है। यदि सर्जन प्रारंभ ही से रोगी की दशा से अभिज्ञ रहेगा तो

उसको उचित समय पर आवश्यक कर्म का निश्चय करने में सहायता मिलेगी और चिकित्सक का उत्तरदायित्व भी कम हो जायगा।

उग्र उण्डुक शोथ में उण्डुक के भीतर की श्लैष्मिक कला में तृणाणुजन्य शोथ होता है। कला शोथयुक्त हो जाती है। रक्तिमा के आधिक्य से सूज जाती है। श्लैष्मिक कला के बाहर अधोश्लेष्मल और पेशीस्तरों में भी सूजन फैल जाती है। यहाँ तक कि सब से बाहर का सीरीय स्तर भी शोथयुक्त हो सकता है। उण्डुक के ऊपर पर्युदर्या कला का जो भाग उसके सम्पर्क में रहता है उसमें भी शोथ का विस्तार हो जाता है। इसी कारण उस स्थान पर उदर को दबाने से पीड़ा प्रतीत (स्पर्शासह्यता) होती है। वैसे भी प्रारंभ में सारे उदर में तथा कुछ समय पश्चात् दाहिने श्रोणखात (right iliac fossa) में पीड़ा प्रतीत होने का कारण भी यही अर्थात् पर्युदर्या का क्षुब्ध हो जाना होता है।

रोग का जीर्ण प्रकार मन्द रूप का होता है। समय समय पर उसके आक्रमण होते रहते हैं जिससे उसमें तन्तुवन (fibrosis) विशेषतया अधिक होता है। उसकी सहज संरचनायें जितनी अधिक तान्तव ऊतक में परिवर्तित होती हैं उतनी ही उसकी शक्ति कम होती चली जाती है। या तान्तव ऊतक के बन्धों (bands) द्वारा वह अन्य किसी समीपस्थ अंग, प्रायः श्रोणिगत बृहदान्त्र, के साथ जुड़ जाता है। बार बार शोथ होने के कारण श्लैष्मिक कला में सूजन स्थाई सी हो जाती है जिससे उसके भीतर का मार्ग संकुचित हो जाता है। कभी उसके भीतर श्लेष्मा या अन्धान्त्र से गये हुवे मल के कण सूख कर अश्मरी की भांति कड़े हो जाते हैं और वहा से आन्त्र में लौट नहीं पाते अन्त में उग्र दशा उत्पन्न हो जाती है।

कारण—रोग का विशिष्ट कारण पूयोत्पादक तृणाणु, विशेषकर स्ट्रेप्टोकोकाई और बैक्टीरियम कोलाई (Bact. Coli) होते हैं। ये आन्त्र के किसी रोग-युक्त स्थान से पहुँच सकते हैं। अथवा रक्त द्वारा किसी दूरस्थ आक्रान्त अंग टॉसिल आदि से आ सकते हैं। कई बार हरे फलों की गुठलियों के उण्डुक के भीतर पहुँच कर अटक जाने से उग्र रोग उत्पन्न हो गया है। बाह्य वस्तुये या शल्य (foreign bodies) भी वहा पहुँच कर रोग उत्पन्न कर देते हैं।

सहायक कारण या प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाले कारण भी कई प्रकार के होते हैं। उण्डुक का लंबा होना, उसमे मुड़ाव पड़ जाना, शोथ का पूर्व मे हलका आक्रमण, आयु (१० से ४०) ये सब प्रवर्त्तक कारण हैं।

लक्षण—उग्र रोग अकस्मात्, अधिकतर रात्रि के समय, प्रारंभ होता है। रोगी के उदर मे पीड़ा होती है जो प्रारंभ मे मध्य भाग मे अधिक प्रतीत

होती है। फिर २४ या ४८ घंटे मे और कभी कभी कुछ ही घंटों मे पीड़ा दाहिने श्रोणिखात मे परिमित हो जाती है। सबसे अधिक पीड़ा एक बिन्दु पर उदर-भित्ति को दबाने से प्रतीत होती है जिसको **मैकबर्नी का बिन्दु** कहते हैं। यह बिन्दु दाहिने पुरोर्ध्व श्रोणिफलक-कंटक (right anterior superior iliac spine) से नाभि को जोड़ने वाली रेखा के बहिः तृतीयांश और अन्तः द्वि तृतीयाश भागों के संगम स्थान पर स्थित है। इस बिन्दु पर अत्यधिक स्पर्शासह्यता प्रतीत होती है। इसी क्षेत्र मे पीड़ा भी अधिक बनी रहती है। और वहां की उदर भित्ति श्वास के समय गति हीन होगी। पेशी काठिन्य वहां उपस्थित होगा। पीड़ा प्रारंभ होने पर रोगी का जी मिचलाता है और वमन भी एक या दो बार होता है। ज्वर बढ़ जाता है। १०१° या १०२° फै. बना रहता है। नाड़ी की गति भी बढ़ जाती है। और ज्वर की अपेक्षा अधिक गतिमान हो जाती है। नाड़ीगति (प्रतिमिनट) वास्तव में रोग की उग्रता की विश्वस्त सूचक होती है। उसका घटना रोगी की दशा की उन्नति का सूचक है। यदि वह नही घटती और निरन्तर बढती जाती है तो रोगी की दशा विषम हो रही है और उसका तुरन्त आपरेशन करना आवश्यक है। नाड़ी की गति बढना रोगी की क्षीणता का लक्षण है। उसका कारण अवसाद या स्तब्धता (shock) होता है। जितना रोग उग्र होगा उतना ही अवसाद गाढा होगा और नाड़ी गति उतनी ही तीव्र होगी।

उण्डुक की स्थिति मे सहज अवस्था मे भी बहुत भिन्नता पाई जाती है। उसी के अनुसार शोथ की दशा में पीड़ा की स्थिति मे भी भिन्नता मिलती है।[1] अन्धान्त्र के पश्च ओर (retrocoecal) स्थित होने पर पीठ मे वृक्क के प्रान्त में पीड़ा प्रतीत होती है जिससे वृक्क रोग का आभास हो सकता है। उण्डुक लम्बा होने पर यदि यकृत के अधोपृष्ठ के संपर्क मे पहुँच जाता है तो पित्ताशय शोथ के समान पीड़ा होती है। उण्डक की १० से बारह इंच तक लंबाई पाई गई है जिससे श्रोणि मे अनुप्रस्थ दिशा मे स्थित होने पर बाये श्रोणिफलक खात (left iliac fossa) मे रोग के लक्षण पाये गये है। श्रोणि मे नीचे की ओर लटकने पर उपस्थ (perineum) प्रान्त मे लक्षण मिलते है। स्त्रियों मे उसके कारण डिम्भवहा शोथ के से (salpingitis) लक्षण मिल सकते हैं।

रोग निर्णय—उपर्युक्त लक्षणों से रोग को पहिचानने मे कठिनाइ नही होती। जिन दशाओ में पीड़ा की स्थिति के कारण भ्रम उत्पन्न हो सकता है

---

१. लेखक की शल्य-प्रदीपिका पढ़िये।

उनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इस दशा में रक्त गणना विशेष महत्व की परीक्षा है। श्वेत कणिकाओं की संख्या १५००० या इससे अधिक मिलेगी। २०००० होने पर पूय की उपस्थिति समझनी चाहिये।

चिकित्सा शल्य-प्रधान है। इसका पूर्ण वर्णन शल्य ग्रन्थ में देखना चाहिये। संक्षेप में प्रतिजीवियों और सल्फा औषधियों के उपयुक्त प्रयोग और पूर्ण विश्राम तथा आहार को पूर्णतया बन्द करने से रोग के आक्रमण का शमन संभव है जिसकी द्योतक रोगी की सामान्य दशा की उन्नति, नाड़ी की गति का घटना, ताप का कम होना और पीड़ा से मुक्ति हैं।

जीर्ण उण्डुक शोथ (chronic appendicitis)

उग्र उण्डुक शोथ जीर्ण रूप ले सकता है। शोथ कम हो जाता है किन्तु पूर्णतया जाता नही। किन्तु बहुधा रोग प्रारंभ ही से जीर्ण रूप का होता है। उसके समय समय पर आक्रमण होते रहते हैं। आक्रमणों का अन्तरकाल निश्चित नहीं है। एक वर्ष के अन्तरकाल पर दूसरा आक्रमण हो सकता है अथवा एक या दो महीने के पश्चात् ही।

लक्षण—रोगी के उदर के बीच मे या दाहिने भाग में तीव्र या मन्द पीड़ा होती है जो कुछ ही काल पश्चात् दाहिने श्रोणि खात में परिमित हो जाती है। जी मिचलाना, वमन, कोष्ठबद्धता या अतिसार विशेष लक्षण होते हैं। रोगी अल्पकाल ही में लक्षणों से मुक्त हो जाता है। अनिश्चित काल के पश्चात् उसको फिर ऐसा ही आक्रमण होता है। अनेक बार रोगी को केवल अपच के से लक्षण होते हैं। उदर मे जहा तहा हलकी पीड़ा, अरुचि, क्षुधाह्रास तथा कोष्ठबद्धता, ये ही लक्षण होते हैं। कभी कभी तीव्र पीड़ा भी होती है जो उण्डुक शूल (appendicular) कहलाता है। शोथ के आक्रमण के समय प्राय· कुछ ज्वर होता है। किन्तु ज्वर न भी हो, आक्रमणो के अन्तरकाल में रोगी स्वस्थ दीखता है।

रोगी की परीक्षा करने से प्राय· दाहिने श्रोणिखात में मैकबर्नी बिन्दु पर दबाने से रोगी को पीडा (स्पर्शासह्यता) अनुभव होती है। संभव है गहरा दबाना पड़े जिससे वहा एक पिंड या शोथयुक्त उण्डुक भी प्रतीत हो। एक्स-रे परीक्षा के लिये बेरियम से भर जाने पर प्रतीत होता है। किन्तु सदा नही भरता। बार बार शोथ होने से वहाँ तान्तव उतक बनकर उण्डुक की नली को बन्द कर देता हे जिससे वहा बेरियम पहुँच ही नही पाता और एक्स-रे चित्र में उसकी छाया नहीं दिखाई देती।

आक्रमण काल में पीड़ा के साथ प्रायः दाहिनी ओर नीचे के भाग में पेशीकाठिन्य मिलता है। मल में अव्यक्त रक्त मिल सकता है। गुद-परीक्षा

कभी न भूलनी चाहिये। उण्डुक की असामान्य स्थिति की संभावना भी स्मरण रखने योग्य है। एक्स-रे परीक्षा प्रत्येक रोगी की आवश्यक है। बांई ओर बृहदान्त्र में गुदनलिका द्वारा वायु भरने से दाहिने श्रोणिखात प्रान्त में पीड़ा मालूम होती है। यह बास्टेडो (Bastedo's sign) का चिह्न कहलाता है। बाये ओर उदर पर अवरोही आन्त्र पर अंगुलियों से अकस्मात् दबाने से भी दाहिनी ओर पीड़ा होती है जिसका कारण उपर्युक्त लक्षण के समान आन्त्र के बाये भाग से दाहिने भाग मे अकस्मात् वायु का स्थानान्तरण होकर पहुँचना होता है।

रोग-निश्चिति—सामान्य दशा मे कठिन नहीं होती। अन्य लक्षणो के साथ पीड़ा के पुन· पुनः आक्रमण रोग के विशिष्ट लक्षण हे। किन्तु उण्डुक की असामान्य स्थिति और रोग की उग्रता में भिन्नता के कारण उदर के प्राय· प्रत्येक रोग का भ्रम हो सकता। इस कारण दैहिक और प्रायोगिक अनेक परीक्षाओं द्वारा रोग को पहिचानना अभीष्ट है।

चिकित्सा—आक्रमण के समय प्रतिजीवियो और सल्फा औषधियों द्वारा रोग का शमन आवश्यक है और हो ही जाता है। किन्तु उसके उग्र रूप धारण कर लेने की सम्भावना को न भूलना चाहिये।

इस कारण जीर्ण उण्डुक शोथ की एक ही उपयुक्त चिकित्सा है अर्थात् शान्त अन्तरकाल मे उण्डुकोच्छेदन (appendicectomy) कर देना। रोगी को स्थायीरूप से रोगमुक्त करने का केवल यही साधन है। आक्रमण के समय पीड़ा को दूर करने के लिये शामक औषधियों द्वारा चिकित्सा की जाती है।

पर्युदर्या कला शोथ (Peritonitis)

पर्युदर्या कला सारी उदर-गुहा को भीतर से आच्छादित किये हुई है। इसके दो स्तर कहे जाते हैं। एक स्तर जो उदरभित्ति पर भीतर की ओर छाया हुआ है वह भित्तिक स्तर (parietal layer) कहा जाता है। इसी का जो भाग अभ्यन्तरागों—आमाशय, आन्त्र, श्रोणिगत अंगों आदि पर छा गया है और उनका भाग बन गया है, अगीय स्तर (visceral layer) कहलाता है। इसको सीरीय स्तर (serous layer) भी कहते हे। यह अंग से पृथक् नहीं किया जा सकता। यह स्तर संज्ञाहीन होता है। किन्तु भित्तिक स्तर अत्यन्त संज्ञाशील होता हैं। शोथयुक्त दशाओं में जो पीड़ा या स्पर्शासह्यता प्रतीत होती है उसका कारण पर्युदर्या के इसी स्तर का आक्रान्त होना होता है। किन्तु दोनो स्तरो के बीच में कोई विभाजक रेखा नहीं है। उदर के आन्त्रसंयोजनी (mesentery) और वपा (omentum) नामक कलाये इसी वृहद्कला का भाग हैं।

पर्युदर्या कला में भी शोथ हो जाता है जो दो प्रकार का होता है, एक उग्र और दूसरा जीर्ण।

उग्र पर्युदर्या शोथ
(Acute Peritonitis)

पर्युदर्या में उग्ररूप का शोथ होता है। इसका कारण विशेषकर तृणाणु संक्रमण होता है। स्ट्रिप्टोकोकस, स्टेफिलोकोकस, न्यूमोकोकस, गोनोकोकस, ट्यूबरक्युलोसिस दण्डाणु, निमोनिया फ्रेडलेण्डर का तृणाणु, पायोसिनियस दण्डाणु (Pseudomonas Pyocaeneus), टायफाइड दण्डाणु (salmonella typhosi) तथा अवायवी तृणाणु ये सब पर्युदर्या में शोथ उत्पन्न कर सकते हैं। इनके अनुसार रोग के भिन्न-भिन्न प्रकारों की व्याख्या की गई है।

प्रायः ये जीवाणु (micro-organisms) आन्त्र में पर्युदर्या मे पहुँचते हैं। आन्त्र की भित्ति में किसी स्थान पर विकार हो जाने से भी पहुँच जाते हैं। विदार (perforation) हो जाने से तो उनका मार्ग खुल ही जाता है। रक्त-प्रवाह द्वारा भी पहुँचते हैं। पित्ताशय, यकृत् विद्रधि, वृक्कशोथ, अग्न्याशय शोथ, गर्भाशय और डिम्बवहा (fallopian tubes) शोथ, इन सब रोगों से पर्युदर्या में संक्रमण पहुँच सकता है। उदरभित्ति के घाव से भी संक्रमण का पर्युदर्या में प्रवेश हो जाता है।

यह शोथ भी दो प्रकार का होता है। निःस्रावक (exudative) और फाइब्रिनोत्पादक। पहले प्रकार में शोथयुक्त कला से साधारण निःस्राव (exudate) पस, सीरम आदि बनता है। दूसरे प्रकार में फाइब्रिन का निःस्राव होता है जिससे पर्युदर्या और नीचे स्थित अंग के बीच जोड़ बन जाते हैं, जैसा उण्डुक शोथ में होता है। आमाशय या आन्त्र विदार मे भी कभी कभी उसके चारों ओर ऐसे ही जोड़ बन कर रोग को सीमित कर देते हैं। निःस्राव को निकाल देने के पश्चात् भी जोड़ बन जाते हैं। निःस्राव रक्तयुक्त भी हो सकता है। जोड़ों के न बनने पर रोग सारी पर्युदर्या मे फैल सकता है जिससे रोग स्थानिक (localised) से सर्वांगी या व्यापक (generalised) रूप ले लेता है। शोथ के कारण पर्युदर्या से जो निःस्राव बनता है उससे आन्त्र का अंगघात हो जाता है और आन्त्रगति होनी बन्द हो जाती है।

लक्षण और चिह्न—उदर मे अकस्मात् दारुण शूल के समान पीड़ा प्रारंभ हो जाती है जिसकी तीव्रता बढती ही जाती है। रोगी को वमन भी होते हैं। प्रारम्भ मे अतिसार हो सकता है। किन्तु शीघ्र ही पूर्ण कोष्ठबद्धता हो जाती है। ज्वर भी बढ़ जाता है। किन्तु दशा के अत्युग्र होने पर सामान्य से भी कम

(subnormal) हो जाता है। नाड़ी सदा तीव्र और दुर्बल प्रतीत होती है। उदर-भित्ति आक्रान्त अंग के ऊपर निश्चल हो जाती है, श्वास के साथ उसकी गति नही होती। यदि रोग सर्वांगी होता है तो सारी उदरभित्ति तख्ते की भाँति स्थिर या निश्चल हो जाती है। श्वास कर्म मे केवल वक्ष गति करता है।

रोगी की स्थिति और चेहरे का भाव अवश्य वीक्ष्य होते हैं। रोगी टाँगो को उदर की ओर समेट कर प्राय: करवट से चुपचाप लेटा रहता है। निश्चल रहने का प्रयत्न करता है। क्योकि हिलने से, उदर को हिलाने से उसको पीड़ा होती है। मुख पर चिन्ता और विषाद के भाव स्पष्ट होते हे। नेत्र धँसे से दिखाई देते हैं।

रोगी की परीक्षा करना कठिन होता है। वह तनिक भी हिलना नहीं चाहता। उदर पर हाथ लगाते ही उसको पीड़ा होती है। परीक्षा द्वारा निम्न-लिखित बाते मालूम करना आवश्यक है।

(१) उदरभित्ति की निश्चिलता स्थानिक या सर्वांगी।

(२) उदर-भित्ति में पेशीकाठिन्य (rigidity of muscles) भीतर के किसी अंग के आक्रान्त होने पर वह स्थानिक या एकांगी होगा। केवल उस अंग के ऊपर की पेशियाँ कठिन (संकुचित) हो जाँयगी। रोगी के सर्वाङ्गी रूप मे सारी उदरभित्ति निश्चल तथा कठिन हो जायगी।

(३) उदर के भीतर आंत्रगति सूचक शब्द। परिश्रवण करने पर 'शान्त उदर' मिलेगा। स्टेथिस्कोप से कोई शब्द न सुनाई देगा। यह पर्युदर्या शोथ तथा उसके कारण उत्पन्न हुवा अंगघात जन्य बद्धान्त्र का विशेष लक्षण है।

(४) **नाड़ी**—यह रोगी की दशा की अत्यन्त विश्वस्त-सूचक है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है इस रोग मे नाड़ी सदा क्षीण अर्थात् तीव्र और दुर्बल (रिक्त सी) प्रतीत होगी। ज्यों ज्यों रोगी की दशा गिरती जायगी त्यों २ नाड़ी की क्षीणता बढती जायगी। उसकी प्रतिमिनट गति संख्या अधिक होती जायगी और रिक्तता की भी वृद्धि होती चली जायगी। दशा सुधरने पर गति-संख्या घटने लगेगी और उसका आयतन (volume) भी उन्नत हो जायगा।

(५) रक्तगणना करने पर श्वेताणु-वृद्धि (leucocytosis) मिलेगी। रोग-प्रारंभ के कुछ ही घटों मे श्वेताणुवों की संख्या बढ़ जायगी। रोग को पहिचानने मे इससे बहुत सहायता मिलती है।

रोगनिर्णय—उग्रोदर में इसका विचार किया जा चुका है। ऊपर कही हुई बातों के विचार से रोग पहिचानने मे सहायता मिलती है।

चिकित्सा— उपयुक्त चिकित्सा का शीघ्रातिशीघ्र आयोजन आवश्यक है।

उग्र रोग २४ घंटे में रोगी का प्राणान्त कर सकता है। स्थानिक से सर्वांगी रूप में विस्तृत होने में रोग को कुछ घंटो से अधिक नही लगते।

किसी समय यह रोग असाध्य समझा जाता था। रोग उग्र न होने पर ही रोगी के बचने की आशा की जाती थी। किन्तु अब सल्फा और प्रतिजीवियों के प्रयोग से रोगी के रोगमुक्त होने की संभावना बहुत बढ़ गई है।

कारण के अनुसार चिकित्सा का आयोजन आवश्यक है। आमाशय या आन्त्रविदार में शल्यकर्म द्वारा विदार बन्द करना होगा। उण्डुक शोथ में उण्डुकोच्छेदन आवश्यक है। किन्तु जब तक आवश्यक कर्म का प्रबन्ध होता है तब तक प्रतिजीवियो तथा सल्फा का पूरी मात्रा में प्रयोग प्रारंभ कर देना चाहिये।

पैनिसिलिन स्ट्रिप्टोमायसीन, क्लोरेम्फिनिकौल, औरोमाइसीन, ऐक्रोमाइसीन ये सब उपयोगी औषधिया प्रमाणित हुई है। उण्डुक शोथ मे बतायी इन औषधियो के प्रयोग-विधि के अनुसार वे रोगी को दी जॉय। यदि रोगी वमन के कारण मुंह से न खा सके तो शिरा द्वारा दी जाय।

साथ ही रोगी के शरीर में द्रव और लवणों का पुनः स्थापन अत्यन्त आवश्यक है। लवण विलयन स्वतः या ग्लूकोज के साथ निरन्तर विधि से देना बहुत आवश्यक है।

तीसरा आवश्यक आयोजन आत्र में एकत्रित स्रावों को रबड़-नलिका और चूषक यन्त्र द्वारा निकालना है। राइलनलिका या मिलर-राबट नलिका को स्तंभित आन्त्र मे पहुँचा कर उससे निरन्तर चूषण करके आन्त्र को खाली रखा जाय।

रोगी की बल रक्षा का ध्यान रखना भी आवश्यक है।

उग्र गोनोमेहजन्य पर्युदर्या शोथ

(acute gonorrhoeal peritonitis)

यह रोग गोनोमेह के उपद्रव स्वरूप होता है। स्त्रियों में प्रायः गोनोमेहजन्य डिम्बवहा शोथ के विस्तार का फल होता है। पुरुषों मे उपाण्ड (epididymis) के रोग के पश्चात् होता देखा गया है।

लक्षण उग्र तृणाणुजन्य पर्युदर्या शोथ, जिसका उल्लेख गत पृष्ठों मे किया गया है उसके ही समान होते हैं। रोगी का इतिवृत्त या इतिहास ध्यानपूर्वक लेना चाहिये। रोगी के गोनोमेह से ग्रस्त होने पर रोगनिर्णय सहज है। यदि इस समय रोगी को इस रोग के कोई लक्षण न हों किन्तु रोग का इतिहास मिले तो पूरक-स्थिरीकरण जाच (complement fixation test) से बहुत सहायता मिलती है।

चिकित्सा—पेनिसिलीन इसकी मुख्य चिकित्सा है। ६ लाख प्रोकेन पेनिसिलीन दिन मे दो बार ८ से १० दिन तक देना चाहिये।

उग्र ट्यूबर्क्यूलोसिस या क्षयजन्य पर्युदर्या शोथ

(Tuberculous peritonitis)

यह रोग अधिकतर जीर्ण रूप का होता है। किन्तु कभी कभी उग्र रूप भी मिलता है जो आन्त्र, आन्त्रसंयोजनी या उदर की लसीका ग्रन्थियो के रोग के विस्तार का फल होता है। ये अंग पहिले से रोगग्रस्त होते हैं।

रोग का रूप प्राय: टायफाइड के समान होता है। उसी के समान प्रारंभ होता है। नित्य संध्या को प्रात: काल की अपेक्षा एक या डेढ डिगरी बढ़ जाता है। किन्तु निरन्तर बना रहता है। शिरदर्द, जीमिचलाना, अरुचि, टायफाइड ही के समान होते हैं। कुछ रोगियों मे अतिसार भी होता है। किन्तु कुछ मे कोष्ठबद्धता होती है। उदर मे हलकी पीडा रहती है। कुछ समय ही में उदर मे परिवर्तन दिखाई देने लगते हैं। पहिले उदर मे गैस एकत्र होने से उदर फूला हुवा दीखता है। फिर उदर मे अंगो, आन्त्रपाशों या कलाओं के जुड़ने से उत्पन्न हुवे अवकाश मे स्राव एकत्र हो जाता है जो प्राय: स्वच्छ द्रव के समान होता है, उदर मे ऐसे एक से अधिक संग्रह परिस्पर्शनीय हो सकते है। द्रव एकत्र न होकर आन्त्रपाश आपस मे जुड़ जाते हैं जिससे एक पिंड सा प्रतीत होता है। इसके उवद्रव स्वरूप क्षयजन्य आन्त्रशोथ (tuberculous enteritis) हो सकता है जिसके प्रधान लक्षण उदर में पीड़ा, क्षय समान ज्वर और अतिसार हैं।

चिकित्सा—सामान्य ट्यूबर्क्यूलोसिस के समान चिकित्सा की जाती है। स्ट्रिप्टोमाइसीन, पैराअमीनोसैलीसिलिक अम्ल (P. A. S) और आइसोनिको-टिनिक एसिड हाइड्रेजाइड (INH) ये ही तीन इस रोग की विशिष्ट औषधिया हैं। इनमें से दो को सदा साथ दिया जाता है। स्ट्रिप्टोमायसीन १ ग्राम प्रतिदिन इन्जेक्शन द्वारा एक बार या ½ ग्राम प्रात: और आधा ग्राम सायं ६० दिन तक दिया जाता है। PAS और INH अथवा केवल PAS मुंह द्वारा दिया जाता है। इनके प्रयोग की विधि का इस पुस्तक के प्रथम भाग मे ट्यूबर्क्युलोसिस के संबंध मे पूर्ण उल्लेख किया गया है।

आवश्यक होने पर उदरभेदन (paracentesis abdominis) द्वारा वहाँ एकत्र हुआ द्रव निकाला जाता है जिसकी सम्पूर्ण विधि शल्यप्रदीपिका पुस्तक मे दी गई है।

पित्तज पर्युदर्या शोथ

(Bile peritonitis)

कुछ विद्वानो ने पित्त के कारण उत्पन्न होने वाले पर्युदर्या के शोथ का भी उल्लेख किया है उनके अनुसार पित्ताशयोच्छेद (cholecystectomy) अथवा पित्ताशय के अन्य शस्त्रकर्मों के पश्चात् पित्ताशय के पित्त के रिस कर उदर मे आकर पर्युदर्या कला के सम्पर्क में आने पर यह दशा उत्पन्न होती है। इस दशा की भयंकरता का इसी से अनुमान किया जा सकता है कि इस दशा में इन विद्वानों के अनुसार ७० प्रतिशत रोगियों की मृत्यु होती है। उग्र पित्ताशय शोथ तथा पित्तवाहिनियों के ऐसे रोग जिनमें आशय की भित्ति के गलने से या वाहिनियों के विदार से पित्त पर्युदर्या गुहा मे आने लगता है इस रोग का कारण होते हैं इससे नाडी मण्डल का तीव्र अवसाद होता है। रक्त दाब अकस्मात् कम हो जाता है और प्लाज्मा भी निकलने लगता है।

अधो मध्यच्छद विद्रधि

(Subphrenic or subdiaphragmatic abscess)

यह भी एक प्रकार का स्थानिक उग्र पर्युदर्या शोथ है जिसमे मध्यच्छदा पेशी (Diaphragm) और यकृत् के बीच मे पूय एकत्र हो जाती है। पूय की उत्पत्ति का कारण पूयज तृणाणु स्ट्रिप्टो, स्टेफिलो, न्यूमो आदि गोलाणु तथा अन्य दण्डाणु व जीवाणु, जिनका पर्युदर्या शोथ के संबंध मे उल्लेख किया गया है, होते हैं। और विशेष कर तीन स्रोतों से पहुँचते हैं। उण्डुक से, आमाशय और ग्रहणी के व्रणविदार से तथा फुफ्फुस से, निमोनिया के पश्चात बहुत बार उपद्रव के रूप यह रोग उत्पन्न हो जाता है, विशेषतया जब निमोनिया फुफ्फुसके अधो खंडों मे होता है। उदर मे स्थित अन्य अंगों के सबंध मे पूयोत्पादन से भी संक्रमण पहुँच सकता है।

पूय की स्थिति कई स्थानो में हो सकती है। उदर गुहा के भीतर यकृत के दाहिने खंड और बाये खण्ड दोनों के सामने या पीछे पूय एकत्र मिल सकती है। अर्थात् पूय की अन्तर्पर्युदर्या (intra peritoneal) स्थिति होती है। पर्युदर्योत्तर (extra peritoneal) स्थिति भी पाई जाती है। दाहिने खंड के अनाच्छादित क्षेत्र (bare area) जहा पर्युदर्या नही है उस क्षेत्र और मध्यच्छदा के अधोपृष्ठ के बीच मे पूय स्थित होती है। बांये खंड पर से पूय के एकत्र होने के कारण पर्युदर्या पृथक् हो जाती है और वहां पूय एकत्र होती है। इस की उत्पत्ति का कारण प्राय: आमाशय की पश्चिम भित्ति पर स्थित व्रण का विदार होता है। वृक्कपरिविद्रधि (perinephric abscess), अग्न्याशय

शोथ, समीपस्थ बृहदान्त्र शोथ, अथवा बाँये फुफ्फुस का निमोनिया इस दशा को उत्पन्न कर सकते हैं।

लक्षण और चिह्न—शीत के साथ ज्वर वारंवार, संभव है नित्य प्रति, आक्रमण जो स्वेदन के साथ अन्त होते हैं और उदर के ऊपरी भाग में मध्यच्छदा के प्रान्त में पीड़ा अथवा स्कंध मे पीड़ा रोग के विशेष लक्षण हैं। उण्डुक शोथ, आमाशय व्रण या ग्रहणी व्रण विदार का इतिहास मिल सकता है। विदार सदा विषम लक्षण करने वाले नहीं होते। स्वयं हो जाने वाले विदार भी होते हैं जिनके क्षणिक तीव्र काटने की सी पीड़ा के आक्रमण के अतिरिक्त कोई लक्षण नहीं होते।

रोगी की परीक्षा करने पर यकृत् के ऊपर मध्यच्छदा के पार्श्व में वक्ष के अन्तर्पर्शुका स्थान (intercostal spces) बाहिर को उभरे हुवे मालूम होते हैं। अथवा दाहिनी पर्शुका चाप के नीचे उदरभित्ति में उभार हो सकता है। दाहिने खंड और मध्यच्छदा के बीच में पस एकत्र होने पर दोनों ओर की पर्शुक चापों के बीच के कोण में उभार दिखाई देता है। दाहिने खंड के पीछे की ओर एकत्र पूय से कोई उभार नहीं दिखाई देगा। इस प्रकार उदर या वक्ष का उभार पूय की स्थिति पर निर्भर करेगा। बाँई ओर यकृत् के अनाच्छादित क्षेत्र और मध्यच्छदा के बीच स्थित पूय के कारण भी कोई उभार नहीं दीखेगा। किन्तु मध्यच्छदा पेशी वक्ष की ओर को उठ जायगी। एक्स-रे द्वारा देखने से मध्यच्छदा का दायाँ पत्रक बाये पत्रक से ऊँचा दिखाई देगा। वह शिथिल भी अधिक होगा। उसकी श्वास के समय गति कम होगी। संभव है तनिक भी गति न हो। उभरे हुवे भाग तथा यकृत् क्षेत्र पर परिताड़न से गैसों की उपस्थिति के कारण ध्वनिमय (resonant) शब्द होगा जो आमाशय या आन्त्र विदार का सूचक है। वक्ष के अधो भाग के परिश्रवण से फुत्फुस में हुवे परिवर्तनों का पता लग सकता है।

रोगनिर्णय—प्राय: कठिन होता है। विशेष बात यह है कि चिकित्सक को यह स्मरण रहे कि वक्ष के अधो भाग तथा उदर के ऊर्ध्व भागों में विकृत लक्षणो का कारण अधो मध्यच्छदा विद्रधि हो सकती है अथवा इस स्थिति में उपर्युक्त नाम का रोग भी होता है।

रोग पहिचानने के लिये प्रथम बात तो इस रोग की संभावना का ध्यान रखना है। दूसरे पूयोत्पत्ति हुई है या नहीं, यह जानना आवश्यक है। रक्त-गणना मे श्वेताणु संख्या १५००० से ऊपर होना पूयोत्पत्ति का सूचक है। २०००० की गणना तो पूय की निश्चयात्मक है।

फिर अन्य रोग जो इसके ही समान लक्षण उत्पन्न कर सकते हैं उनका भी विचार करना उचित है। उरः पूय (empyema), उरोवात (pneumo thorax), यकृत् विद्रधि (liver abscess), वृक्कपरि विद्रधि (perinephric abscess), और अग्न्याशय की सिस्ट (pancreatic cyst) ये विशेष रोग हैं जिनसे इस रोग को भिन्न करना होगा। उभार न दिखाई देने पर रक्तपूतिमयता (septicaemia) का सन्देह हो सकता है।

एक्स-रे की भी सहायता लेनी चाहिये। प्रतिदीप्ति पट (fluorescent sereen) द्वारा देखने से मध्यच्छदा का पत्रक ऊपर को उठा दिखाई देगा। यकृत् विद्रधि के ऊर्ध्व पृष्ठ पर होने के कारण उसकी उन्नतोदरता एक समान न होकर बीच मे ऊपर को स्थानान्तरित दिखाई देगी। मध्यच्छदा की गतियों को भी नोट करना चाहिये। मध्यच्छदा विद्रधि में उनके बन्द हो जाने की संभावना रहती है।

अन्तिम निर्णायक साधन सूचिका द्वारा अन्वेषण है। जहाँ पूय की उपस्थिति का सन्देह हो वहाँ एक दृढ ६ या ७ सेन्टी मीटर लम्बी सूचिका को त्वचा और मास द्वारा प्रविष्ट करके उसमे एक १० मिलीलिटर की सिरिंज लगा कर पिस्टन को सूचिका के भीतर जाते समय बार बार खींच कर देखना चाहिये। सूचिका के अग्र भाग के पूय में पहुँचने पर सिरिंज मे पूय आने लगती है। इस कर्म को **वक्षभेदन** (paracentesis thoracis) कहते हैं। इसकी विधि के पूर्णज्ञान के लिये शल्यप्रदीपिका को पढना चाहिये।

चिकित्सा—विद्रधि का पूर्ण निर्हरण आवश्यक है। जिस सूचिका को पूय स्थिति के अन्वेषण के लिये प्रयोग किया गया है उसके ही द्वारा निर्हरण किया जा सकता है। एक बड़ी सिरिंज को सूचिका पर लगा कर उससे पस खीच ली जाय। इसके लिये पोटेन का चूषक यन्त्र भी काम में आ सकता है। किन्तु सिरिंज और सूचिका से संतोषजनक कर्म हो सकता है। उससे रोगी को भी कष्ट कम होता है।

जहाँ यह विधि सफल नही होती वहाँ शस्त्र कर्म करना आवश्यक होता है।

निर्हरण के पश्चात् पूय गुहा मे पेनिसिलिन का विलयन प्रविष्ट किया जाता है। प्रतिजीवियों का मुँह द्वारा भी प्रयोग करवाना चाहिये।

जीर्ण पर्युदर्या शोथ

(Chronic Peritonitis)

यह शोथ जीर्ण होता है। इस कारण उसमे अधिक ऊतक निर्माण होता है। यह विशेषकर हीन प्रकार का होता है, साधारण आसंजक या प्रफली

(plastic or proliferative), क्षयजन्य और दुर्दम्य या कैन्सरीय (malignant or cancerous)

आसंजक या प्रफली—इस प्रकार का शोथ प्रायः औदरिक अंगो के शल्य कर्मों के पश्चात् उत्पन्न होता है। अंगो के शोथ से भी पर्युदर्या में इस प्रकार का शोथ हो जाता है जिससे अग के साथ पर्युदर्या या समीप के आन्त्रपाश आदि जुड़ जाते हैं और शोथ युक्त स्थान के चारो ओर एक घेरा सा बन जाता है। उण्डुक शोथ, पित्ताशय शोथ आदि से ऐसा ही होता है।

जीर्ण क्षयजन्य पर्युदर्या शोथ—ट्यूबर्क्यूलोसिस दण्डाणु आन्त्र, आन्त्र-संयोजनी तथा पर्युदर्यापश्च लसीका ग्रन्थियों से पर्युदर्या मे पहुँच कर इस प्रकार का शोथ उत्पन्न कर देता है। शरीर के अन्य अंगों में यदि रोग का कोई केन्द्र होता है तो वहाँ से भी दंडाणु का स्थानान्तरण हो सकता है।

निम्न लिखित तीव्र दशाये इसका ही रूपान्तर मानी जाती हैं:—

(१) जलोदर रूप—इस रूप मे आन्त्रपाशों या अंगों के जुड़ जाने से उनके बीच मे जो स्थान रह जाता है उसमे शोथयुक्त स्थानों से स्रवित द्रव एकत्र हो जाता है और इस प्रकार उदर मे एक या अधिक द्रव भरी पुटी बन जाती हैं। परीक्षा करने से ये सिस्ट की भाति प्रतीत होती हैं। साथ में रोगी में ट्यूबर्क्यूलोसिस के सामान्य लक्षण ज्वर, क्षीणता आदि सदा बने रहते हैं।

(२) आसंजक रूप—आन्त्रपाशों के बीच मे जोड़ बन जाने से वे आपस मे तथा वपा से जुड़ जाते हैं। उनका एक पिंड सा बन जाता है। स्वयं वपा के स्तर जुड़ जाते हैं। वे ऊपर की ओर को लिपट सा जाते हैं जिससे उदर के ऊर्ध्व या बीच के भाग में दाहिनी ओर से बाईं ओर को एक मोटी रज्जु सी प्रतीत होती है।

(३) आन्त्रसंयोजनी की लसीका ग्रन्थिया तथा पर्युदर्या के पीछे अर्थात् उदरगुहा के बाहिर पीछे की ओर स्थित लसीका ग्रन्थियों मे (retroperito neal) शोथ होकर उनके आकार की वृद्धि हो जाती है। यह रूप टेबीज मिजेन्टरिका (tabes mesenterica) कहलाता है।

लक्षण तथा चिह्न—रोग अधिकतर बाल्यावस्था मे होता है। ५ वर्ष की आयु से पूर्व असाधारण है। ५ से २५ वर्ष के बीच की आयु वालों को सबसे अधिक होता है।

रोग धीरे-धीरे प्रारंभ होता है। रोगी क्षीण होने लगता है। अस्वस्थता, अरुचि, बढ़ती हुई दुर्बलता प्रथम लक्षण होते हैं। तब संध्या के समय हलका

ज्वर भी रहने लगता है। उदर मे वेचैनी और कभी कभी शूल होते रहते है। थोड़े ही काल मे उदर मे ऊपर बताये हुवे परिवर्तन स्पष्ट हो जाते है। रोगी को कोष्ठबद्धता या अतिसार होते हैं।

उदर-परीक्षा करने पर परिस्पर्शन से आन्त्रपाशों के जुड़ जाने और हलका शोथ होने से उदर की प्रतीति गुंदे हुवे आटे के समान हो जाती है। वह कुछ कड़ा सा, किन्तु कठिन नही, प्रतीत होता है। आन्त्र मे छोटे छोटे पिंड तथा परिवर्धित लसीकाग्रन्थिया प्रतीत हो सकती हैं। यदि द्रव युक्त पुटी बन गई हैं तो उनपर परिताडन से ठोस (dull) शब्द होगा और तरल-तरंग (fluid thrill) प्रतीत होगी। जुड़े हुवे आन्त्रपाश प्रतीत हो सकते हैं। जलोदर के समान उदर में स्वतन्त्र द्रव भी मिल सकता है। रोगी को प्रायः कोष्ठबद्धता होती है किन्तु टेबीज मिजैन्टरिका में अतिसार होता है।

चिकित्सा—रोगी की चिकित्सा ट्यूबर्क्युलोसिस की की जाती है जिसका पहिले उल्लेख किया जा चुका है। द्रव के अधिक होने पर उसको ट्रोकारकेन्यूला से उदर-भेदन द्वारा निकालना पड़ता है। अन्य उपद्रवों की लक्षणानुनसार चिकित्सा की जाती है।

उपयुक्त चिकित्सा से रोगमुक्ति की आशा की जा सकती है।

कैंसरीय शोथ—पर्युदर्या के कैंसर के छोटे छोटे पिंड जहा तहा बन जाते हैं। प्रायः आमाशय, आन्त्र, डिम्ब ग्रन्थि आदि के कैसर से उसका पर्युदर्या में विस्तार होता है। बहुधा उदरगुहा मे द्रव का स्राव होकर वहा द्रव एकत्र हो जाता है। द्रव रक्तयुक्त हो सकता है।

जलोदर (Ascites)

उदरगुहा मे द्रव एकत्र होने को जलोदर कहा जाता है। यह कई प्रकार का होता है और इसके अनेक कारण हो सकते हैं। वास्तव में यह एक लक्षण मात्र है।

१. साधारण एकत्र हुवा द्रव एक पारस्राव (transudate) होता है और हलके पीले से रंग का होता है। उसका विशिष्ट गुरुत्व १.०१५ होता है। उसमें कुछ कोशिकायें (cells) भी होती हैं और प्रोटीन २% होती हैं। रोग के कारण ये होते हैं:—यकृत् का सिरोसिस (cirrhosis) जिसको सूत्रण रोग भी कहते हे। प्रतिहारणी शिरा (portal vein) का अवरोध या अधोमहाशिरा (inferior vena cava) का अवरोध (जैसे किसी अर्बुद या परिवर्धित लसीका ग्रन्थि द्वारा या घनास्रता से कैंसर या सामान्य अर्बुद से, ऐन्यूरिज्म से)। हृदयावसाद (heart failure), परिहृद् शोथ (जीर्ण समाकर्षक प्रकार का constrictive pericarditis) दुष्ट रक्त-

क्षीणता (pernicious anaemia), लुकीमिया (leukaemia) इस दशा को जल पर्युदर्या (hydroperitoneum) भी कहते हैं।

२. दूसरी प्रकार का एकत्रित द्रव सीरम होता है। इसको सीरोपेरीटोनियम कहा जाता है अर्थात् पर्युदर्या गुहा मे सीरम का एकत्र होना। इस द्रव का विशिष्ट गुरुत्व १.०१५ से अधिक होता है। प्रोटीन भी ३ प्रतिशत से अधिक होती है और इसका रंग भी गहरा होता है। उसमें कोशकायें भी अधिक होती हैं।

कारण—जीर्ण पर्युदर्या शोथ-ट्यूबर्क्यूलोसिस या कैंसर जन्य। डिम्बग्रन्थि के अर्बुद। पर्युदर्या का हाइडेटिडरोग (hydatids)।

३. तीसरे प्रकार के रोग मे द्रव में रक्त मिला रहता है। रक्तकणिकायें उपस्थित होती हैं। रंग भी लाली लिये होता है। इसको रक्त-पर्युदर्या या हीमोपैरिटोनियम कहा जाता है। यह क्षयजन्य या कैंसरजन्य पर्युदर्या शोथ से उत्पन्न होता है।

४. एक चौथा प्रकार भी होता है जिसमे द्रव में काइल (chyle) मिला रहता है। किसी कारण से आन्त्र की पायसनियों (lacteals) के विकार से काइल द्रव मे चला आता है। वृक्कशोथ मे भी यह दशा उत्पन्न हो जाती है।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि जलोदर की दशा अनेक कारणों से उत्पन्न हो सकती है।

लक्षण और चिह्न—कारणों के अनुसार चिह्नों मे तथा रोगी की साधारण दशा मे अन्तर होगा। उपर्युक्त कारण विशेषतया चार प्रकार के हैं—यकृत संबंधी, हृदय संबंधी, वृक्क संबंधी तथा उदर के भीतर स्थित रोग जन्य। उसी के अनुसार लक्षणो की प्रधानता में भी भिन्नता होगी।

रोगी का प्रधान लक्षण उदर का विस्तार होगा। उदर एक समान विस्तृत होगा। उसके लेटने पर एकत्रित द्रव की मात्रा के अधिक न होने पर दोनो ओर पार्श्व इधर उधर को विस्तृत दीखेंगे। द्रव की मात्रा अधिक होने पर उदर ऊपर को वक्ष से भी ऊँचा उठा हुआ होगा। नाभि बाहिर को निकली हो सकती है। नाभि के चारो शिरायें परिवर्धित दीखेंगी। संभव है उदर के निचले भाग की सब ही शिरायें परिवर्धित या विस्तृत हो। रोगी के क्षीण अंग-बाहु टांगे आदि तथा चेहरा उसके विस्तृत उदर के साथ बड़ी ही क्षीणता का चित्र उपस्थित करते हैं।

द्रव की उपस्थिति का निश्चय करने के लिये दो विशेष परीक्षायें की जाती हैं। रोगी को लिटाकर परिदर्शन के पश्चात परिस्पर्श तथा परिताड़न से द्रव

मालूम किया जाता है। लेटे हुए रोगी के उदर के एक पार्श्व पर एक हाथ फैला कर रखने के पश्चात् दूसरे पार्श्व पर दूसरे हाथ की एक या दो अंगुली से ताड़न किया जाता है। इससे उदरस्थ द्रव में उत्पन्न हुई तरंग दूसरे पार्श्व में पहुँच कर वहां रखे हुए हाथ को प्रतीत होती है। यह द्रव या तरल तरंग (Thrill) कहलाती है। उदर पर नाभि के पास परिताड़न करने से ध्वनिमय शब्द होता है क्योंकि वहाँ द्रव नहीं है।

अब यदि रोगी को करवट से लिटाकर दोनों पार्श्वों पर परिताड़न किया जाय तो नीचे के पार्श्व से ठीक शब्द निकलेगा। और जो पार्श्व ऊपर की ओर है उससे ध्वनिमय शब्द होगा किन्तु उदर के मध्य भाग से भी ठोस शब्द ही निकलेगा।

द्रव के अधिक हो जाने पर रोगी को उदर सदा भरा हुआ प्रतीत होता है। उसके और बढ़ जाने पर श्वास लेने में भी कष्ट होता है। रोगी को चलना-फिरना भी दूभर हो जाता है।

अधिकतर रोगियों में यकृत की सिरोसिस रोग का कारण होती है।

चिकित्सा कारण के अनुसार होती है।

साध्यासाध्यता—इस रोग को सदा अति विषम अवस्था समझना चाहिये। थोड़े ही रोगी इस दशा से उबरते हैं।

कुछ असाधारण रोग

हिर्शस्प्रुङ्ग का रोग; प्रसरित बृहदान्त्र; जन्मजात अकारणिक बृहदान्त्र प्रसार

(Hirschsprung's disease, megacolon, congenital idiopathic dilatation of colon)

इस रोग में बृहदान्त्र या कोलन चौडा हो जाता है और साथ ही अतिपुष्ट भी हो जाता है। अर्थात् उसकी भित्तियों की वृद्धि होती है। वे भी पेशी स्तर आदि के बढ़ने से मोटी हो जाती हैं। इस दशा का कोई कारण नहीं मालूम होता है। बृहदान्त्र में किसी प्रकार का अवरोध न होने पर भी यह दशा स्वयं ही उत्पन्न हो जाती है।

यह दशा स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक मिलती है। अधिकतर अवरोही और श्रोणिगत बृहदान्त्र में पाई जाती है। इस दशा को जन्मजात माना जाता है जो उत्पत्ति संबंधी त्रुटि का फल होती है। इसमें अवरोही आन्त्र के थोडे अन्तिम भाग में तथा कभी कभी मलाशय के संबंध में जो नाड़ी

जालिकायें होती हैं जिनको 'औरबेख जालिकायें (aurbech's plexus) कहते हैं उनमें 'परानुकम्पी गंडिकायें' (parasympathetic ganglion) अनुपस्थित होती हैं जिससे उस भाग में आन्त्रगति की लहर नहीं जाती। इस कारण उससे ऊपर का बृहदान्त्र का भाग विस्तृत हो जाता है। बृहदान्त्र का व्यास १२ इंच तक विस्तृत पाया गया है। और उसमें १०, १२ सेर तक मल एकत्र हो सकता है।

वास्तविक हिर्शस्प्रुङ्ग रोग में बृहदान्त्र का कुछ इंच तक अंतिम भाग संकुचित मिलता है और मलाशयका विस्तार नहीं होता। अकारणिक जन्मजात दशा में ऐसा नहीं होता, न परानुकंपी गंडों की अनुपस्थिति होती है। और न बृहदान्त्र का अंतिम भाग संकुचित ही होता है। सारा अवरोही बृहदान्त्र और मलाशय विस्तृत होते हैं।

लक्षण और चिह्न—हिर्शस्प्रुङ्ग रोग में जन्म ही से लक्षण दिखाई दे जाते हैं। जन्म के पश्चात् प्रथम मलत्याग जिसमें केवल मिकोनियम निकलता है उसके बाहर आने में भी बहुत विलंब होता है। और उसके पश्चात भी वही हाल रहता है। कोष्ठबद्धता बहुत अधिक रहती है। उदर विस्तृत होने लगता है। बहुधा विस्तार बाईं ओर अधिक होता है। कई दिन तक मलत्याग नहीं होता।

अंगुलि से गुद परीक्षा करने पर मलाशय खाली मिलता है। उसमें कोई असामान्यता नही पायी जाती। बेरियम खिलाकर एक्स रे चित्र लेने पर दशा स्पष्ट हो जाती है।

अकारणिक जन्मजात दशा में बहुधा बड़ी आयु तक रोग का पता नहीं लगता। कोष्ठबद्धता यद्यपि जन्म ही से होती है किन्तु विशेष कष्टदायक नहीं होती। रोगी प्रायः क्षीण स्वास्थ्य वाले होते हैं। उदरशूल, वमन, अरुचि आदि के आक्रमण होते रहते हैं। कोष्ठबद्धता रहती ही है। बहुत बार सास भी फूलने लगता है जिसका कारण विस्तृत कोलन से स्थानान्तरित अंगों का मध्यच्छदा पर दबाव होता है।

गुद परीक्षा करने पर ऐसे रोगी में मलाशय शुष्क मल से भरा प्रतीत होता है। बेरियम द्वारा एक्सरे-चित्रण से रोग स्पष्ट हो जाता है।

चिकित्सा—हिर्शस्प्रुङ्ग रोग में शस्त्रकर्म आवश्यक है। परानुकम्पी गंडहीन बृहदान्त्र के अंतिम भाग को काटकर ऊपर के सिरे को गुदा (anus) से जोड़ देते हैं। गुदसंवरणी (sphinctor anii) अक्षत रहती हैं इससे आन्त्रगति की लहर सारे कोलन पर होती हुई गुदा तक चली जाती है और

मल को बाहर निकाल देती है। शिशुओं में पहिले उदरभित्ति में मलत्याग मार्ग बनाना पड़ता है जिसके साथ कोलन को जोड़ दिया जाता है। इस कर्म को कोलोस्टोमी (colostomy) कहते हैं।

दूसरे प्रकार के रोग में बड़े बड़े ऐनीमाओं द्वारा बृहदान्त्र को मल से मुक्त करते रहना चाहिये। नित्यप्रति एनीमा दिये जायँ। यदि संवरणी पेशी संकुचित हो तो उसका यंत्रों से प्रसार किया जाय। सौषुम्निक संज्ञाहरण (spinal anaesthesia) जिसका प्रभाव ५ वीं वक्षीय नाड़ीमूलों तक हो, उससे भी तुरन्त मलत्याग होता है। इस कर्म को मास में एक बार करना पर्याप्त है। साधारण दशाओं में एनीमा और इस कर्म से वांछित लाभ होता है। किन्तु दशा के विषम होने पर शस्त्रकर्म करना आवश्यक होता है।

आन्त्र मे अर्बुदोत्पत्ति
(intestinal growths)

आन्त्र में सामान्य या सुदम्य (simple) और दुर्दम्य (malignant) दोनों प्रकार की वृद्धियाँ हो सकती हैं। सुदम्य में पौलीपस (polypus) ग्रन्थ्यर्बुद (adenoma), वसार्बुद (lipoma) और रक्तार्बुद (haemangioma) अधिक होते हैं। किन्तु इनकी अपेक्षा दुर्दम्य या घातक अर्बुद, कैंसर अधिक होता है। सारकोमा (sarcoma) असाधारण है।

पौलीपस छोटी गाठों के समान होते हैं। उनका आकार पिन के शिर से लेकर बेर के बराबर तक हो सकता है। प्रायः ये छोटे या बड़े डंठल (वृन्त pedicle) से आन्त्र के भीतर उसकी भित्ति से लटके रहते हैं। वृन्तों की लम्बाई में भी भिन्नता होती है। मलाशय के पौलीपसों के वृन्त लंबे होते हैं। वे गुद द्वार से बाहर निकल आते हैं जो उनका भ्रंश (prolapse) कहलाता है। श्लैष्मिक कला से आच्छादित होने के कारण वे गुलाबी या हलके लाल रंग के होते हैं। उनकी संख्या एक से लेकर कई सौ तक हो सकती है। बृहदान्त्र में यह दशा जन्मजात होती है जिसमें सूक्ष्म पौलीपसों की संख्या बहुत होती है। छोटे बड़े आकार के वृन्तयुक्त अथवा वृन्तहीन अनेक पौलीपस आन्त्र में विस्तृत होते हैं। यह दशा पौलीपोसिस (polyposis) कहलाती है। प्रायः ये आयु के अधिक होने पर दुर्दम्य रूप ले लेते हैं। अर्थात् वे कैंसर में परिवर्तित हो जाते हैं। आन्त्रशोथ के पश्चात् भी पौलीपस बन जाते हैं।

रक्तार्बुदों में श्लैष्मिक कलाकृत कोष के भीतर रक्तवाहिकाओं के गुच्छे होते हैं जिनके बीच में और उन पर भी कुछ तान्तव ऊतक बन जाता है।

इनसे श्लैष्मिक कला मे व्रण बन जाने से रक्तस्राव हुआ करता है और मल में रक्त निकलता रहता है जिससे रोगी रक्तक्षीण (anaemic) दिखाई देता है। व्रण और रक्तस्राव की मात्रा के अनुसार मल में भी रक्त की मात्रा में भिन्नता पाई जाती है।

सामान्य अर्बुद, ग्रन्थ्यर्बुद, वसार्बुद आदि बिना कोई लक्षण उत्पन्न किये बहुत काल तक पड़े रह सकते हैं किन्तु आकार बढ़ जाने पर उनसे बद्धान्त्र की दशा उत्पन्न हो सकती है।

दुर्दम्य रोगों में कैंसर विशेष है। सारकोमा बहुत असाधारण है। क्षुद्रान्त्र में कैंसर भी नहीं होता। वृहदान्त्र में निम्नस्थितियों मे कैंसर क्रमानुसार पाया जाता है। मलाशय, श्रोणिगत वृहदान्त्र, अंधान्त्र (सीकम), अनुप्रस्थ बृहदान्त्र, वृहदान्त्र के प्लैहिक बंक (कोण, flexure) के प्रान्त में; आरोही वृहदान्त्र, याकृती बंक (hepatic flexure) और अवरोही वृहदान्त्र। उण्डुक भी कैंसर से मुक्त रहता है।

लक्षण और चिह्न—रक्तार्बुदों का केवल चिह्न मल में रक्त आना है। वह अव्यक्तरक्त हो सकता है अथवा द्रष्टव्य मात्रा में उपस्थित हो सकता है। इसके अतिरिक्त और कोई लक्षण नही होता। पीड़ा नही होती। उदर खोलने पर भी वे नही दिखाई देते। पौलीपस का भी तभी पता चलता है जब मलाशय मे लम्बे वृन्तयुक्त होने पर उनका गुदद्वार द्वारा भ्रंश हो जाता है। सुदम्य अर्बुदो के भी प्रारंभ मे कोई लक्षण नहीं होते। आकार बढ़ जाने पर उदर परीक्षा से परिस्पर्शनीय होने पर ही उनका ज्ञान होता है। अथवा जब उनके कारण बद्धान्त्र हो जाता है तब उनका सन्देह होता है। बेरियम खिलाकर एक्स-रे चित्रण द्वारा उनका निदान सहज होता है।

दुर्दम्य या घातक अर्बुद प्रायः प्रौढावस्था के पश्चात् होते हैं। रोगी ४० वर्ष से ऊपर की आयु का होता है। प्रथम लक्षण कोष्ठबद्धता होती है। अथवा कोष्ठबद्धता और अतिसार के बारी बारी से आक्रमण होते रहते हैं। रोगी अस्वस्थ रहता है। उसको दुर्बलता प्रतीत होती है। शरीर-भार भी घटने लगता है। कभी कभी ज्वर भी हो जाता है। मल मे अव्यक्त या मुक्त रक्त मिल सकता है। मलाशय अथवा बृहदान्त्र के श्रोणिगत तथा अवरोही भाग के कैंसर मे मल मे रक्त उपस्थित मिलता है। रोगी क्षीणरक्त दिखाई देता है। जब अर्बुद का आकार बढ जाता है तब वह उदर द्वारा प्रतीत होता है। तब तक प्राय: अन्य अंगों मे उसका प्रसार हो चुकता है और उनमें गौण वृद्धियाँ (secondary growths) भी बन चुकती हैं।

रोगी की गुद-परीक्षा स्पर्श द्वारा तथा गुददर्शक यन्त्र (proctoscope, sigmoidoscope) द्वारा कभी न भूलनी चाहिये। एक्स-रे परीक्षा निश्चयात्मक हो सकती है। वेरियम खिलाने की अपेक्षा वेरियम एनीमा के पश्चात् चित्रण से अधिक ज्ञान प्राप्त हो सकता है। रोगी की सामान्य दैहिक परीक्षा भी न भूलनी चाहिये। अन्य अंगों में अर्बुद की गौण वृद्धियों की उपस्थिति से रोग का पता चल सकता है।

रोग की निश्चिति के लिये पूर्ण परीक्षा आवश्यक है जिसमें दैहिक परीक्षा में उदर परिस्पर्शन बहुत महत्त्व का है। साथ ही दर्शक यन्त्रों द्वारा परीक्षा, वेरियम खिलाकर या वेरियम एनीमा के पश्चात् चित्रण तथा अणुदर्शी द्वारा मल परीक्षा और रक्त परीक्षा भी अत्यन्त आवश्यक हैं।

चिकित्सा—शल्य प्रधान है। अर्बुदोच्छेदन करना पड़ता है अर्थात् आन्त्र के आक्रान्त भाग को निकाल देना आवश्यक होता है। पोलीपोसिस तथा रक्तार्बुद में भी ऐसा ही करना पड़ता है। गम्भीर एक्स-रे चिकित्सा (deep-radio-therapy) का भी यथासंभव प्रयोग किया जाता है।

सीलियक रोग (coeliac disease)

इस रोग को और भी कई नामों से पुकारा जाता है—गीका रोग, गीहर्टर का रोग, अग्न्याशय कर्महीनता और आन्त्रकर्महीनता (Gee's disease, Gee-Herter disease, Pancreatic or intestinal infantilism) यह रोग बाल्यावस्था और युवावस्था दोनों में पाया जाता है। और दोनों के रोगों का पृथक् पृथक् वर्णन किया गया है। रोग का विशेष विकार आहार के स्नेह (fat) अवशोषण (nonabsorption) की त्रुटि होती है। बच्चों में कारबोहाइड्रेट के अवशोषण में भी कठिनाई होती है। युवावस्था में कैलसियम और फास्फोरस का चयापचय भी विकृत हो जाता है। रोग स्त्री जाति में अधिक पाया जाता है।

बाल्यकाल का रोग

लक्षण—शैशवावस्था में रोग प्रारंभ हो सकता है। शिशु की वृद्धि रुक जाती है। वह देखने में अपनी आयु से कम मालूम होता है। चलना देर से प्रारंभ करता है। शरीर में अधस्त्वक् वसा का विशेषतया लोप हो जाता है। नितंबों की गोलाई जाती रहती है। बाहु और टाग आदि भी सूखे हुए से दीखते हैं। वसा न रहने से त्वचा में झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। त्वचा में रंग-कण एकत्र हो जाते हैं। चेहरा दुबला नहीं दीखता। उदर वायु या गैसों के आन्त्र

में एकत्र होने से सामने को उभरा हुआ दीखता है। किन्तु यकृत और प्लीहा की वृद्धि नहीं होती।

मल त्याग का विकार विशेष लक्षण है। प्रति दिन ५ या ६ बार मलत्याग होता है। मल फूला हुआ सा, दुर्गन्धियुक्त, मात्रा में अधिक और हलका पीला अथवा कभी कभी श्वेत रंग का होता है। पित्त की कमी अथवा अनुपस्थिति होती है। मल की परीक्षा आवश्यक है। उसमें लगभग ५० प्रतिशत वसा होती है (सामान्यतया १० से २२%)। जिसमें अधिकतर वसाम्ल होते हैं।

शिशु या बालक की वृद्धि का रुक जाना, त्वचा के नीचे से वसा का लोप और मल ये विकार रोग के विशेष लक्षण हे। कभी कभी मलत्याग की संख्या अधिक नही भी होती।

एक्स-रे परीक्षा से सहायता मिलती है। अस्थियों का विकास अपूर्ण होता है। उनके प्रान्तों का काण्ड से संयोजन विलम्बित हो जाता है।

रोगमुक्ति के पश्चात् भी युवावस्था में रोग की पुनरावृत्ति की संभावना रहती है।

रोग-निर्णय में कठिनाई नहीं होती आन्याशय रोगों में भी मल मे वसा की अधिक मात्रा निकलती है। किन्तु शरीर वृद्धि नहीं रुकती। वसा भी प्रायः अपरिवर्तित होती है, वसाम्लों में विभजित नही होती। स्प्रू (sprue) रोग मे क्षुधाह्रास नहीं होता और न शरीरवृद्धि ही रुकती है। अन्य औदरिक रोगों का विचार भी उचित है।

चिकित्सा—गेहूँ के आटे में विशेष कर और अन्य अन्नों के आटों में 'ग्लूटिन' (gluten) नामक प्रोटीन होती है। यह इस रोग में वसा के अवशोषण का अवरोध करती है। ऐसा आटा बाज़ार में बिकता है जिसको ग्लूटिनमुक्त कर दिया जाता है। ऐसे आटे का प्रयोग उचित है।

रोग की चिकित्सा विशेषतया आहारनियन्त्रण ही से की जाती है। रोग की तीव्र अवस्था में बालक को केवल मखनिया दूध दिया जाता है। साथ मे विटामिन ए. बी. और सी. तीनों को पर्याप्त मात्रा में देना आवश्यक है। shark liver oil (आयु अनुसार), वेरिन या बिनवी टिकिया, तथा ऐस्कोर्बिक अम्ल (२५ से ५० मि. ग्राम) की टिकियाँ दिन में तीन बार दी जायँ। केला दिया जा सकता है। दशा उन्नत होने पर साधारण आहार थोड़ी मात्रा में, आलू, अन्य शाक (उबाल कर पीसने के पश्चात् कपड़छन करके या चलनी में छान कर) मक्खन (अल्प मात्रा में) तथा अंडा और मास (केवल चूजा chicken) भी धीरे-धीरे आहार में बढ़ाये जा सकते हैं।

वयस्कों का रोग

वयस्कों में भी सीलियक रोग होना है। वसा का शरीर से अधिक मात्रा मे त्याग इसका विशेष चिह्न है। कैलसियम और फास्फोरस की रक्त में कमी हो जाती है।

लक्षण—रोगी के शरीर की वृद्धि प्राय अवगुंठित होती है। पेट सामने को निकला होता है। रोगी थोड़ी आयु का दीखना है। अतिसार, दुर्बलता, बाहु और टांगों की अस्थियों में पीड़ा, पेशियों में ऐंठन तथा त्वचा रोग विशेष लक्षण होते हैं।

रक्त-परीक्षा करने पर रक्त-क्षीणता मिलती है। सीरम मे कैलसियम और फास्फोरस दोनों की त्रुटि पाई जाती है। रक्त-शर्करा की भी कमी होती है। मल में वसा की अधिकता होती है, जो ४० से ७०% तक हो सकती है (सामान्य १० से २७%)।

चिकित्सा—बाल रोग के समान की जाती है। आहार ग्लूटिन से मुक्त होना चाहिये। कैलसियम खाने को देना चाहिये। कैलसियम लैक्टेट २.५ ग्राम दिन मे तीन बार मुँह से खिलाया जाय। विटामिन ए, बी१, बी२, सी, और डी उपयुक्त मात्रा मे देना बहुत आवश्यक है। ऐडेक्सोलिन (विटा. ए और डी) ५ बूँद, विनर्वा (विटा. बी१) ५ या १० मिलीग्राम और राइबोफ्लेविन (विटा. बी२) १० मि. ग्राम की १-१ टिकिया और रेडौक्सोन (विटा. सी) ५० मि. ग्राम की १ टिकिया, ये सब दिन में तीन बार दिये जायँ। रक्तक्षीणता के लिये फेरी-एट-ऐमोनियाई साइट्रास (Ferri et Ammon. Citras) १ से २ ग्राम दिन मे तीन बार तथा यकृत सत्त्व (Liver extract) के इन्जेक्शन भी दिये जायँ। यकृत सत्त्व मुँह से खिलाना भी उपादेय है। वह वसा के अवशोषण में सहायक कहा जाता है।

अभ्यन्तरांग भ्रंश (Visceroptosis)

इस रोग में उदर में स्थित अंग नीचे को खिसक जाते हैं। इसके अंगों के कर्मों मे जो गड़बड़ी हो जाती है वे ही इस रोग के लक्षण होते हैं। स्वयं अंगों के खिसकने से लक्षण नहीं होते। लक्षणो का कारण अंगों के कर्म के विकार होते हैं जिस से लक्षणपुंज (syndrome) प्रकट हो जाते हैं। इस दशा के अनेक कारण बताये जाते हैं। किन्तु कोई निश्चित कारण नहीं बताया जा सकता। हाँ, उन कारणों के फलरूप आन्त्र योजनी जो अंगों को उपयुक्त स्थिति मे रखती है, अवश्य ढीली पड़ जाती है। उदरभित्ति की पेशियों का क्षीण हो जाना, चलने, फिरने बैठने या काम करने के समय शरीर को अनुचित स्थिति में रखने

की आदत तथा पोषण की त्रुटियाँ जो शारीरिक वृद्धि में बाधक होती है इस दशा की उत्पत्ति में विशेष सहायक होती हैं।

रोग स्त्रियों में अधिक होता है जिसका कारण पुनः पुनः का प्रसव हो सकता है जिससे उदर-भित्ति दुर्बल हो जाती हैं, यद्यपि प्रत्येक दुर्बल भित्ति वाली स्त्री में अंग भ्रंश की दशा नहीं मिलती।

लक्षण और चिह्न—रोगी प्रायः क्षीण स्वास्थ्य वाला होता है। और उसका पेट नीचे को निकला होता है। स्वास्थ्य के निरन्तर क्षीण होते जाने का वह स्वय इतिहास बताता है। उसकी काम करने की शक्ति तथा विचार-शक्ति का भी ह्रास होता जाता है। कोष्ठबद्धता बनी रहती है। उदर में वायु तथा भारीपन प्रतीत होते हैं। जहा तहा पीडा प्रतीत होती रहती है। खड़े होने पर आन्त्र तथा अन्य अंग नीचे को खिसकते से प्रतीत होते हैं जिससे वह बेचैन हो जाता है। लेटने पर बेचैनी जाती रहती है। उसकी उद्विग्नता भी बढ़ती जाती है। पीठ मे, कटि प्रान्त मे जब तब पीड़ा हो जाती है।

परीक्षा करने पर उदरभित्तियों की दुर्बलता और सामान्य स्वास्थ्य की क्षीणता के अतिरिक्त और कोई अंगविकार नहीं मिलता। नाभि के नीचे उदर खड़े होने पर नीचे को अवश्य लटक जाता है। परिस्पर्शन से वृक्क कुछ चलायमान (mobile) प्रतीत हो सकते हैं।

बेरियम सल्फेट खिलाकर चित्रण से आमाशय, आन्त्र आदि समस्त पाचक प्रान्त की स्थिति का ज्ञान हो सकता है। आमाशय प्रायः लम्बा हो जाता है। उसका निचला सिरा श्रोणि तक पहुँच सकता है। किन्तु उसका ऊर्ध्व प्रान्त, जठर द्वार आदि अपने स्वाभाविक स्थान ही में रहते हैं। अनुप्रस्थ बृहद् अन्त्र श्रोणि में उपस्थित मिल सकता है। याकृती कोण और प्लैहिक कोण भी नीचे को खिच आते हैं।

कुछ हृष्टपुष्ट व्यक्तियों मे भी यह दशा पाई जाती है।

रोग निर्णय प्राय कठिन होता है। एक्स-रे चित्रण आवश्यक होता है। पित्ताशय का भी चित्रण करना चाहिये। लक्षणों के अन्यकारण न मिलने पर और एक्स-रे चित्रों मे आन्त्र की स्थिति देखने से रोग का निश्चय हो जाता है।

चिकित्सा—रोगावस्था को दूर करने की अपेक्षा उसको रोकना सहज है। बाल्यकाल से आगे चलकर इस रोग की संभावना को ध्यान में रखते हुए, विशेषकर क्षीण बालकों में, ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि उनमें रोग

उत्पन्न न होने पावे। बालक को बलवान बनाने के लिये जो कुछ भी उपाय किये जा सकें वे सब इस रोग को रोकने के साधन हैं। व्यायाम, विशेषकर औदरिक व्यायाम, जिससे उदरपेशियाँ सुदृढ़ बलवान बनें, रोग-निरोध का विशेष साधन है। बालक के चलने-बैठने आदि में यदि कोई त्रुटि हो उसको दूर किया जाय। यदि उसको कब्ज रहता हो तो उसको गत पृष्ठों में बताये हुए उपायों से ठीक करने का प्रयत्न उचित है।

रोगमुक्ति के लिये धैर्य की आवश्यकता है। उसमें समय लगता है किन्तु सतत् प्रयत्न से दशा में बहुत कुछ सुधार हो जाता है। चिकित्सा के सिद्धान्त वे ही हैं जो बालक की क्षीणता सुधारने के लिए किये जाते हैं। अर्थात् उदरपेशियों को बलवान बनाना, कोष्ठबद्धता दूर करना, शारीरिक स्थिति को सुधारना।

चिकित्सा प्रारंभ करते समय रोगी को दो तीन सप्ताह तक शैयारूढ करके रखा जाय। शैया की पाँयते सिरहाने की अपेक्षा ९ इंच ऊँची रहें। इससे उदर के भीतर के अंग ऊपर वक्ष की ओर को खिसक जायेंगे। रोगी को आज्ञा होनी चाहिये कि वह अपने हाथों से उदर को नीचे से ऊपर की ओर को दबाता रहे या उदरपेशियों की मालिश करता रहे। इसी समय उदरपेशियों का व्यायाम भी प्रारंभ करा दिया जाय। रोगी बार बार उनका संकोच करता रहे। संकुचित होने पर पेशिया भीतर की ओर को दबती हैं और खिसके हुए अंगों को दबा कर ऊपर को धकेलती हैं। जब रोगी उठना प्रारंभ करे तो वह हाथ से उदर को ऊपर की ओर दबाकर उदर की पेटी को, जो कार्सेट के नाम से बिकती है, लगाकर उठे। पेटी को कस देने पर वह उदर के निचले भाग को दाबकर रखती है जिससे उदरभित्ति ढीली नहीं होने पाती और भीतर के अंग नीचे को नहीं खिसकते।

साथ ही वक्ष को चौड़ा करने के लिये श्वास सम्बन्धी व्यायाम भी करवाये जाय॑। कार्सेट बाँध कर रोगी बैठ कर या बिना कार्सेट के भी लेटे लेटे गहरे श्वास भीतर लेकर जितना रोका जाय रोके रहे जैसे प्राणायाम के समय किया जाता है।

आहार पर ध्यान देना भी आवश्यक है। सामान्य मिश्रित आहार जिसका रोगी अभ्यस्त है वही उसके लिए उत्तम है। किन्तु उसको थोड़ी मात्रा में कई बार में दिया जाय। यदि रोगी को असुविधा न हो तो वह जल भोजन से आधा घंटा पहिले अथवा दो घंटा पश्चात् पिये। भोजन के साथ जल न दिया जाय। यदि रोगी को आहार से वायु (गैस) अधिक बनती है जो

कारवोहइड्रेटों के किण्वीकरण का परिणाम होता है तो भोजन में कारवोहाइड्रेट को बन्द कर दिया जाय। कुछ दिन के पश्चात् उसको धीरे धीरे बढाया जाय।

औषधियों में कोष्ठबद्धता दूर करने के लिये कैस्करा ईवैकुऐन्ट (Cascara Evacuant) उत्तम वस्तु है। २ से ६ मिलीलिटर तक एक औंस जल में मिलाकर रात को दिया जा सकता है। इससे आन्त्रपेशियों में बल आता है। कुचले के (Tr. Nux Vomica) योग का भी इसी प्रयोजन के लिये प्रयोग किया जाता है। २ मिलीलिटर कैसकरा ईवैकुऐन्ट, १ मि. लि. टिंचर नक्सवोमिका, स्पिरिट क्लोरोफार्म १ मि. लि. को १ औंस जल में मिलाकर दिन में तीन वार भी दिया जा सकता है। आवश्यक होने पर कब्ज को दूर करने के लिये लिक्विड पेराफिन १ औंस रात्रि को देना भी उपयोगी होता है।

रोगी की चिन्ता और उद्विग्नता दूर करने के लिए ब्रोमाइड आदि शामक औषधियों का प्रयोग करवाया जा सकता है।

चिकित्सा का यह क्रम दीर्घकाल तक जारी रखना आवश्यक है।

विपुटीयता तथा विपुटीशोथ

(Diverticulosis, Diverticulitis)

विपुटी (diverticulum) समस्त आन्त्र प्रान्त में उत्पन्न हो सकती हैं। ये प्राय: एक छोटी सी थैली के समान आन्त्र मार्ग मे कहीं पर भी उससे वाहर को निकला हुआ भाग होता है। इनका आकार एक चने या मटर से लेकर एक अंगुलि के बराबर हो सकता है। और इनकी संख्या एक से लेकर कई सौ तक हो सकती है। जब सूक्ष्म थैली के समान ऐसे बहुत से प्रवर्धित भाग होते हैं तो वह दशा **विपुटीयता** कहलाती है। जब उनमे शोथ हो जाता है तो वह **विपुटीशोथ** कहा जाता है।

इनकी उत्पत्ति का कारण अज्ञात है। आन्त्रभित्ति की कही पर दुर्बलता और आन्त्राभ्यन्तर दबाव की वृद्धि से यह दशा उत्पन्न होती है। कुछ विपुटी जन्मजात होती हैं। मैकिल की विपुटी (meckel's diverticulum) शेषान्त्र की जन्मजात विपुटी होती है जो एक अंगुली के समान शेषान्त्र से निकली रहती है। किन्तु प्राय. उसका पता ४० वर्ष के बाद चलता है। सो भी आकस्मिक जब आन्त्र की वेरियम एक्स-रे परीक्षा किसी अन्य रोग के लिये की जाती है।

ग्रासनाल की विपुटी का पहिले उल्लेख किया जा चुका है। नाल में किसी दुर्बल स्थान पर भीतर की श्लैष्मिक कला पेशीस्तर के भिन्न हो जाने से उसके द्वारा बाहर को प्रवर्धित हो जाती है। यही विपुटी कही जाती है। ग्रहणी (duodenum) मे भी विपुटी पाई जाती हैं। उसके वक्र भाग के भीतरी (नतोदर) पृष्ठ से निकली हुई विपुटी सब से अधिक पाई जाती हैं। बाहरी (उन्नतोदर) पृष्ठ से भी निकलती है। मध्यान्त्र (jejunum) और शेषान्त्र (ileum) में भी विपुटीयता की दशा अनेक बार मिलती है। किन्तु सबसे अधिक वे बृहदान्त्र मे पाई जाती हैं। उसमें भी श्रोणिगत भाग मे विशेषतया।

प्राय इनसे कोई लक्षण नहीं उत्पन्न होते। यह अनुमान किया जाता है कि ५ से १० प्रतिशत व्यक्तियों में यह दशा उपस्थित होती है जिसका पता केवल बेरियम खिला कर एक्स-रे चित्रण से चलता है। इनमें से १० प्रतिशत व्यक्तियो से अधिक में विपुटीशोथ नहीं होता।

विपुटीशोथ—किसी भी विपुटी मे शोथ हो सकता है। प्रायः मलकण विपुटी में पहुँच कर शुष्क होकर मलाश्मरी (faecoliths) बना देते हैं जिनसे भित्ति में व्रण बन जाते हैं। तृणाणु आन्त्र से वहाँ पहुँच कर व्रणों द्वारा प्रवेश करके उण्डुकशोथ के समान विपुटीशोथ उत्पन्न कर देते हैं।

लक्षण और चिह्न—लक्षण उण्डुकशोथ के समान होते हैं। किन्तु वे बाईं ओर होते हैं। पीड़ा, स्पर्शासह्यता, पेशीजाड्य ये सब बायें श्रोणिफलक खात मे उपस्थित मिलते हैं। परिदर्शन से शोथयुक्त श्रोणिगत आन्त्र अंगुलियो को प्रतीत होता है। ज्वर, नाड़ी, श्वास तथा रक्त में श्वेताणुवृद्धि, उण्डुक शोथ ही के समान मिलते हैं। कुछ जीर्ण रोगियों मे गुदा से रक्तस्राव इस दशा का प्रथम लक्षण होता है। कुछ में कोष्ठबद्धता और अतिसार, कैंसर के समान बारी से आक्रमण करते हैं।

रोग-निर्णय का निश्चित साधन केवल एक्स-रे परीक्षा है। एक्स-रे चित्र में विपुटियां आन्त्रमार्ग से बाहर निकली हुई थैलियों के समान दिखाई देती हैं।

चिकित्सा—विपुटीयता की अवस्था मे प्राय कोई चिकित्सा आवश्यक नहीं होती क्योंकि लक्षणों की अनुपस्थिति से रोग का सन्देह भी नही होता। कुछ व्यक्तियों में कब्ज़, उदर के निचले भाग में जब तब पीड़ा, मूत्रत्याग की अधिकता, वायु आदि लक्षणों के कभी कभी आक्रमण होते हैं। रोग के अन्वेषण के लिये की गई एक्स-रे परीक्षा से इस दशा का पता लगता है।

ऐसे रोगियों में कोष्ठबद्धता तथा अन्य कष्टों के शमन के लिये लक्षणानुसार चिकित्सा की जाती है। विपुटीशोथ हो जाने पर उसके उग्र रूप की चिकित्सा

उग्र उण्डुक शोथ ही के समान होती है। पूर्ण विश्राम, [illegible], पेशी द्वारा द्रवों की पुनःपूर्ति तथा मुँह या [illegible] और [illegible] का उपयुक्त मात्रा में प्रयोग इन उपायों से प्रायः रोग शान्त हो जाता है। आवश्यक होने पर शस्त्रकर्म किया जाता है।

रोग की जीर्ण अवस्था में अथवा मृदु आक्रमणों में बृहदान्त्र प्रक्षालन बहुत उपयोगी पाया गया है। यह क्रिया साधारण एनीमा की ही भांति की जाती है। किन्तु प्रक्षालक द्रव जो साधारण लवण विलयन होता है उसको जितना भी ऊपर तक भेजा जा सके उसका प्रयत्न किया जाता है जिससे बृहदान्त्र का अधिक से अधिक भाग स्वच्छ हो सके। रोगी को बायें पार्श्व में लिटा कर टांगों को उदर की ओर समेट कर एक १० नम्बर के रबर कैथीटर को ३ या ४ इंच गुदा में प्रविष्ट किया जाता है और उसको एक चार इंच लम्बी फनेल युक्त रबर नलिका से जोड़ दिया जाता है। फनेल को रोगी से १२ इन्च ऊँचा रख कर उसके द्वारा १ से २ पाइन्ट तक गरम लवण विलयन (१००-१०२° फ.) फनेल द्वारा गुदा में धीरे धीरे पहुँचाया जाता है। तब रोगी को पेट के बल जानु कूर्पर स्थिति (Knee-elbow position) में लिटा दिया जाता है। कुछ समय पश्चात् उसको दाहिने पार्श्व पर लिटाया जाता है। इसका अभिप्राय लवण विलयन को समस्त बृहदान्त्र में पहुँचाना होता है। रोगी विलयन को जितनी भी देर भीतर रख सके उत्तम है। तब वह बेडपैन पर या कमोड पर बैठकर विलयन का त्याग कर देता है।

रोग के मृदु रूप में तथा जीर्ण रूप में यह क्रिया प्रथम नित्य प्रति, फिर कुछ सप्ताह तक एक दिन छोड़ कर और तब सप्ताह में दो बार कई महीने तक जारी रखनी चाहिये। इस से विपुटियों के बनने की प्रवृत्ति रुक जाती है, ऐसा कहा जाता है। कुछ विद्वान ४ से ६ औंस लिक्विड पेरेफिन को प्रविष्ट करने के पश्चात् लवण विलयन प्रविष्ट करने की सलाह देते हैं।

आमाशय का उग्र प्रसार (Acute Dilatation of Stomach) आमाशय का अकस्मात् प्रसार हो जाता है। कई बार उदर के आपरेशनों के पश्चात् यह दशा पाई जाती है। उग्र रोगों में, प्रसव के पश्चात्, शिर पर चोट लगने से पृष्ठवंश के कशेरुकों तथा ऊर्वस्थ के अस्थिभग्नों के पश्चात् कभी कभी यह दशा उत्पन्न हो जाती है। इसको नाड़ीजन्य माना जाता है। वागस नाड़ी की जठर गामिनी शाखाओं का अंगघात (paralysis) हो जाता है जिससे वे क्रियाहीन हो जाती है। अनुकम्पी (sympathetic) नाड़ियों के अत्युत्तेजन का भी यही प्रभाव होता है।

लक्षण—प्रसार, चोट लगने अथवा शल्यकर्म के पश्चात् रोगी के होश में आने पर उसको प्रथम उदर के ऊपरी भाग के बीच में या बाईं ओर भारीपन या भरा सा प्रतीत होता है। संभव है कुछ पीड़ा भी मालूम हो। शीघ्र ही रोगी को वमन प्रारंभ हो जाते हैं जिनमे म्यूसिन या पित्तमिश्रित द्रव निकलता है। वमन बड़े-बड़े होते है। द्रव की मात्रा बहुत होती है। और रोगी के बिना प्रयास ही के वह बाहर आ जाती है जैसे जल किसी पात्र से उडेला जाता हो।

रोगी शीघ्र ही निर्जलीकृत (dehydration) हो जाता है यद्यपि उसके उदर का ऊपरी भाग या पार्श्व (बायाँ) फूला हुआ दीखता है। यदि उसके उदर को दोनों ओर हाथों से पकड़ कर हिलाया जाय तो ऐसा शब्द सुनाई देगा जैसे कि किसी आधे भरे हुवे घड़े में जल के छलकने से उत्पन्न होता है। इसको जलास्फालन शब्द (water splash) कहते हैं। रोगी का वर्ण पीला, नेत्र धंसे हुए, और अवसाद के से लक्षण दिखाई देंगे। नाड़ी द्रुतगामी और क्षीण प्रतीत होगी। रक्तदाब का ह्रास मिलेगा।

यह एक उग्र दशा होती है जो चिकित्सा के सफल न होने पर अल्पकाल ही में प्राणान्तक प्रमाणित हो सकती है। रोग का सन्देह होते ही तत्परता से चिकित्सा प्रारंभ कर देनी चाहिये।

चिकित्सा—यह भी उग्रोदर ही की एक दशा है। अतएव अन्य उग्रोदर दशाओं से उसको पृथक् करके पहिचानना कभी कभी कठिन हो जाता है। चोट या आपरेशन के पश्चात् ही दशा का प्रारंभ होना, ज्वर न होकर ताप का न्यून होना, वमनों की अधिकता और वमन मे द्रव का अतिमात्रा मे निकलना, प्रारंभ ही से अवसाद के लक्षण, इन विशेष लक्षणों के विचार से रोग-निर्णय सहज होना चाहिये।

रोग का सन्देह होते ही चिकित्सा तुरन्त प्रारंभ कर दी जाय। चिकित्सा दो विशेष सिद्धान्तों पर आधारित है। एक, आमाशय मे एकत्र होने वाले द्रव को तुरन्त बाहर निकालना। दूसरे वमन द्वारा निकले हुए शरीरद्रवों का पुनराधान, उनको शरीर मे पहुँचा कर शरीर के द्रव और लवणों की त्रुटि-पूर्ति। पहले प्रयोजन की पूर्ति आमाशय में राइलनलिका को प्रविष्ट करके और उस पर एक चूषक पम्प लगाकर निरन्तर चूषण द्वारा की जाती है। इसका आन्त्र के अन्यरोगों के संबंध में भी उल्लेख किया जा चुका है। दूसरे प्रयोजन की पूर्ति शिरा द्वारा निरन्तर विधि से लवण विलयन को शिरा द्वारा पहुँचाकर की जाति है। वमनो द्वारा पोटासियम का विशेष ह्रास होता है। इस कारण पोटासियम की त्रुटिपूर्ति का आयोजन भी आवश्यक है।

इन दोनों कर्मों के पश्चात् रोगी के आमाशय की आन्त्रगति की पुन. स्थापना भी आवश्यक है। इसके लिये प्रोस्टिगमीन १ मिलीग्राम अथवा फाइसोस्टिगमीन

०.३ मिलीग्राम (१।२०० ग्रेन) के तीन इन्जेक्शन चार चार घटे पर दिये जाते हैं। यदि इनसे इच्छित सफलता न मिले तो कुछ काल पश्चात और भी इंजैक्शन दिये जा सकते हैं।[१]

आमाशय का जीर्ण प्रसार
(chronic dilatation of stomach)

यह दशा प्राय: आमाशय के पायलोरस प्रान्त में किसी प्रकार के अवरोध के कारण उत्पन्न होती है यद्यपि बिना अवरोध के स्वयंजात प्रसार का भी उल्लेख मिलता है। अतिमात्रा में आहार करने वालों के आमाशय सदा प्रसरित होते हैं। किन्तु उनसे कोई लक्षण नहीं उत्पन्न होते।

अवरोधजनक विशेष कारण ये होते हैं :—पायलोरस का व्रण, व्रण के आरोहण पर बने क्षताक के कारण संकिरण (stricture or stenosis), नवीन वृद्धि या अर्बुद, पायलोरस या ग्रहणी के बाहर का अर्बुद जिसका उन पर दबाव पड़ता हो, पायलोरस का आक्षेपक (pylorospasm), पायलोरस या ग्रहणी के बाहर बन्ध या जोड़ (adhesions) जिनसे भीतरी मार्ग दबता हो। बालुका घटी यन्त्राभ आमाशय (hourglass stomach) में सदा अवरोध बना रहता है। कैंसरोत्पत्तिजन्य अवरोध तेजी से बढ़ता है।

लक्षण—रोगी को प्राय· अपच के से लक्षण होते हैं। उदर के ऊपरी भाग में भारीपन और भरा हुआ सा प्रतीत होता रहता है। रोगी को जब तब वमन होते हैं जिनमें आमाशय में एकत्र हुआ पदार्थ अतिमात्रा में निकलता है। अनेक बार कई दिन पूर्व खाये हुए पदार्थ निकलते हैं। रोगी की दुर्बलता बढ़ती चली जाती है। वमन में खट्टा खट्टा पदार्थ निकला करता है और बहुत बार किण्वीकरण के कारण खट्टी डकार आती रहती हैं।

परीक्षा करने पर उदर का ऊपरी भाग फूला हुआ दीखता है। उदरभित्ति के क्षीण होने पर आमाशय की आकृति रेखा दिखाई पड़ती है। जलास्फालन शब्द सुनाई देता है। और परिस्पर्शन से आन्त्रगति तरंग उदर के ऊपरी भाग मे बाईं ओर से दाहिनी ओर को जाती दीखती हैं। बेरियम द्वारा एक्स-रे चित्रण से आमाशय का आकार दीखता है। आमाशय में बेरियम आहार बहुत समय तक भरा रहता है। उसके खाली होने मे बहुत समय लगता है। यदि कैंसर आदि अर्बुद भीतर होता है तो उसका अनुमान हो जाता है। रासायनिक परीक्षा से आमाशय में हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की अनुपस्थिति या कमी मिलती है।

चिकित्सा—आक्षेपक के अतिरिक्ति अन्य अवरोधों की उपस्थिति में आमाशय-आन्त्र संयोजन (gastro enterostomy) आवश्यक होता

है। दोनों के बीच में एक मार्ग बनाकर किनारों को सी दिया जाता है। आक्षेपकजन्य अवरोध की चिकित्सा टिंचर वेलाडोना द्वारा सफलतापूर्वक की जा सकती है।

हिक्का, हिचकी (Hiccough)

यह उस दशा का नाम है जब हिचकी आती ही रहती हैं। साधारणतया दो चार बार हिचकी आना साधारण सी बात है जिसके लिये किसी चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु जब निरन्तर हिचकी आने लगती है और कितने ही घंटों तक या दिनों तक आती रहती है तो वह प्रायः किसी अन्य रोग का फल होती है। और उसकी चिकित्सा आवश्यक हो जाती है।

हिचकी मध्यच्छदा पेशी के अकस्मात् संकोच और कंठद्वार (ग्लौटिस) के बन्द हो जाने का फल होती है। इसके निम्नलिखित कारण हो सकते हैं।

१. **पाचक तन्त्र संबधी**—तीक्ष्ण स्वाद या अत्यधिक मसाले वाले खाद्य पदार्थ या सिगरेट या तम्बाखू के धुवे से आमाशय या ग्रासनाल का उत्तेजित हो जाना। आन्त्र शोथ, आमाशय शोथ, बद्धान्त्र, पर्युदर्याशोथ आदि रोगों मे भी हिचकी आती है।

२. **वृक्क संबंधी**—वृक्कशोथ तथा यूरीमियाँ (यूरिया रक्तमयता) हिक्का का विशेष कारण हो सकते हैं। ऐसी दशा में हिक्का आपत्तिसूचक है।

३. **मध्यस्थ नाड़ी तन्त्र संबंधी**—मस्तिष्क तथा मेरुरज्जु मे स्थित कारणों से हिक्का उत्पन्न हो सकता है। मस्तिष्कावरणशोथ (meningitis) मस्तिष्कशोथ (encephalitis), हिस्टीरिया, अपस्मार (epilepsy), मस्तिष्क के अर्बुद।

४. **परिधिस्थ नाड़ी तन्त्रजन्य**—उरोन्तराल के अर्बुद (mediastinal tumours), मध्यच्छदा पर स्थित प्लूरिसी (diaphragmatic pleurisy) अथवा परिहृदान्तर्गत निस्सारण (pericardial effusion) तथा वक्षान्तर्गत ऐसी ही दशाओं के दबाव से उत्पन्न हुए प्रतिवर्त हिक्का का कारण हो सकते हैं।

५. **मानसिक कारण**—कई वार मानसिक उद्विग्नता या दशाओं से हिचकी आने लगती हैं।

चिकित्सा—१. **घरेलू उपचार**—मानसिक कारणों से उत्पन्न हुई हिचकियों में ये साधारण आयोजन कृत कार्य हो सकते हैं। इनका प्रयोजन रोगी के ध्यान को उस ओर से हटाकर दूसरी ओर लगाना होता है। श्वास रोकना, बरफ के टुकड़े चूसने को देना, उसे भयभीत करना, सुगन्ध या दुर्गन्ध

सुंघाना, बातों में लगाना, दुखद या अतिसुखद समाचार सुनाना, जो विषय रोगी को अतिरुचिकर हो उसका वार्त्तालाप करना आदि ऐसे ही आयोजन हैं।

२. रोग के कारण को ढूँढ कर उसकी चिकित्सा।

३. शामक औषधियों का प्रयोग—

अ. फिनोबारबिटोन सोडियम ३०-६० मिलीग्राम ($\frac{१}{२}$–१ ग्रेन) की टिकिया, दिन मे तीन बार, प्रति ४ घंटे पर मुंह द्वारा। अथवा डाईमोर्फान ($\frac{१}{९}$ ग्रेन) ७·२ मिलीग्राम का एक इंजेक्शन। अन्य बहुत सी शामक औषधियाँ जो बाजार मे बिकती हैं, उनका भी प्रयोग किया जा सकता है।

४. नाक तथा गले की श्लेष्मल कला पर कोकेन विलयन का विलेपन।

५. एमिल नाइट्राइट के कैप्सूल को तोड़ कर उसके वाष्पों को सुंघाने से लाभ हो सकता है।

६. कार्बन-डाई आक्साइड सुंघाना। रोगी को एक कागज का थैला दे दिया जाय। उसको नाक और मुंह पर लगाकर वह उसी में ३ से ५ मिनट तक श्वास निकाले और ले। अथवा १० से १५% वायु और कार्बनडाई आक्साइड के मिश्रण को मास्क द्वारा ३ से ५ मिनट तक सुंघाया जाय।

७, आक्षेपकहर औषधियों, ऐट्रोपीन सल्फेट ($\frac{१}{२००}$ - $\frac{१}{१००}$ ग्रेन), के इन्जेक्शन से हिक्का बन्द हो सकता है।

८. क्लोरप्रोमेज़ीन (लार्गेक्टिल) ५० मिलीग्राम के अन्तर्शिरीय इन्जेक्शन से हिक्का तुरन्त बन्द हो सकता है इसी के योग जो अमरीका में थोरेजीन और स्पारीन के नाम से बिकते हैं उनके ५० मिलीग्राम को गहरे नितम्ब पेशियों में इन्जेक्शन द्वारा भी दिया जाता है। इससे जी मचलाने में भी लाभ होता है।

९. उपर्युक्त आयोजनों से सफलता न होने पर मध्यच्छदा नाड़ी (phrenic nerve) मे प्रोकेन के इन्जेक्शन दिये गये हैं। तथा नाड़ी का संबंध-विच्छेद तक किया गया है।

मध्यच्छदा द्वारा हर्निया
(Diaphragmatic Hernia)

इस दशा में मध्यच्छदा के किसी विदार या छिद्र द्वारा उदर का कोई अंग या उसका भाग वक्ष मे निकल आता है। प्रायः आमाशय का कुछ भाग ही निकलता है। अनुप्रस्थ, बृहदान्त्र तथा क्षुद्रान्त्र भी हर्निया में पाये जाते हैं। मध्यच्छदा में ग्रासनाल के छिद्र द्वारा आमाशय या अनुप्रस्थ बृहदान्त्र वक्ष मे निकल जाते हैं। यह दशा जन्मजात हो सकती है जो शिशुओं में प्रकट होती है। इसका कारण मध्यच्छदा के किसी भाग का अपूर्ण निर्माण होता है।

अधिक आयु पर प्रकट होने वाली हर्निया का कारण भी मध्यच्छदा की किसी स्थान पर जन्मजात दुर्बलता होती है जिसके बढने पर हर्निया बनती है। १६ प्रतिशत रोगियों में आघातजन्य (traumatic) हर्निया होती है।

लक्षण – शिशुवों में जन्मजात हर्निया होने पर लक्षण शीघ्र ही प्रगट हो जाते हैं। वर्ण नीलिमा (cyanosis), वमन और श्वास कष्ट (dyspnoea) ये तीन विशेष लक्षण हैं। शिशु बार बार दूध पीने के पश्चात् वमन करता है। पेट में (ऊपरी भाग मे) दर्द के कारण रोता रहता है। रोने के समय रंग नीला हो जाता है और श्वास जल्दी जल्दी और कष्ट के साथ लेता है।

वयस्कों में जब हर्निया पीछे से उत्पन्न होती है (उपलब्ध प्रकार की) तो अनेक बार कोई लक्षण नही होते। केवल किसी कारणवशात् बेरियम खिलाकर एक्स-रे चित्रण से दशा का पता लगता है। प्रायः पेट के ऊपरी भाग में बेचैनी और डकार आना आदि अग्निमाद्य के से लक्षण होते हैं जो विशेषतया भोजन के पश्चात् लेटने पर अधिक हो जाते है। जी मिचलाना, कभी कभी वमन, वमन में रक्त आना तथा उरःशूल (angina pectoris) के समान वक्ष तथा बाईं बाहु में पीड़ा होना ये रोग के विशेष लक्षण हैं। इस कारण आमाशय व्रण और पित्ताशय शोथ (cholecystitis) से विशेषतया भ्रम हो जाता है। कभी हर्निया के छिद्र द्वारा आन्त्र का हर्निया होने पर बद्धान्त्र की दशा उत्पन्न हो जाती है और बद्धान्त्र के से लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। रोगी को प्रायः रक्तक्षीणता होती है। बेरियम खिलाकर पेट के बल लिटाकर और वक्ष तनिक नीचा कर के एक्स-रे चित्र लेने पर दशा का पूर्ण निर्णय हो जाता है।

चिकित्सा—लक्षण न होने पर चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती। हृद्दाह के लिये जिसका कारण आमाशय की आम्लिक वस्तु का ग्रासनाल में लौटना होता है अम्ल के निराकरण के हेतु प्रत्याम्लिक (antacids) योग देने चाहिये। रोगी को स्निग्ध अक्षोभक (bland) आहार थोड़ी मात्रा में कई बार दिया जाय। रोगी को आहार के पश्चात् तुरन्त लेटने की या व्यायाम या तीव्र परिश्रम करने की मनाई होनी चाहिये। सोते समय रोगी की शैया का सिरहाना ऊंचा करके रखा जाय।

रक्तक्षीणता का कारण आमाशय से अल्पमात्रा में रक्तस्राव होना है। मध्यच्छदा नाड़ी (phrenic nerve) को कुचल देने से यह रक्तस्राव तथा हृद् शूल के समान वक्ष में होने वाली पीड़ा दोनों बन्द हो जाते हैं।

लक्षणों के उग्र होने पर शस्त्रकर्म का विधान आवश्यक होता है। किन्तु यह एक वृहद् और जटिल कर्म है। इस कारण अनिवार्य होने ही पर उसका आयोजन किया जाता है।

शिशुओं में दशा सदा उग्र होती है। इस कारण प्रायः आपरेशन ही करना पड़ता है।

प्रादेशिक शेषान्त्र शोथ

(Regional ileitis, Crohn's disease)

इस रोग में प्रायः शेषान्त्र के अन्तिम लगभग एक फुट के भाग में जीर्ण प्रकार का शोथ हो जाता है जिससे आन्त्र भित्ति के प्रायः सब ही स्तर मोटे पड़ जाते हैं और आन्त्र मार्ग संकुचित हो जाता है। भीतर की श्लैष्मिक कला जहां तहां नष्ट हो जाती है और एक नवीन प्रकार का ऊतक जो (granulomatous tissue) कहलाता है वह आन्त्र के भीतर और संबंधित आन्त्र संयोजनी कला (mesentery) में बन जाता है। उसकी लसीका-ग्रन्थियां भी परिवर्तित हो जाती हैं। श्लैष्मिक कला में गहरे व्रण बन जाते हैं।

यह दशा आक्रान्त भाग मे अत्यन्त सीमित रहती है। आक्रान्त भाग के किनारे से बन जाते है जिनके बाहर आन्त्र पूर्ण स्वस्थ होता है। कुछ कुछ दूर पर ऐसे कई रोग-ग्रस्त प्रान्त बन सकते हैं जिन के बीच का अनाक्रान्त भाग सामान्य होता है। यह दशा शेषान्त्र से अन्धान्त्र या वृहदान्त्र मे विस्तार कर सकती है। सारा शेषान्त्र और मध्यान्त्र भी आक्रान्त हो सकता है। किन्तु वह प्रायः शेषान्त्र के अन्तिम भाग ही में परिमित मिलती है। उससे भगन्दर उत्पन्न हो सकता है जिसका मुख गुदा, या मलाशय में या गुदद्वार के चारो ओर के स्थान में कहीं भी त्वचा पर बन सकता है।

लक्षण—पीड़ा, विशेषतया दाहिने श्रोणिफलक खात मे, और अतिसार के आक्रमण इस रोग के विशेष लक्षण होते हैं। प्राय॰ पीड़ा के पश्चात दस्त आते हैं। दस्त आने पर पीड़ा कम हो जाती है। दस्तो में प्रायः रक्त या पूय नहीं होते। अनेक बार दस्त बँधा हुवा होता है। हलका ज्वर रहता है। शरीर भार का क्षय और हलकी रक्तक्षीणता भी होती हैं।

परीक्षा करने पर परिस्पर्शन से उदर के दाहिनी ओर नीचे के भाग में स्पर्शासह्यता मिलती है। दाहिने श्रोणिफलक खात में एक शोथयुक्त पिंड प्रतीत होता है जो आन्त्र के आक्रान्त भागों के जुड़ जाने से बन जाता हैं। पिंड के आकार में रोग की वृद्धि के अनुसार भिन्नता मिल सकती है। इस रोग की

फिस्चुला (fistula) बनाने की विशेष प्रवृत्ति होती है। दाहिने श्रोणिफलक-खात ही में उदरभित्ति द्वारा त्वचा पर फिस्चुला का मुख बन सकता है। अथवा ऊपर कहे अनुसार वे भगन्दर का रूप लेकर गुदा मे या गुदद्वार के चारों ओर खुल सकते हैं।

इस रोग को कितनी ही बार उण्डुक-शोथ समझ कर शस्त्रकर्म कर दिया गया है।

रोग को पहिचानने के लिये बेरियम-ऐक्स-रे परीक्षा आवश्यक है। आन्त्र-मार्ग का संकुचित होना रोग का विशिष्ट चिह्न है। आन्त्र में कई आक्रान्त क्षेत्र मिल सकते हैं जिनके बीच का भाग स्वस्थ किन्तु विस्तृत मिलेगा। ऐसे भागों द्वारा बेरियम बड़ी शीघ्रता से प्रवाहित होता है। रोग निर्णय-प्राय कठिन होता है। मल-परीक्षा से भी कुछ नहीं मिलता। रोग का कोई विशिष्ट कारण अभी तक नही मालूम हुवा है।

रोग निर्णय—इस प्रान्त में उण्डुकशोथ, अन्धान्त्र का कैंसर तथा अन्धान्त्र का ट्यूबर्कुलोसिस (क्षय) विशेषतया अधिक पाये जाते हैं। लक्षणों और परीक्षाओं से उण्डुकशोथ को पृथक् करना सहज है। ट्यूबर्कुलोसिस में स्ट्रिप्टोमायसीन, PAS आदि से निश्चित लाभ होता है। अन्य किसी अंग के ट्यूबर्कुलोसिस से आक्रान्त होने पर रोग-निश्चय प्रमाणित हो जाता है। कैंसर का भी प्राय· किसी अन्य अंग से विस्तार होता है। आयु का विचार भी सहायक होता है। यह रोग प्राय· २० और ३० वर्ष की आयु के बीच में होता है।

चिकित्सा—रोगोत्पत्ति के विशिष्ट कारण के अज्ञात होने से रोग की संतोषजनक चिकित्सा का अभी तक आविष्कार नहीं हो सका है। औषधियों में विटामिन बी. १२ (सायनोकोबलएमीन) उपयोगी पाई गई है। पीड़ा के लिये शामक औषधियों का प्रयोग किया जाता है। अतिसार का भी लाक्षणिक उपचार किया जाता है। रोगी की दशा सुधारने के लिये और उसको आपरेशन सहन करने तथा तीव्र आक्रमण में शरीर की रक्षा करने के योग्य सामर्थ्य प्रदान करने के लिये कार्टीसोन तथा तत्सम योगों को उपयोगी पाया गया है। कौर्टिकोस्टीराइड योगों से संधिशोथ तथा अतिसार को विशेष लाभ होता है। उग्र आक्रमण में ये योग जीवनरक्षक प्रमाणित हो सकते हैं।

किसी समय शस्त्रकर्म द्वारा आक्रान्त आंत्रोच्छेदन से बहुत आशा की जाती थी। किन्तु यह विधि केवल आरम्भ में अथवा रोग के परिमित होने ही पर उपयुक्त हो सकती थी। रोग के विस्तृत होने पर यह व्यवहृत नही थी। किन्तु इसके परिणाम भी संतोषजनक नही हुवे। परिमित रोगाक्रान्त भाग के उच्छेदन पर भी रोग की पुनरावृत्ति अधिकाश रोगियों मे हुई।

तो भी इस रोग के कारण जब बद्धान्त्र हो जाता है या जब फिस्चुला बन जाते हैं तो शस्त्रकर्म ही का आश्रय लेना पड़ता है।

रोग के मृदुक्रम में अथवा अत्युग्र न होने पर औषधोपचार ही किया जाता है। बलवर्धक और लाक्षणिक उपचार के साथ आहार पोषक किन्तु न्यून अवशेष (Low residue diet) वाला होना चाहिये, जिसके अधिक भाग का अवशोषण हो और अशोष्य भाग बहुत कम रहे।

मलाशय और बृहदान्त्र का कैंसर

(Cancer of Colon and Rectum)

शरीर में आमाशय के पश्चात् कैंसर अर्बुद सबसे अधिक बृहदान्त्र में होता है। और वहां भी क्रमानुसार मलाशय, अन्धान्त्र और आरोही बृहदान्त्र मे होता है बृहदान्त्र सारकोमा भी पाया जाता है यद्यपि कम होता है।

अन्य भागों के अर्बुदों की भाति इस प्रान्त के कैंसर का कारण भी नहीं मालूम हो सका है। व्रणयुक्त बृहदान्त्रशोथ (ulcerative colitis) के पश्चात् यह अर्बुद प्रायः उत्पन्न हो जाता है। अर्बुद विशेष कर दो प्रकार का होता है। एक, जिसमें अर्बुद पिंड की वृद्धि अधिक होती है जिससे पिंड का आकार बढ़ता चला जाता है। यह (fungating या proliferative) प्रकार कहलाता है। दूसरा (sclerosing) प्रकार का होता है जिसमें अर्बुद-कोशिकाये आन्त्रभित्ति के स्तरों मे फैलती चली जाती हैं, और आन्त्र का वह भाग एक कागज के गोल टुकड़े या छल्ले (ring of parchment) के समान हो जाता है। पहले प्रकार मे कोशिकाओं की संख्या में अतिवृद्धि होती है। दूसरे प्रकार में तान्तव ऊतक (fibrous tissue) अधिक बनता है। आन्त्र का आक्रान्त भाग एक मोटे कागज या मोटे कपड़े की नलिका के समान हो जाता है जिसके पेशी श्लैष्मिक आदि स्तर नष्ट हो जाते हैं। प्रायः दोनों प्रकारो की वृद्धि धीमी गति से होती है। इस अर्बुद का दूसरे अंगों में प्रसार रक्त और लसीका वाहिनियों, दोनों से होता है। अर्बुद की कोशिकाये रक्त द्वारा अन्य भागों की अपेक्षा यकृत् मे अधिक पहुँचती हैं जहाँ यकृत् का कैंसर उत्पन्न हो जाता है।

लक्षण और चिह्न—आरोही और अवरोही बृहदान्त्रों के रोग मे लक्षणों में भिन्नता पाई जाती है। आरोही बृहदान्त्र के अर्बुद के कारण उत्पन्न हुए व्रणों के जीवविषों (toxins) का अतिमात्रा में अवशोषण होता है जिससे रक्त-विषमयता (toxaemia) के लक्षण शरीरक्षय, अस्वस्थता, शरीर-भार का ह्रास, हलका-ज्वर तथा रक्तक्षीणता उत्पन्न हो जाते हैं। दूसरे अवरोही बृहदान्त्र के

अर्बुद में अवरोध या बद्धान्त्र के से लक्षण उत्पन्न होते हैं। विशेष बात यह है कि रोगी की मलत्याग क्रिया का रूप बदल जाता है। जहाँ उसको पहिले दिन में एक या दो बार नियत समय से शौच होता था वहाँ अब उसको कब्ज रहने लगता है। कभी कब्ज होता है, कभी पतले दस्त हो जाते हैं। बँधे दस्त कई बार अनियमित समय से तथा कब्ज समय समय पर हो सकते हैं। धीरे-धीरे क़ब्ज़ और बढ़ता जाता है। पेट में पीड़ा के जब-तब आक्रमण होते रहते हैं और वह अर्बुद के स्थान से दूर प्रतीत हो सकती है। अवरोही आन्त्र के अर्बुद से पीड़ा और बेचैनी अन्धान्त्र में मालूम हो सकती है। व्रण बन जाने से मल में रक्त और पूय आ सकते हैं। प्रारम्भ में ही मल-परीक्षा में अव्यक्त रक्त को ढूंढना चाहिए। मलाशय के अर्बुद में रक्तस्राव विशेष लक्षण है। अर्श (piles) उत्पन्न हो सकते हैं। वृद्धावस्था में अर्श की उपस्थिति कैंसर का सन्देहजनक है। ऐसी दशा में गुद-परीक्षा कभी न भूलनी चाहिये। और यदि उदर-परीक्षा करने पर कहीं रुका हुआ मलपिंड प्रतीत हो तो उसके नीचे के आन्त्रभाग में कैंसर की सम्भावना है। उससे ऊपर के आन्त्रभागों में गैस एकत्र होने से वे विस्तृत या फूले हुए प्रतीत होंगे।

विशेष बात यह है कि ४० वर्ष की आयु के पश्चात् यदि रोगी के मलत्याग क्रम में विकार आ जाय, उसको कब्ज़, क्षुधाह्रास, उदर में जब-तब पीड़ा के आक्रमण, पेट फूलना, दस्तों का अनियमित प्रकार से आना आदि लक्षण दिखलाई दे तो कैंसर के लिये रोगी का पूरा अन्वेषण करना उचित है।

परीक्षायें—रोगी की दैहिक परीक्षा के पश्चात् उदर की सावधानी से परीक्षा की जाय और तब मल की किसी विशेषज्ञ से विशेषतया गुप्त रक्त के लिये परीक्षा करवाई जाय। रक्त के अधिक होने पर तो वह ऊपर ही से दीख जायगा जिससे व्रणोत्पत्ति का अनुमान होता है।

गुददर्शक द्वारा और एक्स-रे परीक्षाये भी विशेष महत्व की हैं। यदि दर्शक यन्त्रद्वारा अर्बुदपिंड दिखाई दे तो उसका एक टुकड़ा काट कर उसकी ऊतक परीक्षा (biopsy) भी करवायी जाय। यदि इस परीक्षा की रिपोर्ट कैंसर के विरुद्ध हो किन्तु अन्य लक्षण और दैहिक परीक्षा-फल कैंसर के समर्थक हों तो कैंसर रोग ही समझना चाहिये। अनेक बार काटा हुआ टुकड़ा कैंसर का न होकर उसके पास के सामान्य ऊतक का होता है जिससे विशेषज्ञ की रिपोर्ट भ्रमात्मक हो जाती है।

कोलन या बृहदान्त्र की एक्स-रे परीक्षा दो प्रकार से की जाती है। एक बेरियम सल्फेट खिलाकर पाचक प्रान्त के चित्रण से और दूसरे बेरियम एनीमा देकर, जिससे सारे कोलन, अर्थात् अन्धान्त्र तक बेरियम पहुँच जाता है। इस

प्रकार की परीक्षा से कोलन के अधोभाग तथा मलाशय का उत्तम अन्वेषण हो जाता है। आरोही कोलन के अन्वेषण के लिये बेरियम आहार-परीक्षा अधिक उपयोगी है। एक्स-रे चित्रों में दो प्रकार की त्रुटि दिखाई दे सकती है, आन्त्र-संकोच की जिसमें आन्त्र के आक्रान्त भाग मे बेरियम की छाया अत्यन्त संकुचित या अनुपस्थित होगी। और दूसरे पूर्णता-त्रुटि (filling defect) हो सकती है जिसमें छाया एक ओर से अधूरी और अनियमित सीमारेखा वाली होगी।

बहुत बार रोग-निर्णय सहज नहीं होता। रोग को पहिचानने मे कई महीने लग सकते हैं। विशेष बात यह है कि चिकित्सक कभी यह न भूले कि ४० वर्ष की आयु के पश्चात् गुद-द्वारा रक्तस्राव का मुख्य कारण कैंसर होता है और वह यह भी स्मरण रखे कि शीघ्रातिशीघ्र रोग को पहिचानने पर ही रोगी के जीवन की रक्षा आधारित है।

चिकित्सा—आमाशय के कैंसर की अपेक्षा कोलन के कैंसर मे रोगी के बचने की आशा अधिक होती है। आन्त्र के आक्रान्त भाग को सम्पूर्णतया उच्छेदित कर देना ही रोग की चिकित्सा है। यद्यपि यह एक अत्यन्त विस्तृत और वृहद् आपरेशन है तो भी शल्यकर्म-विधियों में आधुनिक उन्नति तथा रुधिराधान और संज्ञाहरण (anaesthesia) के नवीन उन्नत उपायों से ६० प्रतिशत रोगियो में सफलतापूर्वक आपरेशन कोविद सर्जनों द्वारा किया जाता है और उनमें से कम से कम आधे पाँच वर्ष से अधिक तक जीवित पाये गये हैं।

अर्श (Hemorrhoides, Piles)

यह रोग विशेषतया शल्य-सम्बन्धी है। किन्तु सामान्य चिकित्सक ही को प्राय आक्रमण के आरम्भ में औषधोपचार करना पड़ता है। इस लिये यहाँ संक्षेप मे उसका उल्लेख किया जाता है।

लक्षण—दो प्रकार के अर्श होते हैं। एक में रक्तस्राव होता है। ये अंगुली को मृदु और फूले हुए प्रतीत होते हैं। दूसरे प्रकार के अर्श ठोस गाँठों की भाँति प्रतीत होते हैं, जिनमे रक्तस्राव नही होता। ये अधो आन्त्र योजनी शिरा में और ऊर्ध्व मलाशय-शिराओं (Inferior mesenteric veins and superior hemorrhoidal veins) के संगम से मलाशय के अन्तिम एक इंच भाग मे बनी हुई सम्मिलिनिकाओं (anastomosis) के प्रसार से उत्पन्न होते हैं। जिनमें सौत्रिक ऊतक (fibrous tissue) अधिक बन जाता है। वे गाँठे सरीखे प्रतीत होते हैं और उनसे रक्तस्राव नही होता। जिनमें सौत्रिक ऊतक कम बनता है वा नहीं बनता, वे केवल श्लैष्मिक कला से

आवृत होने के कारण शुष्क मल-पिंड आदि से क्षत हो जाते है और उनसे रक्त-स्राव होता है। प्रथम प्रकार के अर्शों का मुख्य लक्षण रक्तस्राव होता है। दूसरे प्रकार में कितनी ही बार अर्श की गाठ या गाठे गुदद्वार द्वारा बाहर निकल आती हैं। तथा अंगुलि द्वारा गुद परीक्षा पर प्रतीत होती हैं। कितनी ही बार अर्शयुक्त सारा गुद-भाग बाहर निकल आता है जो भ्रंश (prolapse) कहलाता है। अतएव तीन लक्षणों की चिकित्सा करनी होती है :—(१) रक्त-स्राव की, (२) अर्शों का अथवा अर्शयुक्त गुदभ्रंश और (३) वहाॅ के स्थानिक शोथ की।

चिकित्सा—अतएव चिकित्सा निम्नलिखित सिद्धान्तों के अनुसार की जाती है—

१. सामान्य चिकित्सा—रोगी की साधारण दशा को सुधारने का प्रयत्न आवश्यक है। प्राय' रोगी को कब्ज रहता है स्निग्ध विरेचकों-तरल पेरेफ़िन, ईसबगोल तथा कैस्करा सैग्रेडा द्वारा कब्ज़ दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। रोगी को कुछ समय से रक्तस्राव होते रहने के कारण उसको रक्तक्षीणता भी हो गई है। इस कारण रक्तोत्पादक ओषधियाॅ लोह, विटामिन सी तथा विटामिन बी १२ देना भी उचित है।

२. रक्तस्राव—अर्श पर भी श्लैष्मिक कला में व्रण बनने के कारण उसके नीचे की शिरा के फट जाने से रक्तस्राव होता है। इस कारण प्रथम संकोचक लेपो, विशेषतया गुदवर्तियों (suppositories) का प्रयोग किया जाता है। टैनिक एसिड ०·३ से ०·५ ग्राम (५–७½ ग्रेन) की अथवा बिस्मथ सबगैलेट ०·३ से ०·५ ग्राम (५–७½ ग्रेन) की गुदवर्त्तियाॅ अर्शों के बीच गुदा में रात्रि को सोते समय रख दी जाती हैं। यदि रोगी को रक्तस्राव अधिक हो रहा है या पीड़ा अधिक है तो उसको दिन में भी शय्यारूढ रखना उचित है और एक या दो बार एक एक गुदवर्ति रखी जाय। ये गुदवर्ति ग्लिसरिन से बनाई जाती हैं। इस कारण स्निग्ध होती हैं।

प्राय: रक्तस्राव रुक जाता है। तब कोई शल्यकर्म आवश्यक है। दो प्रकार की क्रियाये की जाती हैं :—

(अ) इंजेक्शन—प्रत्येक अर्श में किसी अर्श को सुखाने वाले (sclerosing fluid) योग का इन्जेक्शन दिया जाता है। प्राय: बादाम के तेल में कारबोलिक अम्ल मिलाकर (phenol in almond oil) यह योग तैयार किया जाता है और इसी नाम से बाज़ार में मिलता है। सप्ताह में दो बार, इन्जेक्शन दिये जाते हैं। ४ या ५ से अधिक अर्शों में एक बार मे औषधि नहीं

प्रविष्ट की जाती। प्रायः ६ से ८ सप्ताह में क्रम पूरा होता है। इंजेक्शनों की विशेष विधि जानने के लिये शल्य-विज्ञान की पुस्तक पढनी चाहिए।

(क) दूसरी क्रिया अर्श के उच्छेदन की है। यह क्रिया भी कई प्रकार से की जाती है। प्रत्येक का बन्धन (ligature) और उसका उच्छेदन (excision) इसी क्रिया का प्रायः उपयोग किया जाता है। इस विषय के ज्ञान के लिये भी शल्य सम्बन्धी पुस्तक का अवलोकन प्रार्थित है।

२. अर्श का भ्रंश—अरक्तस्रावी अर्श (nonbleeding piles) बहुधा वृन्तयुक्त (pedunculated) छोटी मटर से लेकर बेर तक के आकार की गाँठों के समान होते हैं। कुछ वृन्तहीन (nonpedunculated) अर्श भी होते हैं। जिन अर्शों के वृन्त लम्बे होते हैं उनका भ्रंश होने का बहुत अवसर रहता है। ऐसा अर्श गुदद्वार द्वारा बाहर निकल आता है और गुद-संवरणी पेशी के संकोच से फँस जाता है। गले पर फाँसी के समान अर्श के वृन्त का बन्ध (strangulation) हो जाता है जिससे अर्श सूज जाता है। रोगी को तीव्र पीड़ा होती है। अर्श में जलन तक हो सकती है।

कभी कभी मलाशय या गुदा का समस्त अर्शयुक्त भाग का भ्रंश हो जाता है।

चिकित्सा—(अ) रबड़ का दस्ताना पहिन कर अँगुलियों पर शुद्ध किया हुआ तरल पेरेफिन लगाकर तथा अर्श और संवरणी पर भी लगाकर अंगुलियों से धीरे धीरे अर्श को दबाकर गुदद्वार के भीतर को सरका दिया जाता है। प्रायः संवरणी पेशी संकुचित दशा में होती है। दोनों ओर संवरणी पर अंगुलियाँ रख कर बाहर को दबाने से वह चौड़ी हो जाती है। यदि इस क्रिया से उसका संकोच दूर न हो तो २ मिलीलिटर २% प्रोकेन लोशन इन्जेक्शन द्वारा संवरणी में प्रविष्ट करने से वह ढीली पड़ जाती है और गुद द्वार का विस्तार हो जाता है।

(क) नितम्ब स्नान उपादेय है।

(च) स्निग्ध पदार्थ तरल पेरेफ़िन या वैसलीन या किसी संकोचक क्रीम का लेपन लाभदायक है।

(त) स्थानिक संज्ञाहारी लेपों का प्रयोग उचित है। नूपरकेनाल (सीबा कम्पनी) उपयोगी है।

(३) स्थानिक शोथ तथा खुजली (Pruritus)—कभी कभी शोथ के कारण खुजली बड़ी कष्टदायक होती है। नूपरकेनाल, ऐनूसोल तथा ऐसे ही अन्य संज्ञाहारी स्निग्ध लेपों का प्रयोग लाभदायक होता है। संज्ञाहारी गुद-वर्तियों का प्रयोग किया जा सकता है। स्थान की शुद्धि विसंक्रामकों के

प्रयोग द्वारा आवश्यक है। रोगी की साधारण दशा को उन्नत करने का प्रयत्न करना चाहिये।

आहार विषायणता (Food poisoning)

इस दशा में अस्वास्थ्यकर आहार करने या पेय पीने के पश्चात् उग्र आमाशय-आन्त्र शोथ के लक्षण कुछ घण्टों ही में उत्पन्न हो जाते हैं। जी मिचलाना, वमन और अतिसार इस दशा के विशेष लक्षण होते हैं। उनको सामान्य अतिसार, प्रवाहिका या विसूचिका आदि संक्रामक रोगों से न मिलाना चाहिये। यह दशा सदा आहार करने के या किसी खाद्यवस्तु आइसक्रीम, सोडा, लेमनेड आदि वातित पेय पीने से उत्पन्न होती है।

कुछ पदार्थ स्वयं विषैले होते हैं। एक प्रकार का फंगस या कुकुरमुत्ता विषैला होता है। वह खाने वाले फंगस या कुकुरमुत्तों में मिल जाता है और खाये जाने पर आहार-विष के लक्षण उत्पन्न करता है।

कुछ पदार्थों में उनको बनाने के समय या रखने के समय विष उत्पन्न हो जाते हैं या उनमें मिल जाते हैं। ये विष दो प्रकार के होते हैं—(१) रासायनिक और (२) तृणाणु। रासायनिक विष भोज्य पदार्थों को अनुचित पात्रो मे बनाने या रखने से उत्पन्न होते हैं। खाद्य के अम्ल या क्षार की, पात्र की धातु पर क्रिया से ये विष बन जाते हैं।

तृणाणु विष या विषायणता भी दो प्रकार की हो सकती है। एक स्वयं तृणाणुओं द्वारा और दूसरे तृणाणुजन्य जीवविषों (toxins) द्वारा। तृणाणुओं में विशेष स्थान साल्मोनेला जाति के जीवाणुओं का है। इंग्लैण्ड में साल्मोनेला टायफीम्यूरियस नामक साल्मोनेला ८० प्रतिशत इस प्रकार के (तृणाणु या जीवाणु जन्य) रोगियों के लिये उत्तरदायी पाया गया है।

जीव-विषजन्य विषायणता का विशेष कारण स्टेफिलो-कोकस पायोजिनीज़ होता है। स्ट्रिप्टोकोकाई या क्लौस्ट्रीडियम बोट्यूलिनम (Cl. Botulinum) इस रोग के लिये बहुत कम उत्तरदायी है। यह ध्यान देने योग्य है कि जब खाद्य-पदार्थ रसोई में बनाकर रख दिये जाते हैं तो कुछ समय तक वे गरम रहते हैं। इस समय में तृणाणुओं की संख्या तथा उनके द्वारा उत्पन्न हुए विषों की मात्रा में तीव्रगति से वृद्धि होती रहती है। यदि उनको रेफ्रीजरेटर में रख दिया जाय तो तृणाणुओं या उनके विषों की वृद्धि नहीं हो पाती। इस कारण रोग अधिकतर दावतों या पार्टियों के पश्चात् फैलता है। या भोजनालयों या रैस्टराण्टों में खाने वालों को होता है जहाँ भोज्य पदार्थ बहुत मात्रा में तैयार किये जाते हैं और कितने ही समय तक गरम रखे जाते हैं।

टीन के डिब्बों में बन्द जो अनेक आहार पदार्थ आते हैं, अनेक फल, मटर, मांस, मछली आदि उनमें बहुत बार विष उत्पन्न हो जाते हैं। और उनके खाने से व्यक्ति रोगग्रस्त हो जाते हैं। प्राय: ये पदार्थ तृणाणु या विषों से रहित होते हैं। किन्तु उनको खोल कर रखने पर वे संक्रमित हो जाते हैं।

खाद्य में उपस्थित तृणाणु और विषों की मात्रा और रोग की उग्रता में सीधा सम्बन्ध है। जितनी मात्रा अधिक होगी उतना ही रोग तीव्र होगा।

लक्षण—जी मिचलाना, वमन, पतले दस्त रोग के विशेष लक्षण बताये जा चुके हैं। उदर में पीड़ा भी होती है जिसका कारण श्लैष्मिक कला के शोथ से आन्त्र भित्तियों के आक्षेपक या अक्रमिक सकोच होते हैं। वमन और जी मिचलाने का कारण आमाशय की श्लैष्मिक कला का शोथ होता है। विशेष बात, जिससे रोग पहिचानने में सहायता मिलती है, यह है कि सारे परिवार के व्यक्ति या दावत या रेस्टराण्ट में खाने वाले व्यक्तियों में रोग के लक्षण अकस्मात प्रगट होते हैं। भिन्न भिन्न बार या स्थानों में रोग की उग्रता में भिन्नता होती है। कभी कभी, विशेषतया रासायनिक विषों से आक्रान्त व्यक्तियों में वमन और अतिसार इतने तीव्र हो सकते हैं कि रोगी शीघ्र ही निर्जलीकृत (dehydrated) हो जाता है और विसूचिका के समान अवसाद (collapse) के लक्षण प्रकट हो जाते हैं। ताप अतिन्यून हो जाता है और नाड़ी तीव्र और क्षीण हो जाती है। किन्तु २४ घंटे में दशा सुधर जाती है। भिन्न भिन्न व्यक्तियों में लक्षणों में भिन्नता हो सकती है। रासायनिक विषों द्वारा उत्पन्न दशा में शरीर का ताप घट जाता है। किन्तु तृणाणु या तृणाणु जन्य विषों से शरीर-ताप में वृद्धि होती है।

रोग रासायनिक विषजन्य है या तृणाणु अथवा तृणाणुविष जन्य है इसका अनुमान, आहार के कितने समय पश्चात् लक्षण प्रकट होते हैं, इससे भी किया जा सकता है। रासायनिक विषों के लक्षण आहार के आधे से एक घंटे के भीतर प्रारंभ हो जाते हैं। यदि लगभग ६ घटे में प्रगट हों तो उनको जीवविषजन्य समझना चाहिये। तृणाणुओं से रोग उत्पन्न होने में २४ से ४८ घटे लग जाते हैं। जब तक उनकी संख्या आन्त्र में बढ़ नहीं जाती वे रोग उत्पन्न नहीं कर पाते।

रोगी के वमन तथा मल की परीक्षा आपेक्षित है। जिससे कारण का पता लग सके।

चिकित्सा लक्षणानुसार होती है। रोगी का आहार तुरन्त बन्द कर दिया जाता है। किन्तु जल अथवा लवण विलयन पीने के लिये उसको उत्साहित किया जाता है जिससे उसके शरीर की द्रव-हानि की पूर्ति हो। उसको चाय

काफी, फलों का रस, नींबू के रस को शर्बत में मिलाकर जितना भी दिया जाय अच्छा है। यदि रोगी में द्रवाल्पता बहुत हो या अवसाद के से लक्षण हों तो शिरा द्वारा लवण विलयन ग्लूकोज सहित दिया जाय तथा लवणों की त्रुटि को भी पूर्व बताये हुवे सिद्धान्तों (पुस्तक का प्रथम भाग) के अनुसार दूर करना चाहिये। अतिसार के लिये केओलिन (Kaolin) अत्युत्तम औषधि है। १५ ग्राम (½ औंस) थोड़े जल मे मिलाकर प्रत्येक दो घंटे पर रोगी को दिये जायँ। उदर पीड़ा के लिये टिंचर बेलाडोना उपयुक्त है। १/२ मि० लि० टिंचर बेलाडोना और १ मि० लि० टिंचर हायोसियेमस को १ औंस एक्वा क्लोरोफार्म में मिलाकर प्रति तीन या चार घंटे पर देने से पीड़ा शान्त होती है। कोडीन भी ३० से ६० मिलीग्राम मात्रा में प्रति तीन या चार घंटे आवश्यकतानुसार लाभदायक है।

दशा सुधरने पर रोगी के आहार मे वृद्धि की जा सकती है। पहले स्निग्ध, मृदु और एक रस आहार दिया जाय। तब धीरे धीरे उसको सामान्य आहार तक पहुँचाया जाय।

कुअवशोषण लक्षण-पुंज
(Malabsorption syndrome)

खाद्य पदार्थों के पोषण-प्रणाली में पहुँचने के पश्चात् भिन्न भिन्न पाचक रसो की क्रिया से अनेक विशिष्ट घटक प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट और वसा अपने अन्तिम अवयवों के रूप में आ जाते हैं। प्रोटीन अमीनों अम्ल का कार्बोहाइड्रेट ग्लूकोज का और वसा वसाम्ल और ग्लिसरौल का रूप ले लेते है। अमीनोअम्ल, ग्लूकोज, विटामिन बी-जटिल के सदस्य तथा विटामिन सी जल में घुलकर क्षुद्रान्त्र के रसांकुरों द्वारा रक्तवाहिकाओं में अवशोषित हो जाते हैं। वसाम्लों तथा वसा का अवशोषण अधिक जटिल है। उसका अवशोषण पायसनियों द्वारा होता है। इस कारण उसमे अधिक बार विकार आ जाता है जिससे मल द्वारा बहुत सी वसा अनवशोषित दशा में निकल जाती है। साधारणतया मल में प्रतिदिन ५ या ६ ग्राम वसा निकलती है। इस दशा में उसकी मात्रा बहुत बढ़ जाती है। विटामिन ए. डी. और के. का भी वसा में घुलकर अवशोषण होता है। इस कारण इन विटामिनों की भी शरीर में त्रुटि हो जाती है।

अवशोषण का कर्म विशेषतया क्षुद्रान्त्र का है किन्तु जल के अवशोषण का मुख्य स्थान बृहदान्त्र है, आमाशय से भी कुछ अवशोषण होता है।

पाचित आहार के तत्वों के पूर्ण अवशोषण पर ही शरीर-वृद्धि और स्वास्थ्य निर्भर करते हैं। अवशोषण की त्रुटि से नाना प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं

जिनका रूप भिन्न भिन्न व्यक्तियों तथा बालक और वयस्कों में भिन्न होता है। शिशु और बालकों में शरीर वृद्धि रुकना प्रथम लक्षण है। उदर का बाहिर को निकल आना, शरीर-भार का ह्रास, अतिसार, रक्तक्षीणता, विटामिनों तथा कैलसियम की त्रुटिजन्य दशाये ये सब या इनमें से कुछ लक्षण सब रोगियों में पाये जाते हैं। कैलसियम की त्रुटि से टिटेनी रोग बच्चों में हो जाता है। कुअवशोषण का परिणाम वह दशा होती है जिसको कुपोषण (malnutrition) के नाम से पुकारा जाता है।

कुअवशोषण के कारण—

(१) पाचक प्रकिण्वों (enzymes टायलिन, पेप्सिन, ट्रिप्सिन आदि) की कमी तथा उनका पाचित-आहार के साथ आन्त्र में पूर्णतया न मिलना पाचन क्रिया की अपूर्ति का बहुत बड़ा कारण होता है जिससे आहार-पदार्थों के घटक अवशोष्य रूप में नहीं आ पाते। अग्न्याशय के प्रकिण्वों की कमी या आमरस के साथ न मिलने से पाचन में बहुत गड़बड़ी आ जाती है जैसा आमाशय आन्त्र संयोजन के आपरेशन से होता है।

(२) कुछ शस्त्रकर्मों से आन्त्र की लम्बाई के कम हो जाने के कारण अवशोषक पृष्ठ भी कम हो जाता है। आमाशय तथा आन्त्र के बीच के फिस्चुलों (fistulae) से पाचित आहार सीधा आमाशय से ग्रहणी या आन्त्र के प्रथम भाग से कोलन में पहुँच सकता है जिससे क्षुद्रान्त्र के बहुत से भाग मे वह नहीं जाता। और इस कारण उसका अवशोषण नहीं होता।

(३) आन्त्र की श्लैष्मिक कला के क्षत हो जाने से उसकी अवशोषक शक्ति घट या नष्ट हो जाती है, जैसे कैंसर आदि अर्बुद की उत्पत्ति से, कैंसरीय ऊतक के अन्तःसरण से या वहाँ के जीर्ण शोथ, ट्यूबर्क्युलोसिस, प्रवाहिका आदि से कितनी ही बार क्षति के रूप का पता नहीं लगता। किसी अज्ञात कारण से श्लैष्मिक कला अवशोषण कर्म का उचित सम्पादन नहीं कर पाती।

(४) आन्त्र में निवास करने वाले जीवाणु भी कभी कभी आहार द्वारा प्राप्त पोषणोपयोगी अवयवों का स्वयं उपयोग कर लेते हैं और व्यक्ति उनसे वञ्चित हो जाता है। विटामिन बी. समूह के कुछ सदस्यों के सम्बन्ध मे यह विशेषतया पाया गया है। रक्तोत्पादक अवयवों (सायनोकोबलएमीन) से व्यक्ति को वंचित करके वे रक्त क्षीणता का कारण होते हैं।

लक्षण—यत्पूर्वोक्त शिशुओं तथा बालकों में वृद्धि का रुक जाना इस दशा का प्रथम लक्षण है। इसके साथ अन्य लक्षण उपस्थित हों या न हों। प्रायः दस्त आते और उनमें वसा अतिमात्रा में उपस्थित होती है जिसको मलवसात्यय

(steatorrhoea) कहते हैं। दस्त फूला हुआ, बहुत सा, दुर्गन्धियुक्त और ढीला होता है जिसको बैडपेन से धोना कठिन होता है। रोगी स्वयं धोते समय उसमे बहुत चिकनाई प्रतीत करता है। अंगुलियों को स्वच्छ करना कठिन हो जाता है। यह इस दशा का विशेष चिह्न है। पेट आगे को निकल आता है। वयस्कों मे भार घटने लगता है।

रक्तसंबंधी परिवर्तन भी हो सकते हैं। विटामिन के. की त्रुटि से रक्तस्राव की प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है। फौलिक अम्ल, सायनोकोबलएमीन तथा लोह की त्रुटि से रक्तक्षीणता (anaemia) उत्पन्न हो जाता है। कैलसियम की त्रुटि से टिटेनी रोग हो सकता है। इसी प्रकार अन्य विटामिनों की त्रुटि से उनके त्रुटिजन्य लक्षण प्रकट हो जाते हैं जिनमें त्वचा के रोग, जिह्वाशोथ, मुखपाक आदि विशेष हैं।

रोग-निर्णय प्रायः कठिन नहीं होता। लक्षणों से रोग का अनुमान सहज है। किन्तु उसका कारण जानने के लिये कई प्रकार की परीक्षाये आवश्यक होती हैं। ऐक्स-रे परीक्षा से आन्त्र में हुवे परिवर्तनों का बहुत कुछ पता चल जाता है। मल परीक्षा से मल मे निकले अवयवों का ज्ञान होता है। कौन से अवयव का कितना शोषण होता है यह भी मल द्वारा मालूम किया जा सकता है। ऊपर कहा गया है कि ५·६ ग्राम वसा साधारणतया प्रति २४ घंटे में मल द्वारा शरीर से निकलता है। इसी प्रकार २·५ ग्राम प्रोटीन का २४ घंटे में त्याग होता है। भोजन के अनुसार इन मात्राओं में घटा-बढ़ी हो सकती है। अतएव रोगी को २, ३ दिन एक साधारण ज्ञात मात्रा का भोजन देकर उसके मल की रासायनिक परीक्षा करके उसमें उपस्थित इन अवयवों की मात्राओं को मालूम करलेने से सहज में हिसाब लगाया जा सकता है कि कितनी मात्रा का अवशोषण हुआ।

इसी प्रकार रक्त-परीक्षा से ग्लूकोज का पता लग जाता है। सामान्यतया रक्त में (साधारण आहार से) ८०–१२० मि. ग्राम ग्लूकोज १०० मि. लि. रक्त में उपस्थित होती है। डाइबिटीज न होने पर इससे अधिक मात्रा का अर्थ है कि अधिक कार्बोहाइड्रेट का ग्लूकोज के रूप में अवशोषण हो रहा है किन्तु शरीर उसका उपयोग नहीं कर रहा है। रक्त में उपस्थित प्रोटीन की मात्रा भी रक्त-परीक्षा द्वारा मालूम की जा सकती है।

विटामिनों का अनुमान रोगी मे उपस्थित लक्षणों तथा रोगों से किया जा सकता है। निम्नलिखित सारणी मे विटामिनों की न्यूनता के लक्षण या रोग उनके सामने लिखे हैं।

विटामिन	कमी से उत्पन्न रोग	विटामिन	कमी से उत्पन्न रोग
ए.	रतौंधी। त्वचारोग (किरेटनीकरण) संक्रामक रोग रोधन शक्ति ह्रास।	बी १२. (सायनेकोबलएमीन)	दुष्टरक्तक्षीणता (pernicious anaemia) में इसकी कमी पाई जाती है।
बी जटिल समूह			
थियामिन	बेरीबेरी	सी, ऐस्कोर्बिक अम्ल	स्कर्वी। मसूड़ों से रक्तस्राव की प्रवृत्ति। संधियों का सूज जाना। अस्थिशोष (osteoporosis) पेशियों के बीच में तथा प्रावरणी स्तरों के बीच में रक्तस्राव, रक्तक्षीणता, क्षुधाह्रास, बलक्षय। घावों का न भरना।
राइबोफ्लेविन	मुंह के कोनों तथा नासारन्ध्रो पर विदर (fissure) बन जाना, अभिष्यन्द, प्रकाशासह्यता, बलह्रास, शरीरभार-ह्रास, जिह्वा शोथ, कारनिया मे तथा उसके चारों ओर रक्तवाहिकता (corneal vascularization)	डी	रिकेट्स (बालकों में) औस्टोमेलेशिया (युवतियोंमें)
पायरिडौक्सिन	त्वचा विकार		
पैन्टोथीनिक अम्ल	मनुष्य मे नहीं मालूम। चूहों मे त्वचा के बाल श्वेत हो जाते हैं।	ई	मनुष्य में इसकी क्रिया नही मालूम है। इसका गर्भस्थापना, रक्षा या गर्वस्राव से कोई संबंध नहीं है।
निकोटिनिक अम्ल	पैलाग्रा		
वायोटिन	चूहों मे त्वक् शोथ (scaly dermatitis)	के	इसकी अनुपस्थिति प्रोथ्रोम्बिन की उत्पत्ति में बाधक है जिससे रक्त की जमने की शक्ति (आतंचन) बहुत कम हो जाती है जिससे श्लैष्मिक कलाओं से तथा अतिक्षुद्र धातु से होने वाला रक्तस्राव भी नही रुकता।
इनोसिटोल-	चूहों में बाल गिरना (alopaecia) मनुष्य में नही मालूम		
फौलिक अम्ल	रक्तक्षीणता		
कोलीन	वसा-प्रेरक अवयव है। कमी से यकृत में वसा एकत्र होती है।		

चिकित्सा—प्रायः लाक्षणिक चिकित्सा करनी पड़ती है। विटामिनों की त्रुटिपूर्ति पहला कर्तव्य है। यदि कुछ काल से मलवसात्यय रहा है तो विटामिन ए और डी की अवश्य कमी हुई होगी। और उसके साथ कैलसियम की न्यूनता भी अवश्यम्भावी है। अतएव ये दोनों विटामिन प्रचुर मात्रा में दी जायँ। और कैलसियम अन्तर्शिरा मार्ग से दिया जाय। रक्तस्राव की प्रवृत्ति होने पर विटामिन के. की आवश्यकता है। विटामिन बी जटिल के जिस अवयव की त्रुटि के लक्षण दिखाई दें उसको पूर्ण मात्रा में दिया जाय। रक्तक्षीणता के लिये लोह के योग मुंह से दिये जाँय। फौलिक अम्ल, तथा विटामिन बी$_{१२}$ भी रक्तक्षीणता के लिये आवश्यक हो सकते हैं। किन्तु रक्त की परीक्षा करके देख लिया जाय कि किस प्रकार की रक्तक्षीणता है। फौलिक अम्ल से अतिसार में भी लाभ होता है। यीस्ट की टिकिया विटामिन-बी. जटिल का अत्युत्तम स्रोत हैं। यदि रोगी को अतिसार न हो तो विटामिनों को मुँह से दिया जाय। अतिसार होने पर इंजैक्शन द्वारा देना उचित हैं।

यदि वासात्यय अधिक हो और खोज करने पर भी किसी कारण का पता न चले तो रोगी के आहार में स्नेह को बन्द कर दिया जाय। घी, मक्खन, तेल आदि का प्रयोग एकदम रोक दिया जाय या जितना भी कम हो सके कर दिया जाय। किन्तु प्रोटीन की मात्रा बढ़ा दी जाय। तथा ग्लूटिन मुक्त आटे का प्रयोग कराया जाय जैसा सीलियक रोग में बताया गया है। यदि इससे लाभ हो तो कुछ काल के पश्चात् फिर सामान्य (ग्लूटिनयुक्त) आटा खिला कर देखा जाय। यदि उससे रोग की पुनरावृत्ति हो तो निश्चय है कि ग्लूटिन की रोगी को असह्यता है।

कार्टीसोन और प्रेडनीसोलोन का भी ऐसे रोगियों में प्रयोग किया गया है। उनका प्रभाव अनेक वार वहुत लाभदायक होता है किन्तु अस्थायी होता है।

पाचक नाल के फिस्चुला

दो खोखले अंगों के बीच में जो मार्ग बन जाते हैं वे फ़िस्चुला कहलाते हैं। कभी कभी अंग से शरीर के बाह्य अर्थात् चर्म पर खुलने वाले फिस्चुला भी बन जाते हैं। ये फिस्चुला शोथ, व्रणोत्पत्ति तथा गलन का परिणाम होते हैं। अंगशोथ होने पर पास के अंग में भी शोथ का प्रसार होकर दोनों अंग जुड़ जाते हैं और बीच के भाग के गल जाने से दोनों के बीच में मार्ग या फिस्चुला बन जाता है।

आमाशय में प्रायः व्रणोत्पत्ति हो जाती है। उसके पास ही कोलन है। इससे अनेक वार आमाशय और कोलन के बीच फिस्चुला बन जाते हैं। इसी प्रकार ग्रहणी में व्रण बन जाने से ग्रहणी और कोलन के बीच फिस्चुला बन जाते हैं। क्षुद्रान्त्र के साथ भी इसी प्रकार फिस्चुला बन सकते हैं।

यकृत् के रोग
(Diseases of liver)

यकृत् शरीर की सबसे बड़ी और विशेष महत्त्व की ग्रन्थि है। इसको शरीर से निकाल देने से जन्तु की दो दिन मे मृत्यु हो जाती है। इसके रोग जीवन के लिये भयंकर हो सकते हैं। रोगों को समझने के लिये इसकी रचना का पूर्ण ज्ञान आवश्यक है। इस कारण उसका संक्षेप से उल्लेख किया जाता है।

स्थिति और रचना—यकृत् उदर में दाहिनी ओर के ऊपरी भाग मे मध्यच्छदा (diaphragm) के नीचे स्थित है और अपने ऊर्ध्व पृष्ठ से उसके सम्पर्क मे रहता है जहां उसका कुछ भाग पर्युदर्या से आच्छादित नहीं हैं। यह यकृत् का अनाच्छादित क्षेत्र कहलाता है। यकृत् का बड़ा दाहिना खंड दाहिनी ओर की पर्शुकाओं से उदर की मध्य रेखा तक या उरोचाप के मध्य तक विस्तृत है। वहा से छोटा त्रिकोणाकार सा बायां खंड बाईं ओर को चला गया है। ऊपर छठी पर्शुका से पर्शुकाचाप की अधोधारा तक फैला हुआ है। यह पर्शुकाओं के नीचे स्पर्श्य नही है। इसका रंग गहरा भूरा है।

सूक्ष्म रचना यकृत् की विशेषतया ज्ञातव्य है क्योंकि उसके कर्म से उस ही का विशेष संबंध है। रोगों मे सूक्ष्म रचना के विकृत हो जाने से उसके कर्मों में विकार आ जाते हैं। इन विकृतियो अर्थात् रोग के बढ़ जाने पर यकृत् के बाह्यरूप में अन्तर हो जाता है।

अन्य अंगों की भाति यकृत् भी कोशिकाओं का बना हुवा है जिनका आकार बड़ा और षट् या अष्टकोणी है। ऐसी कोशिकाओं के समूह खंडिकाओं (Lobules) के रूप में एक मध्यस्थ (अपवाही efferent बाहर ले जाने वाली) शिरा के चारो ओर त्रिज्या (radius) के (tract) समान स्थित हैं। खंडिकाओं की परिधि पर प्रतिहारी पथ (portal tract) स्थित है जिसमे प्रतिहारिणी शिरा (portal vein) याकृती धमनी (hepatic artery) और पित्तवाहिनी (bile duct) की एक एक शाखाये रहती हैं। इन तीनों नलिकाओं की शाखाये सारे यकृत् मे साथ साथ खंडिकाओं की परिधि पर फैली हुई हैं। इस प्रकार रक्त यकृत् में प्रतिहारिणी शिरा और याकृती धमनी दो स्रोतों से आता है और केवल याकृती शिरा (hepatic vein) द्वारा लौटकर निम्न महाशिरा में जाता है। प्रतिहारिणी शिरा आमाशय, क्षुद्र और बृहद्आन्त्र, पक्वाशय और प्लीहा से रक्त लौटा कर लाती है। यकृत् में आने वाला ७५ प्रतिशत रक्त इस शिरा द्वारा आता है। केवल २५ प्रतिशत रक्त याकृती धमनी द्वारा पहुँचता है। पित्तवाहिनी की अतिसूक्ष्म शाखाएँ

यकृत् कोशिकाओ के बीच जाल फैलाये रहती हैं और अन्त मे बड़ी वाहिनियाँ बनाकर उनके द्वारा पित्त वाहिनी में खुलती हैं।

यकृत् की एक और विशेषता है। खंडिकाओं के पार्श्व के बीच बीच कुछ अन्तर रहता है और उपर्युक्त दोनों स्रोतों से आने वाला रक्त इन अन्तस्थानों में भर जाता है जो शिरानालाभ (sinusoids) कहलाते हैं। खंडों के पृष्ठ उन कोशिकाओं से ढके रहते हैं जिनको कुप्फर कोशिका (kupffer cells) कहते हैं। ये कोशिका जालिका-अन्तर्कला-तन्त्र (reticulo-endothelial system) का भाग होते हैं। ये कोशिकाये सीधी रक्त के सम्पर्क में रहती हैं और इस कारण यकृत् मे चयापचय अथवा वहाँ होने वाली रासायनिक क्रियाओं के फल स्वरूप बने हुए पदार्थ जिनको उपापचर्यज (met-abolite) कहते हैं वे सीधे रक्त में चले जाते हैं। इस प्रकार यकृत् में रक्त का प्रवाह खंडिकाओं की परिधि की ओर से खंडिकाओं के शिखरों के मध्य में स्थित अपवाही शिरा की ओर होता है।

खंडिकाओं की कोशिकाओं द्वारा जो पित्त बनता है वह इससे विपरीत दिशा में प्रवाहित होता है। यकृत् कोशिकाओं के बीच अणुवाहिनियों द्वारा वह खंडिकाओं की परिधि पर प्रतिहारी पथ में स्थित पित्तवाहिनी की शाखा में पहुँचता है। और उन शाखाओं के मिलने से जो मुख्य पित्तवाहिनी बनती है उसके द्वारा यकृत् द्वार (Porta Hepatis) से बाहर निकलता है। यह पित्तवाहिनी अग्न्याशय के शिर से ग्रहणी के वक्र के सम्पर्क में रहने वाले पृष्ठ पर जाकर खुलती है जहाँ वह अग्न्याशय के रस को लाने वाली अग्न्याशय रस वाहिनी (pancreatic duct) से मिल कर सामान्य पित्तवाहिनी (common bile duct) के नाम से ग्रहणी मे एक फूले हुये भाग द्वारा खुलती है जो वेटर का एम्पुला' (ampula of vator) कहलाता है। उसके मुख पर एक संवरणी पेशी (Sphincter of Oddi) लगी हुई है।

रक्त संभरण—उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि यकृत् मे रक्त की बहुत अधिक मात्रा आती है, किन्तु उसमे से अधिक (७५ प्रतिशत) शिरीय रक्त है जिसमें आक्सीजन की कमी है। यकृत् के पोषण के लिये याकृती धमनी द्वारा जो रक्त आता है वह यद्यपि केवल २५ प्रतिशत होता है तो भी उसके द्वारा यकृत् को आवश्यक आक्सीजन का ५० प्रतिशत भाग मिल जाता है। शेष ५० प्रतिशत के लिये उसको शिरीय रक्त पर ही निर्भर करना पड़ता है। यकृत् को आक्सीजन की बहुत आवश्यकता होती है क्योंकि उसमे अत्यधिक और अत्यन्त महत्व की रासायनिक क्रियाये होती हैं। इस कारण वहा आक्सीजन की कभी प्रचुरता नहीं हो पाती। कुछ कमी ही बनी रहती है। और इस कारण जब भी उसका कुछ

भाग विकारयुक्त हो जाता है तो उसके विशेषकर उन भागों में, जो रक्त वाहिकाओं के प्रवेश स्थान से दूर स्थित हैं उनमें गलन (necrosis) होने लगती है।

यकृत् कोशिकाओं के रक्त के सम्पर्क से उनमें उत्पन्न हुई रासायनिक वस्तुओं का तुरन्त ही रक्त में चले जाने का उल्लेख किया गया है। शरीर की चयापचय क्रियाओं के लिये यह बड़े महत्व की घटना है।

यकृत के कर्म—यकृत् की कोशिकाये कई प्रकार की क्रियाओं को करने के सामर्थ्य से सम्पन्न हैं। जिनसे रासायनिक पदार्थों की (metabolites) उत्पत्ति होती है जो शरीर के भिन्न भिन्न अन्य अंगों या भागों में कई प्रकार की क्रियाये प्रेरित करती हैं।

यकृत् के निम्नलिखित मुख्य कर्म हैं :—

(१) प्रोटीन चयापचय—प्रोटीन के चयापचय में यकृत् का विशेष भाग रहता है जो निरेमीनीकरण (deamination) कहलाता है। यकृत् की कोशिकाओं द्वारा प्रोटीन के पाचन से बने हुए और शरीर के लिए अनुपयुक्त अमीनोअम्लों का विभजन हाता है और उनसे ऐसे पदार्थों का संश्लेषण होता है जो सहज मे शरीर का त्याग करते हैं। यूरिया, C_2 (NH4)2. ऐसा ही पदार्थ है। अमीनो अम्लों के NH_2 भाग को पृथक करके कार्बन के एक परमाणु के साथ उसको जोड़ने से यूरिया का अणु बन जाता है। यह यूरिया सहज में जल मे घुल कर मूत्र द्वारा शरीर का त्याग करता है। यूरिक अम्ल, क्रियेटीन, प्रोथ्रोम्बिन, फाइब्रिनोजन, तथा प्लाविका (प्लाज्मा) एलब्यूमिन, A और B ग्लोब्यूलिन भी यकृत् में इस ही प्रकार बनते हैं यद्यपि अंतिम दो वस्तुएँ अन्यत्र भी उत्पन्न होती हैं। अतएव रक्त या प्लाविका में उपस्थित अनेक अवयवों का कारण यकृत् है।

(२) कारबोहाइड्रेट चयापचय—कारबोहाइड्रेट के चयापचय में भी यकृत् का विशेष भाग होता है। रक्त में ग्लूकोजका स्तर यथावत् बनाये रखना यकृत् का विशेष महत्व का कर्म है। जो ग्लूकोज शरीर के काम में नही आती उसको ग्लायकोजिन में बदल देना यकृत् की रासायनिक क्रिया द्वारा सम्पन्न होता है। यह फल और दुग्धशर्करा (फ्रुक्टोज, गैलैक्टोज), कुछ अमीनोअम्लों के अवशिष्ट भाग तथा कार्बन योगों को भी ग्लायकोजिन में परिवर्तित कर देता है। ग्लायकोजिन को फिर से ग्लूकोज मे आवश्यक होने पर परिवर्त्तित करना भी यकृत् की कोशिकाओं ही का कर्म है।

(३) वसा चयापचय—में यकृत् कितना भाग लेता है इसका अभी तक ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो सका है। वसा का विभंजन कीटोन अवस्था तक यकृत्

में होना निश्चित है। किन्तु इससे अधिक विश्लेषण या आक्सीकरण संदिग्ध है। कार्बोहाइड्रेट की अनुपस्थिति में कीटोन की प्रचुर मात्रा यकृत् से और अधिक आक्सीकरण के लिये रक्त में चली आती हैं। भुखमरी तथा मधुमेह (डायबिटीज) मे रक्त में मुक्त कीटोनों की मात्रा बढ जाती है जो जीवन के लिये भयंकर प्रमाणित हो सकता है। ग्लिसरिन, वसाम्ल और फ़ास्फेटों से फास्फोलिपिडों का बनाना भी यकृत् का कर्म है यद्यपि यह क्रिया कोलीन नामक नाइट्रोजन युक्त पदार्थ (प्रोटीन) ही की उपस्थिति में हो सकती है। आहार में उपस्थित कोलीन, मीथियोनाइन नामक प्रोटीनों से इस क्रिया में यकृत् को सहायता मिलती है। रासायनिक क्रियाओं की शृंखला की पूर्ति के लिये ये आवश्यक अवयव प्रदान करती हैं।

(४) **विटामिनों की क्रिया**—कुछ विटामिनों की क्रिया के लिये यकृत् द्वारा उत्पन्न पित्त की आवश्यकता होती है। वसा में घुलने वाली विटामिन ए. डी. ई. तथा के. का पूर्ण शोषण पित्त के बिना नही होता। ए. डी. तथा बी$_{12}$ विटामिनों का यकृत् में संग्रह होता है। बी$_{12}$ तो और कहीं पाई ही नही जाती। विटामिन के बिना यकृत् प्रोथ्रोम्बिन नहीं बना सकता। बी. श्रेणी की कुछ विटामिनों को सक्रिय करने का काम यकृत् का है। विटामिन बी$_1$ थियामिन का फ़ास्फोविलेनिवेशन, जिसके बिना वह सक्रिय नही होती, यकृत् में होता है। निकोटिनिक अम्ल का मिथाइलेनिवेशन भी इसी अंग में होता है।

(५) **निर्विषीकरण (detoxication)**—शरीर में जितने भी विष बनते हैं, जीव विष, आहारजन्य विष तथा बहुत से रासायनिक विष उनको यकृत् ऐसे पदार्थों में बदल देता है जो हानिकारक नहीं होते। कितने ही हारमोनों का भी, जो उपयोगी नहीं होते या जो अतिमात्रा में बनते हैं वे यकृत् द्वारा निष्क्रिय कर दिये जाते हैं। स्त्री हारमोन, ईस्ट्रोजनों तथा अन्य कई स्टिराइड हारमोन ग्लूकोरोनिक अम्ल के साथ जोड़ दिये जाते हैं और वे मूत्र द्वारा शरीर से निकल जाते हैं।

इसी प्रकार कितने ही रासायनिक पदार्थ जिनका प्रयोग औषधि की भाँति भी किया जाता है उनका भी यकृत् में निराकरण हो जाता है। या तो उनका आक्सीकरण हो जाता है, अथवा किसी और घटक या योग से उनका संयोग करके उनको निष्क्रिय बना कर उनको शरीर से त्याग दिया जाता है।

जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न हुए विषों (toxins) के मारन का यकृत् का विशेष कर्म है।

(६) अन्तिम और विशेष महत्व का यकृत् का विशेष कर्म पित्त का उत्पादन है जिसके ग्रहणी में पहुँचने तक का मार्ग पहिले बताया जा चुका है। पित्त गहरे हरे रंग का एक गाढा द्रव्य है जो यकृत् कोशिकाओं द्वारा तैयार किया जाता है और खण्डिकाओ में से अणुवाहिकाओं द्वारा बड़े आकार की वाहिकाओं में होकर मुख्य याकृती वाहिका द्वारा पित्ताशय में पहुँच कर वहाँ एकत्र हो जाता है। पाचन के समय वह सीधा पित्तवाहिका द्वारा ग्रहणी में चला जाता है। इस द्रव्य के विशेष घटक पित्त वर्णक-बिलिरयूबिन और त्रिलिवर्डिन, पित्तलवण-ग्लायकोकोलिक और टोरोकोलिक अम्लों के सोडियम और पुटासियम के लवण, कोलेस्टरौल, म्यूसिन तथा जल होते हैं। इनमें बिलिरयूबिन महत्व का है। यकृत् की सक्रियता जाँच करने के लिये बिलिरयूबिन की जाँच विशेष की जाती है। यह वर्णक रक्त, मूत्र और मल में उपस्थित पाया जाता है।

यकृत् की कर्मण्यता की जाँच
(Hepatic efficiency Tests)

उपर्युक्त यकृत् के कर्मों की जाँच करने के लिये जो उपाय किये जाते हैं उनका यहाँ संक्षेप से उल्लेख किया जाता है।

१. वर्णकोत्पत्ति—यकृत् की कार्यकुशलता की वर्णकोत्पत्ति विशेष द्योतक है। इस कारण रक्त, मूत्र और मल में बिलिरयूबिन की मात्रा मालूम की जाती है, विशेषतया रक्त मे। सीरम में बिलिरयूबिन ०·१ से ०·८ मि. ग्रा. प्रति १०० मि. लि. होती है। अव्यक्त या 'प्रच्छन्न कामला' (Latent jaundice) में १·० से ३ मि. ग्रा./१०० मि. लि. हो जाती है। किन्तु रोगी के वर्ण मे कोई अन्तर नहीं आता। यह दशा संक्रामक यकृत् शोथ, सिरोसिस युक्त यकृत् शोथ (infective hepatitis, cirrhosis hepatitis) तथा रक्तलायी रक्तक्षीणता (haemolytic anaemia) में पाई जाती है। एक प्रकार की कामला मे रक्त मे पित्तलवणो की मात्रा बढ़ जाती है किन्तु वर्णक (बिलिरयूबिन) की मात्रा नहीं बढ़ती। वानंडेनबर्घ प्रतिक्रिया से रक्त में वर्णकों की उपस्थिति का पता लग जाता है।

मूत्र में रासायनिक जाँचों से पित्त सहज में मालूम हो जाता है। मल में पित्त ही के कारण रंग होता है। पित्त की अनुपस्थिति से सफेद रंग का और अति वसामय मल होता है।

२. चयापचय सम्बन्धी— कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन और वसा तीनों के चयापचय सम्बन्धी जाँच की जाती है।

(अ) कार्बोहाइड्रेट के लिये—प्रायः दुग्धशर्करा (गैलेक्टोज़) से यह जाँच की जाती है। ४० ग्राम दुग्धशर्करा खिला कर दो घण्टे तक प्रत्येक

आधे घण्टे पर रक्त की और मूत्र की शर्करा की मात्रात्मक परीक्षा की जाती है। इस प्रकार रक्त शर्करा का एक वक्र बनाया जाता है। इसी प्रकार मूत्र शर्करा का भी वक्र तैयार हो जाता है। मूत्र शर्करा को ५ घण्टे तक नापना चाहिये। रक्त गैलक्टोज़ स्वस्थ दशा में १० से ४० मि. ग्राम/१०० मि. लि. रक्त से अधिक नहीं होती और चारों बार जाँच में निकलती हुई मात्राओं का योग ७० से ऊपर नहीं होता। तथा ५ घण्टे में मूत्र द्वारा निकलने वाली गैलैक्टोज़ ३ ग्राम से अधिक नहीं होती। यदि रक्त गैलैक्टोज़ का १०० अंक हो तो वह यकृत् कोशिकाओं की क्षति का सूचक है। इसी प्रकार ५ या ६ ग्राम मूत्र शर्करा यकृत् के उग्र विकार का द्योतक है।

(क) **प्रोटीन के लिये**—रक्त के प्रोटीनों के संश्लेषण शक्ति का, रक्त में एलब्यूमिन और ग्लोब्यूलिन की सान्द्रता अर्थात् प्रति १०० मि. लि. में उपस्थित मात्रा से अनुमान लगाया जाता है। सामान्य दशा में एलब्यूमिन ३·५ से ५·५ ग्राम और ग्लोब्यूलिन १·५ से ३·० ग्राम प्रति १०० मि. लि. अर्थात् २:१ की निष्पत्ति में होते हैं। यकृत् रोग में यह निष्पत्ति गड़बड़ हो जाती है। जीर्ण यकृत्शोथ में एकदम उलट जाती है, १:२ हो जाती है।

(च) **वसा के लिये**—कोलेस्टरोल का ऐस्टरीकरण यकृत् का काम है। साधारणतया रक्त का ७५ प्रतिशत कोलेस्टरोल ऐस्टरीकृत हो जाता है। प्लाविका-कोलेस्टरोल की कमी यकृत की कोशिकाओं में विस्तृत रोग का सूचक है।

(त) **विटामिन संबंधी**—विटामिन के की कमी से प्रोथ्रोम्बिन की कमी हो जाती है जिससे रक्तातंचन का समय बढ जाता है। यकृत् के अन्तर्भाग (parenchyma) के विस्तृत रोग होने से अथवा आन्त्र से विटामिन का शोषण न होने पर यह दशा उत्पन्न हो सकती है। आन्त्र में पित्तलवणों की त्रुटि का यह परिणाम हो सकता है। इन लवणों की अनुपस्थिति में विटामिन वसा में घुलेगी नहीं जिससे उसका अवशोषण भी न होगा। यदि इन्जैक्शन द्वारा विटामिन के देने से प्रोथ्रोम्बिन समय सामान्य हो जाय तो समझना चाहिये कि यकृत् का विकार नहीं है। उसकी क्रियाकुशलता ठीक है। इससे विपरीत दशा यकृत् रोग की सूचक है।

(ट) **एक्स-रे**—आयोडीन का योग खिलाकर, जो कई नामों से बाजार में बिकते हैं, पित्ताशय तथा पित्तवाहिनियों का एक्स-रे चित्रण किया जाता है। उससे पित्ताशय का आकार, उसका भरना तथा उसमें उपस्थित अश्मरी दिखाई दे जाती हैं। पित्तवाहिकाओं में शोथ या अश्मरी के कारण

अवरोध से या स्वयं पित्ताशय में जीर्ण शोथ से जब यह योग पित्ताशय में नहीं पहुँचता तो उसकी छाया चित्र मे नहीं आती।

(प) यकृत् का सूक्ष्म भाग लेकर उसकी ऊतक परीक्षा भी की जाती है जिससे उसकी आन्तरिक रचना की विकृति दिखाई दे जाती है। अन्य भी कई प्रकार की जाँच की जाती है।

यकृत् के रोग

उग्र संक्रामी यकृतशोथ
(Acute Infective Hepatitis)

यह एक उग्र रोग है जिसमे ज्वर के साथ यकृत् में शोथ होकर वर्ण में पीलापन (कामला) आ जाता है। नेत्र की श्लेष्मलकला (श्वेत भाग) भी पीला हो जाता है और मूत्र भी गाढ़ा पीला आता है। इसका कारण एक वायरस होता है जो रोगी के मुंह या नाक के स्राव के बिन्दु संक्रमण द्वारा स्वस्थ व्यक्तियों मे पहुँच सकता है। इसको वाइरस-ए कहते हैं। वह मल द्वारा भी शरीर का त्याग करके जल तथा दूध के साथ पहुँच कर रोग उत्पन्न कर सकता है। रोग का उद्भवन काल १४ से ३५ दिन है। जिन कामला के मरकों (epidemics) का उल्लेख मिलता है जो समय समय पर प्राचीन काल से फैलते रहे हैं उनको संक्रामी यकृत शोथ ही के मरक समझना चाहिये।

यह रोग बच्चों और बालकों में अधिक फैलता है। किन्तु अनेक बार युवावस्था वालों को भी आक्रान्त करता है। देहली तथा अन्य कई स्थानों में हाल ही मे जो रोग फैला था जिसमें कितनी ही मृत्यु भी हुई थी उसमें वयस्क रोगियों की अधिक संख्या थी। जिसको पहले श्लेष्मल कामला (catarrhal jaundice) कहते थे वह वास्तव मे यही रोग है और संक्रमण के कारण उत्पन्न होता है।

विकृति—संक्रमण का अभीष्ट स्थान यकृत् की खंडिकाये मालूम होती हैं जिनके मध्यस्थ भाग में वह शोथ उत्पन्न करके एक गलन क्षेत्र बना देता है जिससे बीच की केवल कुछ कोशिकाओं की हानि होती है। किन्तु खंडिका की शेष रचना पूर्ववत् ही रहती है। इससे रोगमुक्ति के पश्चात खंडिकाओं की नष्ट कोशिकाओं का पुनर्जनन हो जाता है और यकृत् की कर्मशक्ति भी पूर्ववत् हो जाती है। कामला का कारण खंडिकाओं के भीतर की सूक्ष्म पित्त अणु-वाहिनियों का शोथयुक्त कोशिकाओं के कारण दब जाना होता है जिससे कोशिकाओं द्वारा उत्पन्न हुए पित्त का संवहन नहीं हो पाता।

लक्षण—एक या दो सप्ताह तक प्रारंभिक लक्षण पाये जाते हैं। जिनके

पश्चात कामला प्रकट होती है। जी मिचलाना, सिरदर्द, क्षुधाह्रास, अरुचि तथा आकस्मिक पेट के दर्द या कभी पतले दस्त आना ये लक्षण १ दिन से लेकर १४ या १५ दिन तक बने रहते हैं। वमन भी हो सकते हैं। भूख एकदम बन्द हो जाती है। सदा जी मिचलाता रहता है। बहुत से रोगियों में इससे अधिक रोग नहीं बढता। इस काल में भी यकृत् बढ़ा हुआ मिल सकता है जिसको दबाने से रोगी को पीड़ा प्रतीत होती है।

इससे रोग के अधिक तीव्र होने पर नेत्रों के श्वेत भाग पीले हो जाते हैं और मूत्र भी यूरोबाइलिन के कारण पीला हो जाता है। जितना खंडिकाओं में शोथ बढता है और वहाँ की पित्त अणुग्राहिकायें दबती हे उतनी ही कामला बढती जाती है। नेत्र, वर्ण, मूत्र और मल तक गाढ़ा पीला हो जाता है। कुछ में (१० १५ प्रतिशत में) प्लीहा की भी वृद्धि हो जाती हे।

अधिकतर रोगियों में १ से तीन सप्ताह के पश्चात् रोग घटने लगता है। कामला भी कम हो जाती है। ज्वर जाता रहता है। क्षुधा लौट आती है। मूत्र भी स्वच्छ हो जाता है। परिवर्धित यकृत् भी घटकर सामान्य दशा को पहुँच जाता है और रोगी ३ से ६ सप्ताह में स्वस्थ हो जाता है।

कुछ रोगियों मे पूर्ण रोगमुक्ति नहीं होती। यद्यपि रोग के लक्षण जाते रहते हैं किन्तु यकृत् के क्षत भाग का पूर्ण आरोहन और पुनर्जनन नहीं होता। वहाँ तन्तुवन (fibrosis) हो जाता है। तान्तव ऊतक नष्ट कोशिकाओं का स्थान ले लेता है। यह क्रिया बढ़ती जाती है जब तक कि वह जीर्ण दशा जिसको सिरोसिस (cirrhosis of liver) कहते हैं नहीं उत्पन्न हो जाती। इससे यकृत् की अत्यन्त क्षति होती है। उसकी क्रियाशक्ति का ह्रास हो जाता है। तब लक्षण उत्पन्न होते हैं। जी मिचलाना, वमन, उदरशूल, अतिसार और कामला के कुछ अन्तर्काल से आक्रमण होते रहते हैं।

किसी किसी (अत्यल्प) रोगी की उग्र अवस्था में मृत्यु भी हो जाती है। रोग इतने उग्र रूप का होता है कि लक्षण घटने के स्थान मे तीव्र ही होते चले जाते हैं और उसकी मृत्यु मे ही अन्त होते हैं। ऐसे रोगी प्राय: पहले ही क्षीण होते हैं। मदात्यय, आहार न्यूनता, विशेषकर प्रोटीन त्रुटि तथा विटामिनों की न्यूनता, संक्रमण, जैव विष आदि से उनके यकृत् पहिले ही आहत हुए होते हैं। गर्भावस्था में भी ऐसी ही दशा हो सकती है। ऐसे रोगियों में मृत्यु सख्या ५० प्रतिशत पहुँच सकती है।

रोग की पहिचान कामला प्रगट हो जाने के पश्चात् कठिन नहीं है। किन्तु उसको वर्ण में परिवर्तन के पहिले ही पहचानना आवश्यक है। इसलिये

इन्फ्लुयेंजा, मैलेरिया, आन्त्रिक ज्वरों, मस्तिष्कावरण शोथ, आमाशय-आन्त्र शोथ तथा उण्डुक शोथ से उसका भेद करना पड़ेगा।

रोग निरोध– गामाग्लोब्यूलिन १० मि. लि. रोग के उद्भवन काल में पेशियों द्वारा प्रविष्ट करना रोग के आक्रमण को रोकने या उसकी उग्रता घटाने में लाभदायक बताया जाता है।

सीरम कामला जिसका नीचे वर्णन किया गया है उसकी और उपर्युक्त यकृत्शोथ रोग की एक ही समान चिकित्सा की जाती है। इस कारण सीरम कामला के साथ ही चिकित्सा का वर्णन किया गया है।

समधर्मी सीरम कामला

(Homologous serum jaundice)

कुछ रोगियों में प्लाज्मा, सीरम तथा रुधिराधान द्वारा समस्त रक्त देने पर भी उग्र यकृत्शोथ के समान लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। वर्ण भी पीत रंग का हो जाता है। यह सीरम कामला कहलाता है।

इसका कारण एक वाइरस है जिसको वाइरस-बी कहते हैं। यह रक्त में रहता है। इस कारण संक्रमण सिरिंजों द्वारा संवाहित हो सकता है। यह पाया गया है कि कुछ व्यक्तियों के रक्त मे यह वाइरस बिना कोई लक्षण उत्पन्न किये उपस्थित रह सकता है। यह वाइरस यकृत्शोथ के वाइरस के बहुत कुछ समान होता है और उसके द्वारा यकृत् में उसी प्रकार के क्षत या विकृति उत्पन्न कर देता है जैसे यकृत्शोथ के वाइरस-ए द्वारा होते हैं। अतएव लक्षण भी ठीक वैसे ही होते हैं। वास्तव में एक समय दोनों रोगों का कारण एक ही वाइरस माना जाता था। किन्तु दोनों वाइरसों के उद्भवन काल भिन्न हैं। जहां वाइरस-ए का उद्भवन २ से ५ सप्ताह में होता है वहां वाइरस बी का १४ सप्ताह, लगभग १०० दिन उद्भवन काल है।

चिकित्सा

उपर्युक्त दोनों रोगों की समान चिकित्सा की जातो है। रोगों के वाइरस जन्य होने से उनकी कोई विशिष्ट औषधि नहीं है। रोगी की लक्षणानुसार और बलरक्षक चिकित्सा की जाती है।

१. रोग का निश्चय अथवा सन्देह होते ही रोगी को शैयारूढ़ कर देना उचित है। पूर्ण विश्राम तब तक उचित है जब तक ज्वर न उतर जाय, जी मिचलाना तथा अशक्यता की प्रतीति न बन्द हो जाय और रक्त मे सीरम का बिलिरयूबिन अपने सामान्य स्तर पर न आ जावे। तथा बढ़ा हुआ यकृत्

भी घटकर अपने पहले आकार या सीमा पर न आ जाय। इसके भी एक सप्ताह पश्चात् तक रोगी को व्यायाम या परिश्रम न करने दिया जाय।

२. आहार को उस प्रकार से बन्द करने की अब आवश्यकता नहीं समझी जाती जैसे पहिले बन्द किया जाता था। उसके प्रतिदिन के आहार में १२० ग्राम प्रोटीन, २०० से ३०० ग्राम कार्बोहाइड्रेट और रोगी के इच्छानुसार ५० ग्राम या इससे भी अधिक स्नेह होना चाहिये। आहार को हलके मसाले के साथ स्वादिष्ट बनाया जाय जो रोगी को रुचिकर हो। दूध अत्युत्तम पदार्थ है। उससे क्रीम की ऊपरी तह निकाल दी जाय। यह प्रचुर मात्रा में दिया जाय। दही का मट्ठा बनाकर देना अत्युत्तम है।

३. रोगी के शरीर में लगभग ५ पाइन्ट (३ लिटर) द्रव प्रति दिन पहुँचना चाहिये। उसको द्रव दिये जायँ तथा जो उसके शरीर से निकले (मूत्र वमन स्वेद आदि) उनका पूरा ब्यौरा रखा जाय जिससे उसके द्रव के आगम और निर्गम की मात्रा का ज्ञान रहे। यदि रोगी वमन के कारण मुँह से न ले सके तो उसको शिरा द्वारा ग्लूकोज का १०% विलयन आवश्यक मात्रा में दिया जाय।

४. **औषधोपचार** केवल लाक्षणिक है।

(अ) वमन के लिये एवोमीन २५ मि. ग्राम आहार से पहिले देना उपयोगी है।

(क) यदि रक्तस्राव हो तो विटामिन के ५ मि. ग्राम प्रतिदिन इन्जैक्शन द्वारा दी जाय।

(च) ए. सी. टी. एच, कार्टीसोन तथा अन्य कार्टिकोस्टिराइड योगों के संबंध में मत भिन्नता है। बहुत से विद्वान् रोगी की दशा के न सुधरने और दीर्घ काल तक रोग के बने रहने पर उनके देने के पक्ष में हैं। कितने ही चिकित्सकों को उनसे संतोषजनक परिणाम मिले हैं। किन्तु तो भी उनके उपयोग में बहुत सावधानी की आवश्यकता है। उनसे होने वाली हानि की संभावना का सदा ध्यान रखना उचित है। अवरोधक प्रकार की कामला (obstructive jaundice) में यदि वह बहुत काल तक बनी रहे तो ए. सी. टी. एच. ४० मात्रक (I. u) दिन में दो बार, चार दिन तक इन्जैक्शन द्वारा दिये जाँय। यकृत्शोथ की उग्र दशा में प्रेडनीसोन, ५ मि. ग्राम की टिकिया दिन में तीन बार कई सप्ताह तक, और अत्युग्र यकृत्शोथ की दशा में २०० मिलीग्राम हाइड्रोकार्टीसोन प्रतिदिन अन्तर्शिरीय मार्ग द्वारा उपयोगी है। अतएव यह स्पष्ट है कि इनका प्रयोग केवल विषम दशाओं में विधेय है।

(ट) मार्फीन, बारबिट्यूरेट तथा सल्फोनेमाइड, ये औषधियां संक्रामक यकृत्शोथ के रोगियों को न देना चाहिये—ऐसे रोगी को क्लोरोफार्म कभी न सुँघाया जाय।

जीर्ण यकृत् रोग, यकृत् का सिरोसिस
(Chronic Hepatic disease, Hepatic Cirrhosis)

इस रोग में यकृत् में तान्तव ऊतक (fibrous tissue) अतिमात्रा में बन जाने से यकृत् कड़ा पड़ जाता है। उग्र शोथ के कारण नष्ट हुई कोशिकाओं का स्थान तान्तव ऊतक ले लेता है। शोथ जीर्ण रूप का हो जाता है। और उसके कारण तान्तव ऊतक बन कर कोशिकाओं को नष्ट करता रहता है। इससे कोशिकाओं की संख्या घटती चली जाती है। कुछ काल में यकृत् की स्वाभाविक रचना ही बदल जाती है। इस रोग के सात प्रकार बताये गये हैं। १. विस्तृत याकृती तन्तुवन २. गल्नोत्तर ३. पैत्तिक ४. अतिसंभरणजन्य (congestive) ५. वर्ण की (Pigmentary) ६. सिफिलिस जन्य (syphilitic) और ७. पराश्रयी जन्य (parasitic)

१. विस्तृत याकृती तन्तुवन, पोर्टल सिरोसिस,
(Diffuse hepatic fibrosis, Portal Cirrhosis Laenec's atrophic cirrhosis, Hob nail Liver)

जैसा इसके प्रथम नाम से स्पष्ट है इस रोग में यकृत् की कारमुक कोशिकाएँ नष्ट होती चली जाती हैं और उनके स्थान में तान्तव धातु बनती जाती है। इन परिवर्तनों की अवस्था के अनुसार प्रथम अवस्था में जब यकृत् में केवल शोथ होता या उसमें वसा का अन्तःसरण (fatty infiltration) होता है तो यकृत् का आकार बढ जाता है, फिर सामान्य हो जाता है। और उसके पश्चात् संकोच करके छोटा हो जाता है। यह तन्तुवन क्रिया कितनी हो चुकी है इस पर निर्भर करता है। जितना तन्तुवन अधिक होता है उतना ही यकृत् छोटा, कड़ा और विकृत आकार का हो जाता है। अतएव आकार में मुख्य परिवर्तन यकृत् की कोशिकाओं के स्थान में तान्तव ऊतक का बनना होता है।

रोग का कारण—(१) संक्रामक यकृत् शोथ के पुनः पुनः आक्रमणों का फल अवश्य ही तान्तव ऊतक की उत्पत्ति होगी। प्रत्येक आक्रमण में जितनी अधिक खंड़िकाओं मे जितनी ही अधिक (कोशिकाओं की) गलन होगी उतना ही तान्तव ऊतक अधिक बनेगा। प्रायः साधारण आक्रमणों से पूर्ण रोग मुक्ति हो जाती है और कोशिकाओं का पुनर्जनन हो जाता है।

किन्तु एक या दो संक्रामक शोथ के आक्रमणों को पश्चात् ही विस्तृत तन्तुवन होते भी देखा गया है।

(२) मदात्यय—(Alcoholism) से इस रोग का गहरा संबंध पाया गया है। विद्वानों को इसमें सन्देह है कि स्वयं मद्य (अलकोहल) उपर्युक्त परिवर्तन यकृत् में उत्पन्न करता है या नही। किन्तु वह यकृत् कोशिकाओं पर विष की भाँति काम अवश्य करता है विशेषतया संक्रामक शोथ के आक्रमण के पश्चात्।

(३) आहार—इस संबंध मे प्रयोगशालाओं में बहुत अन्वेषण हुए हैं जिससे यह प्रमाणित हो गया है कि आहार में कतिपय अवयवों की त्रुटि इस रोग को उत्पन्न कर सकती है। सिस्टीन की त्रुटि से यकृत् कोशिकाओं का 'सामूहिक गलन' (massive necrosis) हो सकती है जिसके पश्चात् वहा क्षतांक बनता है फिर कुछ वसा प्रेरक (lipotropic) अवयवो जैसे कोलीन (choline) की कमी से यकृत् में उपस्थित उदासीन (neutral) वसा यकृत् से बाहर नहीं आती जिससे प्रथम वहा वसा की अति मात्रा एकत्र हो जाती तथा वसा का अन्तःसरण होता है। और फिर उसका स्थान तान्तव ऊतक ले लेता है। मीथियोनाइन भी वसा प्रेरक अमीनो अम्ल है यद्यपि उसकी क्रिया दूसरी प्रकार से होती है किन्तु यकृत् से वसा को निकालने के लिये यह भी आवश्यक है।

प्रयोगशालाओं में जन्तुओं को अधिक वसामय आहार से भी यकृत् मे वसा का अन्तःसरण और अपजनन (degeneration) होता है जिसके पश्चात् तान्तव ऊतक बन कर यह रोग हो जाता है। प्रोटीन की कमी भी इस क्रिया की सहायक है।

(४) पित्तवाहिनियों में अवरोध से जैसे पित्तवाहिनी अश्मरी की उपस्थिति से संक्रमण यकृत् खण्डिकाओं के भीतर पित्त अणुवाहिनियों में पहुँचकर वहाँ शोथ उत्पन्न कर देता है और पित्त मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। यह शोथ खण्डिकाओं (cholangio-hepatitis) में भी पहुँचता है। इस प्रकार के शोथ का परिणाम सिरोसिस होता है।

(५) हृदय का प्रतिसंभरण अवपात (congestive heart failure) से भी सिरोसिस की दशा हो सकती है।

(६) पूर्ण अन्वेषण करने पर भी अनेक रोगियो में कारण का पता नहीं लगता।

(७) यकृत् में अन्तःसरण—वसा अन्तःसरण का गत पृष्ठ पर आहार त्रुटि के सम्बन्ध मे उल्लेख किया जा चुका है। मधुमेह (डायबिटीज) मे

यक्रत् में इसी प्रकार वसा एकत्र हो जाती है जिससे यक्रत् की वृद्धि हो जाती है। ग्लायकोजन के अतिसंचय से, जो कभी कभी जन्म से होता रहता है, बालकों में यकृत् की वृद्धि हो सकती है। कोलेस्टरोल तथा अन्य भी कई पदार्थों से यक्रत् की वृद्धि हो जाती है। कितने ही तीव्र ज्वरों के पश्चात् यक्रत् में इमिलोइड अपजनन (degeneration) हो जाता है जिससे यक्रत् के आकार की वृद्धि होती है अर्थात् यक्रत् में वसा कोलेस्टरोल अपजनित अवयव तथा अन्य वस्तुये एकत्र हो जाती हैं और उनके पश्चात् यक्रत् में तान्तव ऊतक बनकर सिरोसिस रोग हो जाता है।

विकृति का कुछ उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पहले वसा के एकत्र होने से यक्रत् की वृद्धि होती है। तब यक्रत् में तान्तव ऊनक के लम्बे लम्बे तन्तु खण्डिकाओं के बीच (उनको घेरे हुए) बन जाते हैं और कोशिका समूहों को अपने स्थान से स्थानान्तरित कर देते हैं जिससे यक्रत् का आकार भी विकृत हो जाता है। यक्रत् सिकुड़ कर कड़ा पड़ जाता है। उसके पृष्ठ पर छोटे छोटे उभार (गांठें भी) बनने से वह असम हो जाता है। तान्तव ऊतक के सूत्रों के कारण खण्डिकाओं के भीतर की तथा पित्त पथों की शिराये भी दब कर संकुचित हो जाती हैं जिससे उनमें रक्त मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और सारे प्रतिहारी तन्त्र (portal system—मुख्य प्रतिहारणी शिरा, उसकी शाखाये तथा उनमें रक्त लाने वाली शिराये)—में रक्त रुक सा जाता है जिससे पश्चदाब (back perssure) उत्पन्न हो जाता है और रक्त को निकालने के लिये अंगों की शिराओं में नये नये संबंध स्थापित हो जाते हैं। ग्रासनाल के निम्न भाग की तथा आमाशय के भीतर स्थित शिराये प्रसरित हो जाती हैं और उन पर की श्लैष्मिक कला में व्रणोत्पत्ति से इन शिराओं से बहुत रक्तस्राव हो सकता है। ग्रासनाल के बहिःपृष्ठ की और आमाशय के बहिःपृष्ठ की परिमंडली (coronary veins) शिराओं में सम्मिलन (anastomosis) बन जाते हैं। इस रोग के रोगियों, विशेषतया जिनमें इस रोग के कारण जलोदर (ascites) उत्पन्न हो जाता है उनमें नाभि के चारों ओर प्रसरित शिराओं का एक चक्र बन जाता है जिससे पहिये के अरो के समान चारों ओर को जाती हुई बड़ी बड़ी शिरायें दीखती है। यह Caput Medusae के नाम के पुकारा जाता है। यक्रत की सिरोसिस के कारण प्रतिहारणी शिरा में रुके हुए रक्त से उत्पन्न हुए पश्चदाब के कारण यह दृश्य उत्पन्न होता है। इसको यक्रत् सिरोसिस का विशेष चिन्ह समझना चाहिये। इसी प्रकार निम्न आन्त्रयोजनी और ऊर्ध्व अर्श शिराओं (inferior mesenteric, superior haemorrhoidal)

के सम्मिलन बन जाते हैं जिनसे प्रायः यकृत् सिरोसिस के रोगियों में अर्श उत्पन्न हो जाते हैं।

लक्षण और चिह्न—यह रोग पुरुषों में अधिक होता है। प्रायः ४० वर्ष से अधिक आयु वालों में होता है यद्यपि बालकों मे भी पाया जाता है। एक प्रकार का सिरोसिस, जिसको 'शिशु यकृत्' (infantile liver) कहते हैं वह ३ से ८ या १६ वर्ष के बालको ही में पाया जाता है और सदा घातक होता है।

रोग के प्रारंभ में कोई लक्षण नहीं होते। कुछ समय पश्चात अग्निमांद्य या जीर्ण आमाशय शोथ के से लक्षण रहने लगते हैं। पेट फूलना, जी मिचलाना, मुंह में खट्टा द्रव भर आना तथा कभी कभी वमन होना ये लक्षण रहते हैं। आहार में अरुचि भूख न लगना तथा शिरदर्द और कोष्ठबद्धता रहती है। नकसीर (epistaxis नासारक्तस्राव) कभी कभी हो सकती है। कुछ रोगियों मे रक्तवमन (haemetemesis) प्रथम लक्षण होता जिसमें बहुत सा रक्त निकल जाता है। कुछ रोगियों में अकस्मात परिवर्धित यकृत् का पता लग जाता है जिससे रोग का अनुमान संभव होता है।

इस अवस्था में रोगों की परीक्षा करने पर यकृत् बढ़ा हुआ या सामान्य प्रतीत होता है। स्पृश्य होने पर उसका किनारा और पृष्ठ असम (कहीं उठा कहीं दबा) प्रतीत होते हैं। यद्यपि रोगी देखने में पुष्ट दीखता है किन्तु उसका मुखचर्म कुछ फूला हुआ और विवर्ण सा दीखता है। कपोलों की त्वचा पर प्रसरति शिराओं के गुच्छे दिखाई दे सकते हैं। नेत्र लाल और स्रावयुक्त होते हैं।

रोग के बढ़ने पर रोगी को निरंतर बढ़ती हुई दुर्बलता प्रतीत होती है। श्वास कष्ट भी होने लगता है। उदर बढता जाता है। टांगों पर तथा उदर पर भी शोफ बढ़ने लगता है जिसके कई कारण हो सकते हैं। प्रतिहारी तन्त्र तथा निम्न महाशिरा में बढ़ा हुआ रक्त दाब, उदर की लसीकावाहिनियों मे उदराभ्यन्तर अतिदाब के कारण अवरोध, जलोदर द्रव्य में प्रोटीनों की अति—मात्रा एकत्र होने से रक्त में उत्पन्न हुई प्रोटीनों की न्यूनता तथा यकृत् की अकर्मण्यता मे उत्पन्न हुए विषों से रक्त केशिकाओं की क्षति जिससे रक्त की प्रोटीनों का बाहर निकल जाना सहज होता है। इनमें से कोई एक या अधिक शोफ का तथा जलोदर का कारण हो सकते हैं। इस समय उदर विस्तृत होता है तथा उसमें द्रव की उपस्थिति परीक्षा करने पर मालूम हो जाती है। उदर की त्वचा पर प्रसरित शिरायें दीखती हैं तथा caput medusae का दृश्य उपस्थित मिल सकता है। इस समय यकृत् संकुचित हो जाने तथा उदर

के द्रव से परिपूरित होने के कारण परिस्पर्श्य नहीं होता। द्रव को निकाल देने से बढ़ा हुआ यकृत् प्रतीत हो सकता है। रोगी को न्यून वर्णक (hypochromic) और अणु कोशिकी (microcytic) रक्त क्षीणता (anaemia) हो जाती है।

रोग के और बढ़ने पर यकृत् के कर्म की त्रुटि से उत्पन्न हुए विषों के रक्त में संचय होने से रक्त पूतिता (septicaemia) के चिह्न दिखाई देने लगते हैं। शिर दर्द रहता है। रोगी की विचार शक्ति अस्त व्यस्त हो जाती है। विभ्रम हो जाता है। निद्रा नही आती। स्मृति लोप होने लगत है। रोगी अर्धनिद्रित सा दिखाई देता है। तत्पश्चात् वह अचेतन या मूर्छित हो जाता है। इस दशा को 'यकृत् संमूर्छा' (hepatic coma) कहते हैं।

प्रायोगिक परीक्षायें—मूत्र मे पित्त उपस्थित होता है। विशिष्ट गुरुत्व अधिक होता है। बिलिरयूबिन नहीं होती। बिलिरयूबिनोजन अवश्य होती है। रक्त में सीरम-एलब्यूमिन घट जाता है और ग्लोब्यूलिन बढ़ जाता है। दोनों की निष्पत्ति उलट सकती है अर्थात १.२ हो सकती है। पित्तवर्णकों की मात्रा बढ जाती है। सीरम बिलिरयूबिन में थोड़ी ही वृद्धि होती है।

यकृत् कर्मों के लिये जाँच करके यकृत् क्षतिका अनुमान आवश्यक है।

ऊपर्युक्त लक्षण और चिह्नो के दो प्रधान कारण हैं। इन ही कारणों से सब लक्षण तथा अन्य परिवर्तित दशाएँ उत्पन्न होती हैं जिनकी विशेषता के कारण यहाँ पुनरावृत्ति की जाती है।

(१) **प्रतिहारणी शिरा में रक्त रुकना** जिससे उसका अन्तर्दाब बढ़ जाता है (Portal hypertension)। इससे निम्न दशाये उत्पन्न होती हैं :—

अ—**अग्निमांद्य** तथा **अन्य पाचनसंबंधी सभी विकार।**

क—**रक्त संवहन संबंधी परिवर्तन**—शिराओं का प्रसार, नवीन शिराजालिकाओं का बनना, मुख और उदर की त्वचा पर शिराओं की वृद्धि तथा प्रसार, रक्त वमन तथा अन्य स्थानों से रक्तस्राव, अर्श।

ख—**प्लीहा वृद्धि** रक्ताधिक्य के अतिरिक्त प्लीहा में तान्तव ऊतक की भी वृद्धि हो जाती है।

त—**रक्त क्षीणता**—अस्थिमज्जा की रक्ताणुओं को बनाने की शक्ति भी क्षीण हो जाती है।

प—**जलोदर** सदा नहीं होता।

व—**उदर और निम्न शाखाओं का शोफ।**

(२) यकृत् की अकर्मण्यता (Hepatic insufficiency) इससे निम्न दशायें उत्पन्न होती हैं :—

अ—कामला—खंडिकाभ्यन्तर अणुनलिकाओं की पित्त संवहन की असमर्थता मुख्य कारण होती है।

क—रक्तस्राव की प्रवृत्ति-प्रोथ्रोम्बिन की कमी से।

च—शोफ—हारमोनों की कमी और प्लाज्मा की रसाकर्षण दाब (osmotic pressure) का घटना इसका कारण माना जाता है।

त—मानसिक और नाड़ी संबन्धी विकार

प—यकृत् संमूर्छा (Hepatic coma)

रोग का क्रम और साध्यासाध्यता—रोग का क्रम प्रारंभ में बहुत धीमा होता है। इस समय रोग का रुक जाना कठिन नहीं होता। रक्त वमन, मल में रक्त जाना (malena), नासारक्तस्राव आदि रोग की वर्धित अवस्था के सूचक हैं जब कि यकृत् सिरोसिस बढ़ चुकी है और उसकी कर्मण्यता भी बहुत कुछ नष्ट हो गई होती है। २० प्रतिशत रोगियों की मृत्यु प्रसरित शिराओं से रक्त स्राव के कारण होती है। शेष का अन्त बीच में निमोनिया, पर्युदर्याशोथ तथा ऐसे ही किसी तीव्र रोग से अथवा स्वयं रोग के कारण यकृत् संमूर्छा आदि से होता हैं।

आधुनिक चिकित्सा से, जिसका आधार आहार को रोगी की दशा के अनुकूल बनाना है, पहिले की अपेक्षा रोगी के जीवन की रक्षा की आशा बहुत कुछ बढ़ गई है।

रोग की पहिचान—आरंभ में लक्षण विशेष कर पाचन संबंधी होते हैं। इस कारण आमाशय शोथ, आमाशय व्रण तथा पित्ताशय शोथ से रोग का भेद करना पड़ता है। यकृत् की स्पर्शासह्यता या उसकी वृद्धि के कारण यकृत् रोग की ओर ध्यान जाता है और तब यकृत् वृद्धि के अन्य कारणों का विचार आवश्यक है जो यकृत् का कैंसर, सिफिलिस, ल्यूकीमिया, हाइडेटिड सिस्ट और यकृत् विद्रधि हैं।

यकृत् का कैंसर प्रायः द्वितीयक (secondary) होता है। अर्थात् दूसरे किसी आक्रान्त अंग से उसका यकृत् में प्रसार, होता है। प्राथमिक कैंसर अर्थात् यकृत् में ही प्रथम उत्पन्न हुआ कैंसर बहुत असाधारण है। हा सिरोसिस के साथ हो सकता है। ऐसी दशा में यकृत् की वृद्धि बड़ी तीव्र गति से होने लगती है। रोगी की दशा की क्षीणता का वेग बढ़ जाता है। प्रायः ज्वर रहता है। कामला भी अधिक होती है।

सिफिलिस का वासरमैन प्रतिक्रिया से पता चल जायगा। रक्त परीक्षा सहज ही में ल्यूकीमियाँ वता देगी। शरीर मे अन्य स्थितियों कक्ष, ऊरू, ग्रीवा आदि की लसीका ग्रन्थियां बढी होंगी। यकृत् विद्रधि का निश्चय इतिहास, स्थिति, रक्त परीक्षा आदि से सहज है।

अतिसंभरित हृदयावसाद से भी यकृत् की वहुत वृद्धि हो सकती है। किन्तु उसमे यकृत् कड़ा नही होता। उसका पृष्ठ एक सम और परिस्पर्श पीड़ा रहित है। फिर हृदयावसाद के लक्षण उपस्थित होते हैं।

हाइडेटिड सिस्ट मे रोगी का इतिवृत्त तथा रक्त परीक्षा रोग पहिचानने में सहायक होंगे। रोगी की साधारण दशा वहुत कालतक उत्तम बनी रहती है।

यकृत सिरोसिस और मदात्यय का घनिष्ठ संबंध है। यदि मद्यपान के अभ्यस्त होने का इतिहास मिले तो केवल अग्निमाद्य के लक्षण होने पर भी यकृत् के सिरोसिस की ओर ध्यान जाना चाहिये।

उपद्रव (complications) :—रक्तवमन, रक्तस्राव युक्त प्लूरा निस्सरण (haemorrhagic pleural effusions), प्रतिहारी घनास्राव (portal thrombosis), राजयक्ष्मा (pulmonary tuberculosis), और औदर्या का ट्यूबर्क्यूलोसिस (tuberculous peritonitis)

चिकित्सा

यह रोग विशेषतया आहारत्रुटिजन्य प्रमाणित हो चुका है। इस कारण चिकित्सा का आधार उन त्रुटियों की पूर्ति करने वाला आहार देना है जिसके द्वारा रोगी को प्रोटीन की उच्चतम मात्राएँ मिल सके, जिसका, पोषक मूल्य ३००० कैलोरी प्रतिदिन से कम न हो। उसमें विटामिने पूर्ण मात्राओं मे हो और जो सहज पच्य भी हों। यकृत् में जो परिवर्तन हो चुके है, जितना तान्तव उतक बन चुका है उसको मिटा देने की तो किसी आहार या औषधि में सामर्थ्य नहीं है। किन्तु उपयुक्त आहार द्वारा नष्ट यकृत् कोशिकाओं के स्थान में नवीन कोशिकाओं का बनना और यकृत् का कर्मशील हो जाना संभव है।

विश्राम—रोगी को शैयारूढ़ करके रखना आवश्यक नही है जब तक कि उसको रक्तवमन न हो-या यकृत् की अकर्मण्यता पराकाष्ठा को न पहुँच जाय अथवा जलोदर में द्रव की मात्रा बहुत न बढ जाय। शरीर से रक्तस्राव होने पर रोगी का चलना फिरना बन्द करके पूर्ण विश्राम आवश्यक है।

आहार—प्रतिदिन का आहार ३००० केलोरी से कम का न हो। उसमें १२० से १४० ग्राम प्रोटीन और ४०० ग्राम कार्बोहाइड्रेट हो। तथा शुद्ध दूध से तैयार किया हुआ स्नेह (मक्खन, चीज) भी १०० ग्राम हो। यदि कामला उपस्थित हो तो वसा केवल ५० ग्राम दी जाय। इससे केलोरी मूल्य जो कम हो जायगा वह प्रोटीन और कार्बोहाइड्रेट की मात्रा बढा कर पूरा कर दिया जाय। यह उच्च केलोरी आहार है तथा उच्च प्रोटीन आहार भी है। दूध अत्युत्तम आहार है। यही आहार का आधार होना चाहिये। अन्य उपयुक्त पदार्थ भी स्वादिष्ट बना कर दिये जायँ। किन्तु यकृत् की कर्मठता के ह्रास होने पर प्रोटीन कम कर दी जायँ। यदि यकृत् इतनी प्रोटीन का निर्विषीकरण नहीं कर पायगा तो उससे अमोनिया विषायणता (ammonia poisoning) होने का भय है। इस कारण मनोविभ्रम, विचारने की अशक्ति, अचेतना आदि मानसिक लक्षण उत्पन्न होते ही प्रोटीन घटा कर ४० या ५०ग्राम कर दी जाय और कार्बोहाइड्रेट की मात्रा बढा दी जाय। आहार में सोडियम की मात्रा कम होनी चाहिये। विशेष कर यदि शरीर पर शोफ है या जलोदर भी है तो सोडियम को जितना भी कम किया जा सके उत्तम है। केसिलान (casilan) नामक एक प्रोटीन का योग बाजार में बिकता है जिसमें प्रोटीन को लवणों से मुक्त कर दिया गया है। इसे ५० ग्राम या अधिक नित्यप्रति रोगी को जल में या दूध में मिलाकर देने से लवणयुक्त प्रोटीन की मात्रा और भी बढाई जा सकती है।

साथ ही विटामिनों को प्रचुर मात्रायें देना भी आवश्यक है। यीस्ट (yeast) में सब ही बी विटामिनों का बाहुल्य है। सामान्य खमीर उठाने वाला यीस्ट जिसको Brewer's yeast कहते हैं उसको ½ से १ औंस प्रतिदिन आहार के साथ दिया जाय। यदि यह रोगी को रुचिकर न हो तो बिप्लैक्स (Beplex) आदि विटामिन बी जटिल की कितनी ही कम्पनियों की टिकियाँ बाजार में बिकती हैं। २ से ४ टिकियाँ बिप्लैक्स और ५ मि. ग्राम एन्यूरीन या थियामिन हाइड्रोक्लोराइड नित्य दिये जायँ। मानसिक लक्षणों की उपस्थिति में अथवा बहुनाड़ी शोथ (polyneuritis) में १०० मि. ग्राम एन्यूरिन और ३०० मि. ग्राम निकोटिनेमाइड अन्तर्पेशी इन्जेक्शन द्वारा नित्यप्रति दिये जायँ। ५ मि. लि यकृत् सत्व (crude liver extract) भी नित्य इसी मार्ग से देना उचित है। अन्य विटामिन राइबोफ्लेविन, और कोलीन तथा गन्धकयुक्त प्रोटीन सिस्टीन और मिथियोनाइन उच्च प्रोटीन आहार के साथ जो गत पृष्ठ में बताया गया है मिल जाते हैं। तो भी ५ मि. ग्राम राइबोफ्लेवीन (विटामिन बी$_2$) की टिकिया नित्यप्रति खिलाई जाय। सिस्टीन और मिथियोनाइन वसा प्रेरक अर्थात् वसा को यकृत् से निकालने वाली

प्रोटीन हैं। अतएव उनका उपयोग यकृत् के वसा अन्तःसरण की अवस्था में विशेष लाभदायक है। तन्तु निर्माण पर उनका प्रभाव नहीं होता। दूध में ये वस्तुये शरीर में पहुँच जाती हैं। इस कारण इनको ऊपर से नहीं दिया जाता। सायनोकोवलएमीन (विटामिन वी. १२) भी वसाप्रेरक है। इसके १०० माइक्रोग्राम प्रतिदिन देना भी उपयोगी हो सकता है।

यकृत् कर्म के ह्रास की दशा में विटामिन ए. ५००० मात्रक और विटा. डी ८०० से १००० मात्रक प्रतिदिन एक दो वार देना उपयोगी है।

विशेप दशायें—१. जलोदर तथा शोफ—इन दोनों दशाओं का कारण प्रतिहारी संवहन (portal circulation) का अवरोध, रक्त में प्रोटीन की न्यूनता (hypoproteinaemia) तथा सोडियम का शरीर में संचय होता है। अतएव निम्नलिखित उपाय अभीष्ट हैं :—

अ. सोडियमन्यून आहार—आहार मे सोडियम की मात्रा ०·५ ग्राम प्रतिदिन से अधिक न हो। प्रायः ऐसा आहार स्वादिष्ट नही होता। इस कारण वहुत से आधुनिक चिकित्सक (विशेष कर अमरीका के) सोडियम को इतना घटाने के पक्ष मे नहीं हैं। वे २ या ३ ग्राम तक सोडियम युक्त आहार देने में सहमत हैं। किन्तु इसका निर्णय रोगी की दशा के अनुसार करना चाहिये। यदि रोग वढ़ चुका है तो ०·५ ग्राम से अधिक सोडियमयुक्त आहार रोगी को तव तक न दिया जाय जव तक उसकी दशा न सुधर जाय। दशा उन्नत होने पर मात्रा वढ़ाई जा सकती है। केसिलान का ऊपर उल्लेख किया गया है। ६० ग्राम केसिलान प्रतिदिन तथा आवश्यक मात्रा मे दूध देने से रोगी को इच्छित मात्रा में प्रोटीन पहुँच जाती हैं और उससे रोगी की दशा में शीघ्र ही सुधार होता है। छः मास तक सोडियम की मात्रा न वढ़ाई जाय।

क. मर्सीलिल (mersalyl) २ मि. लि. सप्ताह मे इन्जेक्शन (अन्तःपेशी) द्वारा और १ ग्राम ऐमोनियमक्लोराइड की टिकिया दिन में तीन वार मुंह द्वारा दी जायँ।

च. क्लोरोथियेज़ाइड (डाइयूरिल, Diuril) २५० से ५०० मि. ग्रा. अथवा हाइड्रोक्लोरोथियेज़ाइड (हाइड्रोडाइयूरिल, Hydrodiuril) २५ से ५० मि. ग्रा. दिन में दो या तीन वार खिलाने से सोडियम पुटासियम तथा क्लोराइड का शरीर से मूत्र द्वारा त्याग विशेषतया वढ़ जाता है।

त. उपर्युक्त योगों के साथ स्पाइरोनोलेक्टोन (एल्डेक्टोन, Aldactone) १०० मि. ग्रा. दिन में तीन वार खिलाने से पुटासियम का त्याग रुक जाता है। किन्तु सोडियम के त्याग मे वाधा नहीं पड़ती।

८.—द्रव के अत्यधिक हो जाने पर यदि रोगी को विशेष असुविधा हो तो उदर भेदन (paracentesis abdominis) द्वारा द्रव को निकालना आवश्यक है ।

२. अमोनिया विषायगता तथा संमूर्च्छा—प्रोटीन की अधिकता से अमोनिया के यकृत् द्वारा नष्ट न होने के कारण उच्च प्रोटीन आहार से इस दशा का डर सदा बना रहता है। मानस विभ्रम, विचार शक्ति का नाश तथा संमूर्च्छा इसके विशेष लक्षण हैं। आन्त्र के जीवाणु प्रोटीन से अमोनिया को उत्पन्न करते हैं। उसी के कारण यह दशा पहुँचती है।

चिकित्सा—प्रोटीन को घटा देना या कुछ दिनों के लिये बन्द कर देना उचित है। रोगी को शिराद्वारा पोषण पहुँचाया जाय। तथा आन्त्र की जीवाणु संख्या घटाने के लिये नियोमाइसिन सल्फेट ०·५ से १ ग्राम छै छै घंटे पर ५ से ७ दिन तक दिया जाय। बेचैनी या निद्रानाश के लिये सोडियम फिनोबार्बिटाल ०·१३ ग्राम (२ ग्रेन) अन्तर्पेशी मार्ग से या क्लोरल हाइड्रेट ०·२५ से ०·५ ग्राम तक गुदा द्वारा दिये जा सकते हैं। यदि जीवाणुओं के शरीर में प्रसार का सन्देह हो तो दीर्घोपयोगी प्रतिजीवियो का उपयोग किया जाय।

३. रक्तक्षीणता—अतिवर्णी (Hyperchromic) और न्यूनवर्णी (hypochromic) दो प्रकार की हो सकती है। अतिवर्णी के लिये यकृत् सत्व १-२ मि. लि. सप्ताह में दो बार दिया जाय। आवश्यक होने पर रुधिराधान किये जाँय। न्यूनवर्णी रक्तक्षीणता की चिकित्सा लोह के किसी योग से की जाय। (फैरस सल्फेट २-३ ग्राम की आन्त्रघुल्य टिकियाँ दिन में तीन बार दी जाँय।

४. रक्तस्राव—की प्रवृत्ति के लिये के. विटामिन के इन्जैक्शन उपयोगी हैं। किन्तु कोशिकाओं की अधिक क्षति होने पर उससे लाभ नहीं होता। इस कारण रुधिराधान ही से यह प्रवृत्ति रुकती है। कई बार अल्प मात्रा मे रक्ताधान आवश्यक होते हैं। मिनाडियोन (menadione) १ से ३ मिलीग्राम दिन में तीन बार देने से लाभ हो सकता है। अवरोधक कामला भी यदि हो तो यकृत् लवण भी देना आवश्यक है।

ग्रासनाल की परिविस्तृत शिराओं से और कभी कभी आमाशय की ऐसी ही शिराओं से भी रक्तवमन द्वारा बहुत रक्त की हानि हो सकती है। इन दशाओं के लिये शल्य क्रियाओं का विधान किया गया है। किन्तु रोगी की ऐसी विषम दशा में आपरेशन भी भय से मुक्त नहीं है। ये वृहद् कर्म होते हैं और प्रायः रोगी उनको सहन नहीं कर पाते। इस रक्तस्राव को अन्य विधियों

से रोकने का प्रयत्न किया गया है। इसके लिये सांग्सटाकिन (sangstaken tube) रक्त नलिका बहुत उपयुक्त है। यह एक लम्बी रबड़ की नलिका होती है जो आमाशय तक पहुँच जाती है। इसमे एक गोल वेलून आमाशय के भीतर रहने वाले भाग पर और दूसरा वर्तुलाकार बैलून ग्रासनाल मे रहने वाले भाग पर लगा होता है। नलिका के बाहरी सिरे से वायु भर कर इन बैलूनो के फूलने से शिराओं को दबा कर रक्तस्राव बन्द कर देते हैं। यह नलिका बहुत उपयोगी पाई गई है।

अन्य प्रकार की यकृत् की सिरोसिस

१. गलनोत्तर सिरोसिस (post necrotic cirrhosis)—पहले यकृत् में कोशिकाओं का गलन होता है और उसके पश्चात् आरोहण होने पर क्षताक (scars) बन जाते हैं। जितने विस्तृत गलन क्षेत्र होंगे उतनी ही क्षताकता (scarring) अधिक होगी अर्थात् तान्तव ऊतक उतना ही अधिक होगा। संक्रामक यकृत शोथ, जिसका गत पृष्ठों मे वर्णन किया गया है उसमें तथा फास्फोरस, कार्बनटैट्राक्लोराइड आदि विषों के प्रभाव के सामूहिक या क्षेत्र गलन (massive necrosis) के पश्चात् ऐसा ही होता है।

लक्षण—जिस विस्तृत सिरोसिस का वर्णन किया जा चुका है उसी के समान लक्षण होते हैं। छोटी आयुवालों में भी यह रोग पाया जाता है। प्राय: यकृत्शोथ कई बार होने का इतिहास मिलता है। कामला, पेट मे दर्द, रक्तवमन तथा जलोदर उपस्थित हो सकते हैं।

चिकित्सा विस्तृत सिरोसिस के समान है।

२. अवरोधक पैत्तिक सिरोसिस (obstructive biliary cirrhosis) यह प्राय: सामान्य पित्तवाहिनी में अश्मरी, अग्न्याशय के शिर के कैंसर या वाहिनी के मुख के चारो ओर ग्रहणी या अग्न्याशय शिर मे व्रणों के पश्चात तान्तव ऊतक या क्षताक बन जाने के कारण अवरोध और उसके पश्चात संक्रमण से उत्पन्न होता है। इसमे यकृत् छोटा हो जाता है। यकृत् के भीतर पित्तनलिकाये प्रसरित हो जाती हैं और उनके चारों ओर तान्तव ऊतक बन जाता है। यह विकृति केवल एक या अधिक खण्डिकाओं में उपस्थित हो सकती है। यकृत् के बाहर पित्तवाहिनी मे अश्मरी उपस्थित हो सकती है।

कामला इसका प्रधान लक्षण है। त्वचा का वर्ण पीला होता है। नेत्रों के श्वेत भाग भी पीले होते हैं। मूत्र में पित्त लवण उपस्थित होते हैं। रक्त में वानडेनबर्घ प्रतिक्रिया धनात्मक होती है। मल मे पित्त नहीं होता।

इससे दस्त श्वेत या मटमैले रंग के अत्यन्त वसामय होते हैं। पित्ताशय परिवर्धित मिलता है।

यदि अवरोध दूर नही किया जाता तो यकृत् को कुछ समय में बहुत क्षति पहुँच जाती है।

इसकी मुख्य चिकित्सा अवरोध को दूर करना है जो उदर के शस्त्र कर्म द्वारा किया जाता है।

३. पित्तवाहिनियों के शोथ से उत्पन्न सिरोसिस (Cholangiolitic cirrhosis)—क्षुद्र पित्तवाहिनियों में शोथ होकर यकृत् कोषाणु भी आक्रान्त हो जाते हैं और तान्तव ऊतक बन जाता है। इसमें यकृत् का आकार बढ जाता है किन्तु उसका पृष्ठ सम और चिकना होता है। बड़ी पित्तवाहिकायें भी पूर्ववत् रहती हैं। यह रोग बहुत कम होता है। उसके लक्षण भी यकृत् अकर्मण्यता के होते हैं। अरुचि, जी मिचलाना, वमन, पेट में दर्द, अतिसार के आक्रमण तथा कामला, खुजली ये ही लक्षण होते हैं। यकृत् पर्शुकाओं से ४ इंच नीचे तक बढ जाता है। जलोदर नहीं होता। रक्त परीक्षा से रक्त क्षीणता एवं श्वेताणु वृद्धि मिलती है।

चिकित्सा—विस्तृत सिरोसिस के समान है।

४. पराश्रयी जन्य सिरोसिस (Parasitic cirrhosis) यकृत् में कुछ छोटे छोटे पराश्रयियों के पहुँच जाने से उसमें तान्तव ऊतक बन जाता है। बिलहार्जिया मैन्सोनाई (Bilharzia mansoni) और फैसिओला हिपेटिका (*fasciola hepatica*) विशेष कर ऐसे पराश्रयी हैं। अंतिम पराश्रयी को यकृत् कृमि या लिवर फ्लूक भी कहते हैं।

५. सिफिलिसजन्य सिरोसिस (syphilitic cirrhosis)—जन्मजात सिफिलिस में नवजात शिशुओं के यकृत् में खण्डिकाओं के चारों ओर तन्तु निर्माण मिलता है। उपलब्ध या जन्मोत्तर सिफिलिस (aquired syphilis) में यकृत् मे गमा (gumma) बन जाते हैं जिनकी संख्या एक से अधिक हो सकती है। कभी कभी बड़े आकार का एक ही गमा बनता है। गमा के आरोहण पर तान्तव ऊतक का एक पिंड बन सकता है।

४. वर्णकी द्वारा उत्पन्न सिरोसिस (Pigmentary cirrhosis)—(१) लोह के एकत्र होने से इस रोग को हीमो क्रौमेटोसिस (Haemochromatosis) कहते हैं। यह वास्तव में चयापचय (metabolism) संबंधी रोग है जिसमे लोह का चयापचय जन्म ही से बिगड़ा रहता है। शरीर के सब भागों मे लोह के कण एकत्र होते हैं। जब इनकी मात्रा एक सीमा से बढ़ जाती है तो लक्षण उत्पन्न होते हैं। रोगी प्रथम त्वचा के वर्ण में

परिवर्तन देखता है। वह कृष्ण वर्ण होता चला जाता है। साथ में मधुमेह (डायबिटीज़) के लक्षण प्यास, शरीरक्षय, दुर्बलता, अतिमूत्रता (polyuria) होते हैं। इसका कारण अग्न्याशय का तन्तुवन (fibrosis) होता है। जिससे उसकी कोशिकाओं का नाश हो जाता है। यकृत् सिरोसिस के लक्षण भी उपस्थित होते हैं। यकृत् वढा हुआ मिल सकता हे। लोह के कण शरीर के प्रायः सब ही अंगों में एकत्र मिलते हैं। विशेष कर यकृत् अग्न्याशय और हृदय मे अधिक होते हैं। त्वचा में उनके एकत्र होने से वर्ण काला हो जाता है।

यह रोग ४० वर्ष के पश्चात पुरुषों में अधिक होता है। इस रोग की कोई विशिष्ट चिकित्सा नहीं है। यकृत् की सिरोसिस और मधुमेह की मिली हुई चिकित्सा की जाती है। शरीर में रक्त का संचय कम करने के लिये शिरावेध के द्वारा रक्त की कुछ मात्रा समय समय पर निकालने की विधि का उपयोग किया गया है जिससे रक्त में लोह की मात्रा कम होने से वह अंगो या ऊतकों से रक्त मे खिंच आवे। किन्तु इस आयोजन से भी रोग के क्रम मे विशेष अन्तर नही पड़ता। वृद्धों और बालकों को इस विधि से भारी हानि पहुॅच सकती है। इसका उपयोग केवल स्वस्थ युवक व्यक्तियों मे करना चहिये जिनमें रोग तीव्र गति से बढ़ रहा हो।

आहार मे लोह युक्त पदार्थ जितने कम किये जा सके उतना उत्तम है।

(२) ताम्र (copper) के एकत्र होने से। यह भी चयापचय का विकार है। यकृत् मे ताम्र के कण एकत्र हो जाते हैं। रक्त मे एक प्रोटीन के साथ ताम्र के कण संयुक्त रहते हैं। इस दशा मे रक्त से इस प्रोटीन का लोप हो जाता है, रक्त में वह मिलती ही नही। कदाचित् यह जन्मजात दशा है। इस कारण ताम्रकण यकृत् मे एकत्र हो जाते हैं। आन्त्र द्वारा ताम्र का अवशोषण भी बढ़ जाता है। ताम्रकणों के एकत्र होने से लोह कणों की भाँति यकृत् मे तान्तव ऊतक निर्माण होने लगता है।

यह रोग पारिवारिक है। बच्चों और युवकों में अधिक होता है। इसके लक्षण अधिकतर नाड़ीतन्त्र सम्बन्धी होते हैं, यद्यपि कुछ मे यकृत सिरोसिस के लक्षण जलोदर, शिरावृद्धि, यकृत् वृद्धि आदि भी मिलते हैं। नाड़ी तंत्र सम्बन्धी लक्षणो में मुख की आकृति में परिवर्तन, हाथों, पावों का कम्पन, अगों की गतियो मे असाम्यता तथा असहयोगिता, बोलने में कठिनाई, शब्दों को मिलाकर भाव प्रकट करने की असमर्थता आदि विशेष हे। नेत्र की कार्निया की परिधि के पास हरे रंग के कणों का एकत्र होना इस रोग का विशेष लक्षण बताया गया है।

रोग का निश्चय मूत्र तथा रक्त मे उपस्थित ताम्र की मात्रा से होता है। रासायनिक परीक्षाओं से यह ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

इसकी चिकित्सा सन्तोषजनक नहीं हैं। तो भी कुछ रोगियों में ताम्र का शरीर से उत्सर्ग बढाने वाले योगों को देने से लाभ होता है। BAL (डाईमरकैप्रोल) तथा पेनिसिलेमीन ऐसी ही ओषधियाँ हे।

कामला (Jaundice)

इस रोग मे व्यक्ति की त्वचा पीतवर्ण हो जाती है। नेत्रों के श्वेत भाग भी पीले हो जाते हैं। मूत्र का रंग भी गहरा पीला हो जाता है। साधारणतया इसको पीलिया रोग कहते हैं।

इसका कारण पित्त वर्णक का रक्त मे व्याप्त होना और उसके द्वारा त्वचा तथा अन्य ऊतकों में पहुँच कर वहाँ एकत्र होना है। न केवल त्वचा या नेत्र श्लेष्मला मे किन्तु मासपेशियों में भी पित्त वर्णक जमा हो जाते हे।

यह पित्तवर्णक (बिलिर्यूबिन) रक्त की लाल कणिकाओं के नष्ट होने पर मुक्त हुई हीमोग्लोबिन से बनता हैं। इसी बिलिर्यूबिन से बिलिवर्डिन (पित्त का दूसरा रंजक) बनता है। इसी का एक योग आन्त्र में पहुँचकर स्टर्कोबाइलिनोजन और उससे स्टर्कोबाइलिन बनाता हे जो मल में रंग और गन्ध का कारण होता है। मूत्र का यूरोबाइलिनोजन और यूरोबाइलिन भी इसी से बनते हैं।

इस प्रकार साधारणतया पित्तरंजक बिलिर्यूबिन पित्त के साथ पित्तवाही नलिकाओं में होता हुआ आन्त्र मे पहुँचकर उसका कुछ भाग मल के साथ निकल जाता है। उसका एक भाग फिर अवशोषित होकर रक्त द्वारा वृक्क मे पहुँच कर यूरोबाइलिन के रूप मे शरीर का त्याग करता है। और कुछ भाग फिर यकृत् में पहुँच कर उसकी कोशिकाओं को उत्तेजना देता है और उनसे नये पित्त वर्णक और लवण बनवाता है।

जब पित्तनलिकाओं (प्राय: सामान्य पित्त नलिका) मे कोई अवरोध उत्पन्न हो जाता है और पित्त आन्त्र में नहीं जा पाता तो उसका शरीर से त्याग बन्द हो जाता है और रक्त में अवशोषित हो कर उसके वर्णकों के त्वचा तथा अन्य अंगों में एकत्र होने से कामला रोग उत्पन्न हो जाता है।

जब यकृत् कोशिकाये क्षत हो कर अकर्मण्य हो जाती ह तो चे रक्त से वर्णकों का अवशोषण नहीं करतीं और वे रक्त ही में रह कर कामला उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रकार भी रोग उत्पन्न होता है।

कामला तीन प्रकार की बताई गई है। १. अवरोधक (obstructive), २. संक्रामी तथा विषाक्तिक और त्रुटिज और ३. रक्तलायी।

अवरोधक (obstructive jaundice)

इस प्रकार की कामला का सब से सामान्य कारण सामान्य पित्तनलिका

(common bile duct) में पित्ताश्मरी (gall stone) की उपस्थिति होती है जिससे पित्त ग्रहणी मे नहीं जा पाता और पित्तवर्णक विलिरयूविन तथा पित्त के अन्य घटक विस्तृत पित्तनलिकाओं तथा अणु नलिकाओं में रुक जाते हैं और वहाँ से रक्त में चले जाते हैं। पित्त नलिकाओं तथा अणुनलिकाओं में शोथ (cholangitis) जिसके साथ प्राय. पित्ताशय में भी शोथ होता है, अग्न्याशय के शिर के कैंसर, पित्ताशय तथा पित्तनलिकाओं के कैंसर, उसके कारण परिवर्धित लसीका ग्रन्थियाँ, पास का कोई अन्य अर्बुद जो पित्तनलिकाओं पर दबाव डालता हो ये सब दशाये अवरोधक कामला उत्पन्न कर सकती हैं।

लक्षण—कामला गाढी होती है। त्वचा और नेत्र श्लेष्मला पीले होते हैं। मल मट्टी के रंग जैसा होता है। उसमें वसा की मात्रा बहुत होती है। मूत्र में यूरोबाइलिनोजन के स्थान में विलिरयूबिन होता है। जी मिचलाना, मुँह में कसैला स्वाद, और रक्तस्राव की प्रवृत्ति हो सकती है। रक्तातंचन काल बढ़ जाता है।

यकृत् कर्म प्रारम्भ में सामान्य होते हैं। किन्तु आगे चल कर यकृत् क्षति के कारण उनका ह्रास हो जाता है। अन्त में यकृत् संमूर्च्छा हो कर मृत्यु तक हो सकती है।

२. संक्रामी, विषाक्तिक और त्रुटिज कामला (Hepato-cellular jaundice) जैसा नाम से स्पष्ट है इसके तीन विशेष कारण हैं :—

संक्रमण—यकृत्शोथ के वाइरस द्वारा संक्रमण इस रोग का प्रधान कारण होता है। टायफ़ाइड, निमोनिया, पीतज्वर, रक्त पूतिता (septicaemia) आदि संक्रामक रोगों से इस प्रकार की कामला हो सकती है।

विषैले पदार्थ—फास्फोरस, कार्बनटैट्राक्लोर, आर्सनिक के योग, क्लोरोफ़ार्म, विस्मथ, स्वर्ण, ट्राइनाइट्रोटोल्यून।

आहार त्रुटि—मिथियोनाइन, कोलीन तथा सिस्टीन की कमी तथा कोशिका गलन उत्पन्न होकर सिरोसिस के होने पर कामला प्रकट होती है।

लक्षण—यकृत् के भीतर पित्त अणुनलिकाओं तथा नलिकाओं में अवरोध की सीमा के अनुसार लक्षणों मे भिन्नता पाई जाती है। कामला नाम मात्र को या अत्यन्त गाढ़ी हो सकती है। जब तक यकृत् के भीतर अवरोध नहीं होता तब तक मूत्र मे विलिरयूबिन नहीं होती। यूरोबाइलिन मिलती है। मल का रंग सामान्य रहता है। रक्त में विलिरयूबिन की कुछ अधिकता हो जाती है।

यदि यकृत् कोशिकाओ की क्षति के साथ कुछ यकृताभ्यन्तर अवरोध भी उत्पन्न हो जाता है तो मूत्र में विलिरयूबिन भी आने लगती है और यूरोबाइलिन

भी होती है। रक्त में बिलिरूबिन की मात्रा बहुत बढ़ जाती है और मल भी पीला होता है। अवरोध के पूर्ण होने पर मल से यूरोबाइलिन तथा यूरोबाइलिनोजन का पूरा लोप हो जाता है। मूत्र में भी यूरोबाइलिनोजन नहीं रहती।

३. रक्तलायी कामला (Haemolytic jaundice)

इस प्रकार के रोग में रक्त का लयन होता है जिसमें लाल कणिकायें घुलने लगती हैं। इससे रक्त में बिलिरूबिन की मात्रा बढ जाती है। जितना लयन अधिक होता है उतनी ही बिलिरूबिन की मात्रा अधिक होती है।

रक्त लयन कई प्रकार के कारणों का परिणाम हो सकता है। रुधिराधान करने में आदाता और प्रदाता दोनों के रक्त की प्रतिकूलता से लाल कणों का लयन होता है। संक्रामक रोग जैसे मैलेरिया, कालाजार, रक्तपूतिता (रक्तस्रावी) कुछ विष या औषधियाँ जैसे सल्फोनेमाइड औषधियाँ तथा कुछ पराश्रयी जन्य विषों से लाल कणिकाओं का लयन हो जाता है। फिर स्वयं लाल कणिकाओं में कुछ जन्मजात ऐसा दोष होता है कि वे सहज में नष्ट हो जाती हैं।

लक्षण—किसी भी कारण से ऐसी रक्तलायी कामला हो, उसके दो विशेष चिह्न हैं। एक रक्त क्षीणता (anaemia) और दूसरे जालकरचनायुक्त श्वेताणुओं की वृद्धि (reticulocytosis)।

कामला अधिक नहीं होती। वह प्रच्छन्न हो सकती है। प्लीहा सदा परिवर्धित होती है। किन्तु रक्तक्षीणता की सीमा रक्तलयन की तीव्रता और अस्थिमज्जा के रक्तोत्पादन सामर्थ्य पर निर्भर करती है। मूत्र में बिलिरूबिन नहीं होती। किन्तु यूरोबाइलिनोजन बहुत होती है जो मूत्र को तनिक देर भी रखने से आक्सीजन के सम्पर्क से यूरोबाइलिन बन जाती है और इस कारण उसका रंग काला सा या गहरा भूरा हो जाता है।

यकृत् के कर्मों में कोई ह्रास नहीं होता।

नवजात शिशु में कामला

यह दो प्रकार की हो सकती है। एक सामान्य, दूसरी उग्र।

१. सामान्य या मृदु—यह प्रायः शिशु के जीवन के तीसरे दिन प्रकट होती है और २ या ३ सप्ताह तक रहती है। इसका कारण पित्त वर्णक बिलिरूबिन की अत्युत्पत्ति और शिशु के यकृत् की कोशिकाओं की बिलिरूबिन के उपयोग की असमर्थता होती है। जब कोशिकाओं मे सामर्थ्य आ जाता है तो दशा दूर हो जाती है।

२. उग्ररूप—इसके कारण पित्त वाहिनी की अश्मरी, यकृत की जन्मजात सिफिलिस तथा पित्तवाहिनी का न बनना हो सकते हैं। नाभि के संक्रमण कभी

कभी भयंकर रूप की रक्तस्रावी कामला उत्पन्न कर देते हैं। एक में मूत्र मार्ग से रक्तस्राव होता है। दूसरी में आन्त्र तथा आमाशय से रक्तस्राव होता है। इनसे भी भयंकर वह दशा होती है जो जन्मजात रक्तलायी कमला कहलाती है जिसका अगले पृष्ठो मे वर्णन किया गया है।

नवजात शिशु में रक्तलायी कामला

(Erythroblastosis Foetalis)

लोहिताणु (erythrocyte) रक्त की लाल कणिका को कहते हैं। उत्पत्ति काल में लाल कणिका को पूर्णता प्राप्त करने से पहिले की अवस्था मे वह लोहिताणुजन (erythroblast) कहलाता है। अतएव लोहिताणु जनन (erythroblastosis) वह दशा है जब अपूर्ण लाल कणिकाओं की उत्पत्ति अत्यधिक होने लगती है। जब रक्त में लाल कणिकाओं का नाश होने लगता है तो रक्तोत्पादक अंगों, लाल मज्जा, प्लीहा और यकृत् के अतिरिक्त वृक्क और अधिवृक्क आदि भी उनका उत्पादन करने लगते हैं जिससे कणिकाक्षति की पूर्ति हो जाय। शिशु में इस कणिकानाश का कारण शिशु के माता-पिता के रक्त में स्थित होता है। रक्त में एक अवयव होता है जो RH factor या अवयव कहा जाता है। किसी व्यक्ति में वह धनात्मक (positive) होता है किसी मे ऋणात्मक (negative) होता है। यदि माता पिता दोनों के रक्त मे वह समान हो तो सन्तान के रक्त मे कोई विकार नही होता। किन्तु यदि पिता RH धनात्मक है और माता RH ऋणात्मक है तो भ्रूण में पिता का RH धनात्मक अवयव आता है यद्यपि वह माता का अवयव भी ग्रहण कर सकता है। यह धनात्मक अवयव एक समूहनकजन (agglutinogen) है जो भ्रूण की लाल कणिकाओं में उपस्थित है। गर्भावस्था में भ्रूण की कुछ लाल कणिकाये माता के रक्त मे जाती रहती हैं। ऐसा होने से माता के रक्त मे (भ्रूण के समूहनकजन के कारण) प्रतिसमूहनक बनने लगेंगे। और जब ये प्रतिसमूहनक अपरा के द्वारा निकल कर भ्रूण के शरीर मे पहुँचेंगे तो समूहनकजन और प्रतिसमूहनक के मिलने से समूहन (agglutination) होने लगेगा। भ्रूण के रक्त की लाल कणिकाओं के समूह बन जायेंगे। उपर्युक्त रोग मे यही होता है। प्राय ऐसे माता पिता की प्रथम सन्तान को रोग नही होता। माता के रक्त में प्रतिसमूहनकों के पर्याप्त मात्रा में बनने में कुछ समय लग जाता है। इस कारण दूसरी और तीसरी सन्तानों मे इसका भय अधिक होता है।

रक्त समूह (blood groups) की भिन्नता भी कम से कम ५ प्रतिशत शिशुओं में रोग का कारण पाई जाती है। शिशु के रक्त मे प्रोथ्रोम्बिन की कमी भी रोग का कारण हो सकती है।

लक्षण—शिशु का वर्ण पीला और यकृत् बढा होता है। रक्तस्राव किसी भी अंग से, प्रायः मूत्र या मल द्वारा, होता है। आमाशय से भी हो सकता है।

चिकित्सा—शिशु के रोग का कारण स्वयं उसका रक्त है। उसको R. H. ऋणात्मक रक्त की आवश्यकता है। इस प्रकार रक्त दो विधियों से उसमे पहुँचाया जा सकता है। ५० से ७५ मि. लिटर O समूह का RH ऋणात्मक रक्त उसके शरीर मे अन्तर्शिरा या अन्तर्मज्जा (लम्बी अस्थियों या उरोऽस्थि की मज्जा मे) मार्ग द्वारा नित्यप्रति एक सप्ताह तक दिया जाय। दूसरी विधि रक्त को बदल देने की है। शिशु का कुछ रक्त निकाल दिया जाय और उसके स्थान मे O समूह का RH ऋणात्मक रक्त शिशु के शरीर में भर दिया जाय। यह इस प्रकार किया जाता हे कि एक पोलीथीन का केथीटर शिशु के नाल के कटे हुए सिरे से उसकी नाभिशिरा (umbilical vein) द्वारा भीतर प्रविष्ट कर दिया जाता है। केथिटर के बाहरी सिरे को एक त्रिमार्गी स्टापकाक (stop cock) द्वारा एक बीस या ५० मि. लि. की सिरिंज से जोड़ दिया जाता है। स्टापकाक के दूसरे मार्ग पर भी एक ऐसा ही केथीटर लगा कर उसको O समूह के RH ऋणात्मक रुधिर की बोतल से जोड़ दिया जाता है। तीसरे मार्ग के सामने एक खाली पात्र रख देते हैं या उसको एक खाली बोतल से जोड़ देते हैं जिससे सिरिंज से निकलने वाला रक्त खाली बोतल मे एकत्र होता रहे। शिशु की नाभि शिरा में प्रविष्ट केथिटर से स्टापकाक का पेच घुमा कर संबंध करके सिरिंज का पिस्टन खीचने से शिशु का रक्त सिरिंज में भर जाता है। तब स्टाप काक का संबंध खाली बोतल से कर के पिस्टन को दबाने से रक्त बोतल में आ जाता है। इसके पश्चात् पेच घुमा कर RH ऋणात्मक रुधिर की बोतल से संबंध करके पिस्टन को खींचने से रक्त सिरिंज मे आ जाता है। तब शिशु की नाभि शिरा के केथीटर से सिरिंज का संबंध कर के पिस्टन को दबाने से रक्त शिशु शरीर में पहुँच जाता है। बार बार इन क्रियाओं को दुहरा कर शिशु के शरीर से ४०० मि. लि. रक्त निकाला जाता हैं और ४०० मि. लि. RH ऋणात्मक O समूह वाला रक्त उसके शरीर मे प्रविष्ट कर दिया जाता है। यह क्रिया शिशु जन्म के पश्चात् प्रथम ६ से ९ घंटे के भीतर करनी चाहिए। शिशु के शरीर में लाल कणिकाओं को भेजना अभीष्ट है। इस लिये RH ऋणात्मक रुधिर से प्लाज्मा को इतना पृथक कर

दिया जाता है कि उस रक्त के १ मि. लि. में ६० लाख लाल कणिकाओं का सान्द्रण हो जाय।

इस कर्म मे बड़ी सावधानी आवश्यक है। विसंक्रमण पूर्ण हो। इसका विशेष ध्यान रहे कि यन्त्र मे तनिक भी वायु जाने का मार्ग न रहे।

प्रोथ्रोम्बिन की कमी होने पर विटामिन के. नित्यप्रति इन्जेक्शन द्वारा दिया जाय।

माता के दूध में समूहनक बहुत मात्रा में हो सकते ह। इस लिये शिशु को माता का दूध न दिया जाय।

यकृत् के अर्बुद

यकृत् में सामान्य (सुदम्य) तथा घातक (दुर्दम्य) दोनों प्रकार के अर्बुद हो सकते हैं।

सामान्य में ग्रन्थ्यर्बुद (adenoma) अधिक होता है और इतना बड़ा हो सकता है कि वह परिस्पर्श्य हो। रक्तार्बुद (angioma) भी होते हैं। किन्तु वे कोई लक्षण नही उत्पन्न करते जब तक कि फट नहीं जाते जिससे पर्युदर्या गुहा के भीतर रक्तस्राव के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

घातक अर्बुदों में कैंसर और सारकोमा दोनों हो सकते हैं।

कॅसर (carcinoma)

प्राथमिक (primary)—कैंसर जो पहिले यकृत् में उत्पन्न हों, असाधारण होते हैं। प्रायः पहिले से यकृत् में सिरोसिस होती है, उस पर अर्बुदोत्पत्ति होती है। यह मुख्यतया ४० वर्षों से ऊपर की आयु वाले पुरुषों मे होता है।

कई प्रकार के कैंसरों का उल्लेख किया गया है। यकृत् में एक ही बड़ा कैंसर पिंड हो जिससे यकृत् विस्तृत होकर स्पर्श्य हो जावे अथवा सारे यकृत् में कई छोटे छोटे पिंड बन जाँय। सारे या यकृत् के अधिक भाग में कैंसर कोशिकाओं का अन्त सरण हो जाय और सिरोसिस की भाति कार्सिनोमेटोसिस हो जाय यह दशा प्रायः सिरोसिस पर उत्पन्न होती है।

लक्षण—अनिश्चित होते हैं। पाचन विकार के मुख्य लक्षण होते हैं। दाहिनी ओर दर्द रहता है। दुर्बलता बढती जाती है। विशेष दो लक्षण हैं। एक ज्वर, १०० या १०१ तक हो जाता है, जिसका कोई कारण नहीं मालूम होता। दूसरे रोगी की तीव्र गति से बढती हुई क्षीणता। रोगी का ह्रास वेग से होता है। यदि रोगी को पहिले से सिरोसिस् हो और फिर उसको अज्ञात कारण से ज्वर रहने लगे तो उसको यकृत् के कैंन्सर होना प्रायः निश्चित समझना

चाहिये। रोगी का हाल पहिले से न मालूम होने पर अग्निमांद्य के लक्षणों के इतिहास तथा यकृत् क्षेत्र में पीड़ा से रोग का अनुमान सहज है। रोगी को न कामला होती है, न जलोदर होता है। पाँच छै मास में उसकी मृत्यु हो जाती है।

द्वितीयक—(secondary) कैंसर ही अधिक होता है। अन्य किसी अंग में कैंसर होने पर वहाँ से उसके विस्तार द्वारा जो अर्बुदोत्पत्ति होती है वह द्वितीयक कहलाती है। आमाशय के कैन्सर का यकृत् मे प्रसार होना अत्यन्त साधारण घटना है। उसके पश्चात् कोलन (बृहदान्त्र), मलाशय, स्तन, ग्रासनाल, पित्ताशय, अग्न्याशय, फुफ्फुस, गर्भाशय तथा अस्थियों से प्रसार होता है। प्रसार रुधिर प्रवाह तथा लसीका वाहिनियो (lymphatics) दोनों के द्वारा होता है। स्तन के प्राथमिक कैंसर का यकृत में प्रसार लसीका वाहिनियों द्वारा होता है।

लक्षण—यदि किसी अन्य अंग में रोग उपस्थित होता है और उस पर यकृत् की वृद्धि आदि लक्षण यकृत् विकार को इंगित करते हैं तो रोग पहिचानने में कठिनाई नहीं होती किन्तु ५० प्रतिशत रोगियों में प्राथमिक अर्बुद की स्थिति अज्ञात होती है और पहला लक्षण यकृत् में उदय होता है। रोगी प्राय: ४० वर्ष से अधिक आयु का होता है। पुरुषों की अपेक्षा रोग स्त्रियों मे अधिक होता है।

रोगी यकृत् क्षेत्र में, पीठ में या बाहुओं में पीड़ा प्रतीत करता है। उसको ज्वर आता है जिसका कोई क्रम नहीं होता। रक्त क्षीणता होती है। उदर बहुधा प्रसरित होता है किन्तु बाहु और टाँगे दुबली क्षीण होती हैं। उदर में यकृत् परिवर्धित होता है। और उसके पृष्ठ पर छोटी-छोटी उभरी गाठे-सी प्रतीत होती हैं जो उसके पृष्ठ को असम बना देती हैं। प्लीहा की वृद्धि नहीं होती। कामला भी नहीं होती। जब जलोदर होता है तो यकृत् प्रतीत नहीं होता द्रव को निकाल देने पर यकृत् में अर्बुदोत्पत्ति प्रतीत होती है। कुछ रोगियों मे यकृत् में पीड़ा नहीं होती कुछ में बहुत होती है।

चिकित्सा—रोग असाध्य है। केवल रोगी के कष्ट को कम करने के लिये लक्षणानुसार औषधि दी जाती है। पीड़ा दूर करने के लिये एस्पिरिन, फिनेसिटिन, कोडीन आदि मुँह द्वारा या पेथिडीन, मार्फिन इंजेक्शन द्वारा दी जा सकती है। इनकी उपयुक्त मात्रा दी जानी चाहिये जो पीड़ा दूर करने में कृतकार्य हो।

प्राथमिक सारकोमा बहुत असाधारण है। द्वितीयक सारकोमा अधिवृक्क, वक्षान्तराल (mediastinum) या अस्थि आदि से होते हैं।

अग्न्याशय के रोग

(Diseases of pancreas)

स्थिति और रचना—अग्न्याशय भी शरीर की एक विशेष महत्व की ग्रन्थि है। यह मटमैले रंग की दानेदार (जैसे शहतूत पर उठे होते हैं) ग्रन्थि उदर के ऊपरी भाग मे पृष्ठवंश के दाहिनी ओर स्थित ग्रहणी से लेकर बाईं ओर प्लीहा तक फैली हुई है और आमाशय तथा अनुप्रस्थ कोलन के पीछे स्थित है। ग्रहणी के वक्र में इसका बड़ा गोल शिर रहता है जहाँ से यह बाईं ओर को जाकर पुच्छ में अन्त हो जाती है जो प्लीहा के सम्पर्क में रहती है। सारी ग्रन्थि सीरीय कोशिका पुंजों (acinus) की बनी हुई जो एक प्रकार का स्राव बनाती है। यह **अग्न्याशय रस** कहलाता है और एक मोटी वाहिनी द्वारा एकत्र होकर एक छिद्र में होकर ग्रहणी में पहुँचता है। ग्रन्थि के प्रत्येक भाग से वाहिनी की शाखाये स्राव एकत्र करके उसमे पहुँचाती हैं और वह पुच्छ से आरंभ होकर सारी ग्रन्थि को पार करके उसके शिर के किनारे के पास पित्तवाहिका से मिल कर सामान्य पित्त वाहिका बन कर एक फूले हुवे भाग (ampulla of vator) द्वारा ग्रहणी मे खुल जाती है। इसमें प्लैहिक धमनी से रक्त आता है, जो महाधमनी की एक बड़ी शाखा है।

कर्म—इस ग्रन्थि का कर्म दो रसों को बनाना है; एक अग्नाशय रस और दूसरा इन्सुलिन (insulin)।

अग्न्याशय रस एक प्रबल पाचक रस है जिसमें तीन प्रकिण्व (enzyme) होते हैं। ट्रिप्सिन, एमाइलेज और लाइपेज। **ट्रिप्सिन**—प्रोटीन का पूर्ण पाचन कर के उसको अन्तिम तत्वों अमीनो अम्लों में तोड़ देती है। **एमाइलेज्ञ**—मैदा या स्टार्च का विभंजन करता है। **लाइपेज्ञ**—वसा को ग्लिसरोल और वसाम्लों में विभक्त करता है। ये तीनों प्रकिण्व एक ही प्रकार की कोशिकाओं द्वारा तैयार किये जाते हैं। **इन्सुलीन**—तैयार करने वाली पृथक् कोशिकाये हैं। इन कोशिकाओं के पुञ्ज विशेष कर ग्रन्थि के पुच्छ में और कुछ बीच के भाग में भी स्थित हैं। इनको लैंगरहन्स की द्वीपिकाएँ (islets of langerhans) कहते हैं। इन्सुलीन प्रकिण्व का विशेष कर्म कार्बोहाइड्रेट के चयापचय का सम्पादन है। यह शरीर को ग्लूकोज का उपयोग करने का सामर्थ्य देता है। इसके बिना या इसकी कमी से मांसपेशियाँ ग्लूकोज को अपने काम में नही ला सकती। इस कारण रक्त में ग्लूकोज एकत्र हो जाता है जो मधुमेह (डाइबिटीज़) का कारण

होता है। इन्सुलिन सीधा ग्रन्थि से रक्त में चला जाता है। वह ग्रन्थि से बाहर नहीं आता।

इस प्रकार यह ग्रन्थि आन्तरिक स्राव इंसुलीन और बहिःस्राव अग्न्याशय रस दोनों प्रकार के स्राव बनाती है। भोजन करने के पश्चात् जब आमाशय में पचे हुए आहार का आम्लिक आमपेष ग्रहणी श्लैष्मिक कला की कोशिकाओं के सम्पर्क में आता है तब उनमें सिक्रिटिन (secretin) नामक एक रासायनिक पदार्थ बनता है जो तुरन्त रक्त द्वारा अग्न्याशय की कोशिकाओं में पहुँच कर उनको रसस्राव करने की उत्तेजना देता है।

अग्न्याशय की अकर्मण्यता की जाँच

ग्रन्थि के जो कर्म ऊपर बताये गये हैं उनके ह्रास से ग्रन्थि की सक्रियता का ज्ञान किया जाता है।

१. लाइपेज़ की कमी से मल मे अविभक्त (सम्पूर्ण) वसा की मात्रा बहुत बढ़ जाती है। सामान्य १००–१२० ग्राम वसा के आहार से मल में ५ ग्राम से अधिक वसा नहीं आनी चाहिये। ग्रन्थि के रोगों मे वह १०० ग्राम तक पहुँच जाती है।

२. ट्रिप्सिन की कमी से मांस खिलाने पर पेशी के रेखांकित तन्तु मल में निकलने लगते हैं।

३. ग्रन्थि के उग्र शोथ में रक्त में तथा मूत्र मे भी एमाइलेज़ की मात्रा बढ़ जाती है जिसकी रासायनिक परीक्षा की जा सकती है।

इन्सुलीन का विचार मधुमेह के साथ किया जायगा।

उग्र अग्न्याशय शोथ

(Acute and subacute Pancreatis)

उग्र तथा अनुग्र (subacute) शोथ अग्न्याशय ग्रन्थि मे कर्णफेर, इन्फ्लुयेंजा, चेचक, यकृत्‌शोथ आदि रोगों में वाइरस या विष के रक्त द्वारा प्रसार से उत्पन्न हो जाते हैं। रोग प्रायः मृदु होता है और शीघ्र ही रोगी मुक्त हो जाता है। रोग उपर्युक्त रोगों के उपद्रव स्वरूप होता है। हलका ज्वर होता है। उदर के ऊपरी भाग में पर्शुका कोण में या बाईं पर्शुका चाप के नीचे पीड़ा होती है। कुछ पेशी-काठिन्य भी होता है। उदर मे बेचैनी प्रतीत होती है। किन्तु यह सब स्वयं और शीघ्र ही शान्त हो जाता है। रोगी स्वस्थ दीखता है।

उग्र रक्तस्रावी अग्न्याशय शोथ;

उग्र अग्न्याशय गलन

(Acute Haemorrhagic pancreatitis ; Acute pancreatic necrosis)

अग्न्याशय शोथ का यह रूप भयंकर होता है। इस रोग मे ग्रन्थि में उत्पन्न होने वाले ट्रिप्सिनोजन और स्ट्रिपासिनोजन (लाइपेज का पूर्व रूप) यहीं सक्रिय हो जाते हैं अर्थात् अपने पूर्व रूप से क्रियमाण रूप ट्रिप्सिन और लाइपेज में परिवर्तित हो जाते हैं। (आन्त्ररस के मिलने पर यह परिवर्तन होता है) ग्रहणी में यह परिवर्तन तृणाणुवों की क्रिया से हो सकता है। ग्रन्थि के क्षत हो जाने पर रक्तस्राव से भी यह परिवर्तन हो सकता है। इस परिवर्त्तन से सक्रिय हो जाने पर ये प्रकिण्व स्वयं ग्रन्थि ही को गलाना प्रारंभ कर देते हैं। उसका स्वतः लयन (autolysis) होने लगता है। स्वयं ग्रन्थि और पास की संरचनाओं पर्युदर्या आदि मे शोथ, गलन तथा रक्तस्राव होते हैं। वपा का गलन (Necrosis) हो जाता है। ग्रन्थि में तथा वपा, पर्युदर्या तथा आन्त्र सयोजनी मे भी श्वेत रंग के गलन क्षेत्र बन जाते हैं।

इस प्रकार स्वयं ग्रन्थि में उत्पन्न होने वाले प्रकिण्वों की क्रिया से ग्रन्थि वस्तु गलने लगती है और उसमे तथा पास की संरचनाओं मे कोटर बन कर रक्तस्राव युक्त द्रव भर जाता है। ऐसा द्रव पर्युदर्या गुहा तथा लघुवपाकोष (lesser Omentum sac) मे भरा मिल सकता है।

कारण—रोग प्राय ४० वर्ष से ऊपर के पुरुषो को होता है। पित्ताश्मरी, पित्तवाहिनियों का शोथ, कर्णफेर, चेचक, इन्फ्लुएन्जा आदि रोग इस रोग की उत्पत्ति मे सहायक माने जाते हैं।

रोग के कारण का अभी तक ठीक-ठीक पता नही चला है। संक्रमण भी इसका कारण नही मालूम होता। रोगग्रस्त भाग के संवर्धन से कोई तृणाणु नही उगे। पहले की यह धारणा कि सामान्य पित्तवाहिनी के मुख पर अश्मरी या शोथ आदि के अवरोध से पित्त अग्न्याशय वाहिनी में लौट आता है और उसमे प्रकिण्व सक्रिय होकर क्रियमाण रूप लेकर गलन या लायी क्रिया प्रारंभ कर देते है, अब असंगत मानकर त्याग दी गई है। पित्त प्रवाह के मुख पर अवरोध का कोई प्रमाण नही मिलता। हाँ एक बार गलनक्रिया प्रारंभ होने पर ग्रन्थि लयन का उग्र हो जाना ग्राह्य है। कुछ विद्वान् मानते हैं कि यह रोग अग्न्याशय धमनी की घनास्रता (thrombosis) का फल होता है।

लक्षण—रोग अकस्मात् प्रारंभ होता है। रोगी को उदर के ऊपरी भाग, दोनों ओर के पर्शुका चाप के बीच में या दाहिने चाप के नीचे तथा पीछे पीठ में दारुण शूल होता है। उसका जी मिचलाता है, वमन होता है, तथा गाढ़ स्तब्धता से अवपात (collapse) के से लक्षण प्रकट हो जाते हैं। नाड़ी तीव्र तथा क्षीण होती है। ताप अतिन्यून होता है, किन्तु पूयोत्पत्ति या कोथ (gangrene) होने पर बढ़ सकता है। पीड़ा बनी रहती है। और पीठ में दोनों स्कंधास्थियों के बीच में तथा नीचे दोनों ओर के श्रोणीफलक खातों में फैल सकती है। फिर सारे उदर में फैल जा सकती है। उदर के ऊपरी भाग में पेशीकाठिन्य हो जाता है।

उदर फूल जाता है। यद्यपि पहले उदर नरम होता है किन्तु आगे चल कर कड़ा, और स्पर्शासह्य हो जाता है। कोष्ठबद्धता पूर्ण होती है। पर वायु का निस्सरण होता रहता है। आन्त्र की गतियों की ध्वनि स्टेथिस्कोप द्वारा सुनाई नहीं देती। एक दो दिन में उदर त्वचा पर हरे या नीले से रंग के धब्बे बन जाते हैं, विशेष कर पार्श्व में और नाभि के चारों ओर।

रोग के निदान के लिये परीक्षा द्वारा रक्त में एमाइलेज़ की मात्रा मालूम करना आवश्यक है। उसकी मात्रा प्रत्येक १०० मि. लि. सीरम में ४०० मात्रक (unit) से भी अधिक हो जाती है। जब कि सामान्य दशा में ३० से ६० मात्रक होती है। इसी प्रकार मूत्र में भी वह १०–२५ मात्रक से बढ कर १०० मात्रक हो जाती है। किन्तु आगे चल कर मात्रा कम हो सकती है रोग के कम या मृदु होने के साथ। इस कारण रोग के प्रारम्भ होने पर प्रथम मूत्र की परीक्षा आवश्यक है।

रोग की पहिचान प्रायः कठिन होती है। यह भी एक उग्रोदर ही की दशा है। आमाशय या ग्रहणी के व्रणविदार तथा वद्धान्त्र के लिये कितनी ही बार उदर खोल दिया गया है। इन विदारों में भी सीरम में एमाइलेज़ की मात्रा बढ़ जाती है। २०० मि. ग्रा. तक हो सकती है। यूरीमिया मे १००० मि. ग्रा. तक पहुँच जाती है। किन्तु उसमें रक्त में यूरिया की मात्रा भी बढ जाती है। वृक्क अवपात (renal failure) के अन्य लक्षण भी मिलते हैं। रोगनिर्णय के लिये रोग के अन्य लक्षणों को भी सदा ध्यान में रखना चाहिये। रोगी की आयु, उदर के ऊपरी भाग में बार बार पीड़ा तथा वमन आदि के आक्रमणों का इतिहास, फिर अकस्मात् दारुण पीड़ा के सहित स्तब्धता या अवसाद के लक्षण, पैप्टिक व्रणों के इतिहास का न मिलना और उनके साथ सीरम एमाइलेज़ का अधिक होना रोग निर्णय में सहायक लक्षण हैं।

चिकित्सा—१. रोगी को शैयारूढ करके पूर्णविश्राम आवश्यक है।

२. स्तब्धता की चिकित्सा प्रथम कर्तव्य है। रुधिर या प्लाज्मा का आधान परमावश्यक है। २५०–५०० मि. लि. प्लाज्मा का पहली बार में तत्काल आधान कर दिया जाय। तत्पश्चात् शरीर की द्रवहानि या निर्जलीभवन का अनुमान करके उसके अनुसार प्लाज्मा का आधान किया जाय।

यदि प्लाज्मा न मिले तो सामान्य लवण विलयन का आधान करके द्रव-हानि को दूर करना आवश्यक है। इससे लवणों की कमी पूरी होती है। ५% ग्लूकोज़ विलयन लवण विलयन में मिला देना उत्तम है। प्लाज्मा देने पर भी समय समय पर लवण विलयन द्वारा लवणो की पूर्ति आवश्यक है। पोटासियम का भी ध्यान रखना चाहिये।

३. आमाशय तथा आन्त्र से भी स्रावों का निरन्तर चूषण (gastro intestinal suction) आवश्यक है जिससे आमाशय के आम्लिक स्राव ग्रहणी में पहुच कर अग्न्याशय में रसोत्पत्ति को न उत्तेजित करने पावे। इस क्रिया की विधि पहले बताई जा चुकी है।

४. पीड़ा अत्यधिक होती है। उसको दूर करने के लिये निम्न औषधियाँ उपयोगी है।

(अ) प्रोबैन्थीन ब्रोमाइड, ३० मि. ग्रा. प्रति छः घण्टे पर।

(क) मार्फीन १५ से २० मि. ग्रा. अधस्त्वक या अन्तर्शिरीय मार्ग से। कुछ विद्वान् मार्फीन के विरुद्ध हैं।

(य) पैथिडीन १०० मि. ग्राम।

(त) एट्रोपीन सल्फेट, ०·४–०·६ मि. ग्राम। ($\frac{1}{150}$–$\frac{1}{100}$ ग्रेन) अधस्त्वक इन्जेक्शन द्वारा। इससे अग्न्याशय की रसोत्पादक क्रिया भी कम होती है। साथ ही वागस् नाड़ी की क्रिया के अवरोध से आमाशय की क्रिया भी कम होती है।

(प) पीड़ा को तुरन्त कम करने के लिये ग्लिसीरिल ट्राइनाइट्राइट की टिकियाँ उपयोगी हैं। उसकी ०·५ मि. ग्रा. की दो टिकियाँ जिह्वा के नीचे रख कर घुलने दी जायँ या आधे घण्टे के अन्तर से दूसरी टिकिया रखी जाय। इससे संवरणी पेशी (ओडी की संवरणी) का आक्षेपक घटता है।

५. प्रतिजीवी औषधियों का प्रयोग अनिवार्य है। क्षत-अग्न्याशय को संक्रमण से बचाना आवश्यक है। चार लाख प्रोकेन-पेनिसिलिन नित्यप्रति दी जाय। या दो लाख प्रातः और सायं दी जा सकती है।

६. आहार—४८ घण्टे तक आहार तथा पेय रोक दिया जाय। केवल अन्तर्शिरीय मार्ग से लवणविलयन और ग्लूकोज दिये जायँ। ४८ घण्टे पश्चात्

दशा के उन्नत होने पर स्निग्ध, तरल तथा वसारहित आहार पेय रूप में दिया जाय। पेय आहार देने के समय चूषण को बन्द कर दिया जाय और ज्यों-ज्यों दशा उन्नत होती जाय त्यों त्यों उसको कम कर के अन्त में रोक दिया जाय।

७. कार्टीसोन तथा अन्य कार्टिकोस्टिराइड योगों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ चिकित्सकों ने उग्रदशा में उनके प्रयोग को लाभदायक पाया है। अन्य विद्वान् उनके प्रयोग के विरुद्ध हैं। अल्पमात्रा में प्रारम्भ में उपयोग करके उसके अनुभव के अनुसार मात्रा को बढाने या प्रयोग बन्द कर देने से हानि की सम्भावना नहीं है। यदि लाभ दिखलाई दे तो मात्रा बढाई जा सकती है।

जीर्ण अग्न्याशय शोथ
(Chronic Pancreatitis)

रोग जीर्ण प्रकार का होता है और बहुत बार उग्रशोथ के आक्रमण से रोगी के उबरने पर जीर्ण रूप में बना रहता है। इस प्रकार के रोग में ग्रन्थि में तान्तव ऊतक का विस्तृत निर्माण होता है जैसा सब ही जीर्ण शोथों में होता है। मृदु रूप के रोग के बारम्बार आक्रमणो का भी यही परिणाम होता है। पित्तवाहिनियों मे जीर्ण शोथ या अवरोध भी इस दशाको उत्पन्न करता है। ग्रहणी के व्रण के विस्तार से भी यह दशा उत्पन्न हो सकती है। इससे कोशिका पुञ्जों अथवा खण्डिकाओं (lobules) के बीच में अधिक तान्तव निर्माण होता है जिससे बहिःस्राव अर्थात् पाचकरसों का बनना घट जाता है। खण्डिकान्तर तन्तुवन का कारण प्रायः धमनीकाठिन्य (arteriosclerosis, जो वृद्धावस्था मे होती है), सिफिलिस तथा रक्तातिवर्णकता (हीमोक्रोमेटोसिस) रोग होते हैं जिससे कोशिकाओं का क्षय होता है और द्वीपिकाओं के आक्रान्त होने से मधुमेह भी हो जाता है। कैंसर तथा अश्मरी से रोग हो सकता है। खण्डिकान्तर प्रकार का रोग अधिकतर गन्थि के शिर में परिमित रहता है। किन्तु अन्तर्खंडी या अन्तर्कोषी प्रकार सारी ग्रन्थि में पुच्छ तक विस्तृत होता है। यह रोग पचास और साठ की आयु में पुरुषों में अधिक होता है। मदात्यय भी रोग की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है।

लक्षण—अग्न्याशय ग्रन्थि में तन्तुवन से कितना कोशिकाओं का नाश हुआ है, तन्तुवन की स्थिति तथा रसवाहिनी नलिकाओं तथा पित्तवाहिनियों के अवरोध के अनुसार रोग के लक्षणों मे भिन्नता पाई जाती है।

रोग दो प्रकार का होता है। (१) जीर्ण अन्तरालीय शोथ (Chronic interstitial pancreatitis) जिसमें खण्डिकाओं के

बीच मे तन्तु निर्माण होता है। इसके लक्षण उदर के ऊपरी भाग मे भारीपन या पीड़ा जो इसी क्षेत्र मे पीठ मे भी प्रतीत हो सकती है, पेट मे वायु भर जाना तथा बड़े बड़े अतिवसायुक्त चिकने दस्त होना, होते हैं। (२) दूसरे प्रकार का जीर्ण श्लेष्मलशोथ (chronic catarrhal pancreatitis) कहलाता है। इसमें उदर के ऊपरी भाग अधिकतर (epigastrium) प्रान्त में तथा पीठ के मध्यभाग में पीड़ा, जी मिचलाना तथा वमन और अतिसार जिसमें बड़े बड़े दस्त होते हैं। इन लक्षणों के आक्रमण होते रहते हैं। कभी कभी शीत भी लगता है। एक तीसरे प्रकार के रोग का भी उल्लेख मिलता है जो **पुनरावर्तक** कहलाता है जिसमें रोगी अन्तर्काल मे लक्षण रहित होता है।

परीक्षा करने पर अधिजठर प्रान्त स्पर्शासह्य होता है। नेत्र श्लेष्मला पीली होती है। वर्ण भी पीला होता है। कभी कभी गाढ़ा और स्थायी होता है। अर्थात् पूर्ण कामला होती है। जिन में ग्रन्थि के शिर में कैंसर, शोथ या तन्तुवन से सामान्य पित्तनलिका अवरुद्ध हो जाती है उनमें कामला विशेषतया सुव्यक्त होती है।

मल परीक्षा करने पर उनमें वसा बहुत होती है। देखने मे भी वे फूले हुए और छूने से अत्यधिक चिपकने वाले प्रतीत होते हैं। उनमें मांशपेशी सूत्र (अपाचित) भी उपस्थित हो सकते हैं। कुछ रोगियों में कामला के साथ यकृत् की भी वृद्धि हो जाती है। किन्तु पीड़ा नहीं होती। यह अवरोधक कामला की दशा होती है।

यह न भूलना चाहिये कि पित्ताशय तथा पित्तवाहिनियों के रोग से अग्न्याशय शोथ हो सकता है तथा अग्न्याशय के विकार से पित्ताशय या पित्तवाहिकायें रोगग्रस्त हो सकती हैं।

चिकित्सा के सिद्धान्तों का उग्रशोथ में दिग्दर्शन कराया जा चुका है। उन्हीं के अनुसार जीर्ण शोथ में भी चिकित्सा का आयोजन किया जाता है। रोग की कोई विशिष्ट चिकित्सा नहीं है। चिकित्सा के आयोजन के तीन आधार हैं.—

१. अवरोध यदि उपस्थित हो तो जहाँ सम्भव हो उसको शल्यक्रिया द्वारा दूर किया जाय।

२. **आहार**—यदि रोगी मद्य लेता हो, उसको बिलकुल बन्द किया जाय। वसा की मात्रा अत्यल्प कर दी जाय और थोड़ा भोजन अल्प कालान्तर से दिया जाय। वसा की कमी की पूर्ति कार्बोहाइड्रेट बढा कर की जाय। जितनी भी कार्बोहाइड्रेट् रोगी ले सके दिया जाय। प्रोटीन भी जितनी बढ़ाई जा सके उत्तम है। किन्तु आमाशय रस मे हाइड्रोक्लोरिक अम्ल और पेप्सिन की अनुपस्थिति (achyluria gastrica) की दशा मे तथा अग्न्याशय रस में ट्रिप्सिन की

कमी होने पर प्रोटीन को भी घटाना या बन्द करना पड़ेगा। ऐसी दशा में रोगी को प्रोटीन की दैनिक आवश्यक मात्रा का कम से कम आधा भाग पूर्व-पाचित प्रोटीन योगों के रूप मे दिया जाय। ऐसे कृत्रिम प्रकार से बनाये हुए योग प्रोटीन हाइड्रोलाइसेट के नाम से बाजार में बिकते हैं। ग्लूकोज की भाति शिरा-द्वारा देने के लिए भी ऐसे ही योग तैयार किये गये हैं।

३. विटामिनों को पूर्ण मात्रा में दिया जाय जैसा उग्र शोथ के सम्बन्ध में बताया गया है। विटामिन बी. जटिल की टिकिया तथा कैलसियम और विटामिन डी. भी दिये जायँ।

४. अग्न्याशय प्रकिण्वों की पूर्ति के लिये इन प्रकिण्वों के योगों को मुँह से खिलाया जाय। पार्कडेविस कम्पनी की पैंक्रियाटिन (अग्न्याशय सत्व) की टिकियाँ १ ग्राम की, जो पैन्टरिक टेब्लेट के नाम से बिकती हैं, दो दो टिकिया तीन बार या एक एक टिकिया आहार के साथ दिन मे छै बार दी जायँ। २४ घण्टे में ६ ग्राम पैंक्रियाटिन पहुँचना चाहिये। इसी कम्पनी की टाकाजाइम टिकियाँ कार्बोहाइड्रेट को पचाने वाली हैं। उनका उपयोग भी उपादेय है।

५. तीव्र दशाओं में रोगी को पीड़ा हो सकती है। पीड़ापहर औषधियों का उल्लेख किया जा चुका है।

अग्न्याशय की अश्मरी

(Pancreatic Calculus)

यह अग्न्याशय रस वाहिनियों में असाधारण है। तो भी कभी हो जाता है। ये अश्मरी कैलसियम लवणों की होती हैं। इस कारण ऐक्स-रे से दिखाई दे जाती हैं। बहुत बार इनके कोई लक्षण नहीं होते। कुछ रोगियों में शोथ के समान उदरशूल के से आक्रमण होते रहते हैं। शस्त्रकर्म द्वारा इनको जहाँ सम्भव हो निकाल दिया जाय।

अग्न्याशय की सिस्ट (ग्रटिका)

सिस्ट छोटी गांठों या कोष के समान होती हैं जिनमें प्रायः द्रव भरा होता है, यद्यपि कुछ सिस्टों में ठोस पदार्थ भी भरा रहता है। अग्न्याशय में तीन प्रकार की सिस्ट पाई जाती हैं। (१) संग्रह सिस्ट जो अग्न्याशये वाहिनी या उसकी किसी शाखा में अवरोध के कारण स्राव के रुक जाने से बन जाती है। चारों ओर उपकला का कोष बन जाता है और उसमें स्राव या द्रवित पदार्थ भी भर जाते हैं (२) असत्त सिस्ट—ये आघात से या अग्न्याशय के उग्र शोथ से रक्तस्राव के कारण वपा के लघुकोष में रक्त तथा स्राव आदि के एकत्र होंने से बनती हैं। (३) वर्धमान सिस्ट—ये वास्तव में अर्बुद होती

हैं जिनमे कई कोष या द्रवयुक्त विभाग हो जाते हैं। प्रायः उनसे कोई विकार नहीं उत्पन्न होते। इस कारण लक्षण भी नहीं होते जब तक कि उनका आकार बढ जाने से उनका किसी अंग पर अत्यधिक दबाव नहीं पड़ता।

उनको शस्त्र कर्म द्वारा निकाल दिया जाता है।

अग्न्याशय के अर्बुद

दो प्रकार के अर्बुद साधारण हैं। एक ग्रन्थ्यर्बुद–एडीनोमा जो लैंगरहैन्स द्वीपों से बनते हैं। और दूसरा कैंसर जो द्वीप पुंजिकाओं या खंडिकाओं की उपकला से उत्पन्न होते हैं।

ऐडीनोमा—ये ग्रन्थि के शरीर या पुच्छ मे होते हैं। इनका आकार छोटा होता है और प्रायः कई होते हैं इनसे इंसुलीन के आधिक्य के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं जिससे रक्त में ग्लूकोज की अतिन्यूनता हो जाती है।

कैंसर—ग्रन्थि के प्रायः शिर मे होता है और उससे सामान्य पित्तवाहिका के मुख के दबने तथा आक्रान्त होने से अवरोधजन्य लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। कामला होना, न होना, तीव्र या मृदु होना अवरोध की सीमा पर निर्भर करता है। पास की संरचनाये शीघ्र ही आक्रान्त हो जाती हैं। रोगी का क्षय तीव्र गति से होता है। शिर के कैंसर मे प्रायः ६ से ९ मास में मृत्यु हो जाती है। किन्तु ग्रन्थि के बीच के भाग, जो उसका काय कहलाता है, उसमें कैंसर की वृद्धि की गति धीमी होती है। दबाव का लक्षण कामला भी नही होता।

रोग का शरीरक्षय के अतिरिक्त कोई विशिष्ट लक्षण नही कहा जा सकता। क्षय अनेक रोगों में संभव है। पीड़ा भी विशेष नहीं होती। किन्तु निरन्तर धीमी पीड़ा बनी रहती है जो पीठ में भी फैल जाती है। पाचन विकार प्रायः बने रहते हैं। पेट में वायु, अरुचि, जी मिचलाना, कभी कभी वमन ये सामान्य जीव विषाक्तता के से लक्षण होते हैं। हलका ज्वर हो सकता है। हां, रोगी का क्षय द्रुत गति से होता है।

रोग की चिकित्सा अन्य अंगों के कैन्सर के समान शीघ्रातिशीघ्र उच्छेदन है।

पित्ताशय और पित्तवाहिनियों के रोग

(Diseases of Gall Bladder & Bile ducts)

रचनात्मक—पित्ताशय एक गहरे हरे रंग का थैला है जो यकृत् के लगभग मध्य में यकृत् द्वार (Porta Hepatis) पर लगा हुआ है और एक वाहिनी द्वारा यकृत् से संबंधित है। यकृत् में बना हुआ पित्त इस थैले में आकर एकत्र होता रहता है और यहा उसके जलीय अवयव के पित्ताशय द्वारा अवशोषित हो जाने के कारण उसकी सान्द्रता बढ़ जाती है। यकृत् मे

चौबीस घंटे मे लगभग १००० मिली लिटर पित्त बनता है। पित्ताशय ६००० मि० लि० पित्त का सान्द्रण कर सकता है।

आहार के पाचन के समय यकृत् मे बना हुआ पित्त पित्तनलिका (bile duct) के द्वारा ग्रहणी में पहुँचता रहता है जिसमें वह अग्न्याशय नलिका के साथ संयुक्त होकर सामान्य पित्तनलिका के रूप मे एक गुम्फित भाग (ampulla of vater) द्वारा खुलती है। इसके मुख पर एक संवरणी पेशी स्थित है जो ओडी की संवरणी (Sphincter of Oddi) कही जाती है। इसके संकोच से सामान्य पित्तवाहिनी का मुख बन्द हो जाता है। उसके ढीले हो जाने से खुल जाता है। उस समय यकृत् से आया हुआ पित्त ग्रहणी में प्रवेश करता है। जब आन्त्र में आहार नही होता और पाचन क्रिया बन्द रहती है तो पित्त यकृत् से आशयी वाहिनी (cystic duct) द्वारा पित्ताशय में जाकर वहां एकत्र होता रहता है।

ओडी की संवरणी के ढीला होने से सामान्य पित्तनलिका के मुख का खुलना एक विशेष क्रिया है जिस पर आहार का पाचन निर्भर करता है। यह क्रिया तब ही होती है जब क्षुद्रान्त्र के ऊपरी भाग में आमाशय से आया हुआ आमपेश उपस्थित होता है। यह माना जाता है कि आमपेश के ग्रहणी और मध्यान्त्र (Duodenum and Jejunum) की श्लेष्मल कला के सम्पर्क से वहाँ की कोशिकाओं मे कोलीसिस्टोकाइनिन (cholecystokinin) नामक एक हारमोन उत्पन्न होता है जो ओडी संवरणी को खुलने और पित्ताशय को सकोच करने की उत्तेजना देता है। फिर पित्ताशय और संवरणी पर नाड़ियों का भी अधिकार है। वागस (१० वी कपाली) नाड़ी को उत्तेजित करने से पित्ताशय संकोच करता है और संवरणी शिथिल हो जाती है। उसके विरुद्ध अनुकम्पी नाड़ीसूत्रों की उत्तेजना से संवरणी का संकोच होता है और पित्ताशय ढीला हो जाता है। हारमोन और नाड़ियों दोनों के प्रभाव से यह क्रिया होती मालूम होती है। आहार में जितनी स्नेह की मात्रा अधिक होती है उतनी ही यह क्रिया अधिक और वेग से होती है और उतना ही पित्त आन्त्र मे अधिक आता है।

एक और बात ध्यान देने योग्य है। पित्ताशय के रोगों में पीठ में वक्ष के निचले आधे भाग मे जहा ७ से १२वीं मेरु वक्षीय नाड़ियों का विवरण है उसी क्षेत्र में पीड़ा, स्पर्शासह्यता, तथा अतिसंवेदिता (hyperaesthesia) प्रतीत होती है। यह अन्तिम वह दशा है जहा तनिक सा छूने से बहुत प्रतीत हो, जलन या पीड़ा होने लगे। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि इन छः नाड़ियों के सूत्र कुक्षि गुच्छिका (coeliac plexus) मे जाते हैं। और

इसी गुच्छिका से पित्ताशय को अनुकम्पी सूत्र जाते हैं। इस प्रकार दोनों का संबन्ध हो जाने से उत्तेजनायें मेरु नाड़ियों में प्रतिवर्तित होकर उनके वितरण क्षेत्रों में संवेदन उत्पन्न करती हैं।

पित्ताशय की कर्मण्यता की जांच

पित्ताशय की दो ही बातों की जाच हो सकती है, एक पित्ताशय की संकोच क्रिया, दूसरे पित्त मार्गों का खुला होना, उनमें कोई अवरोध न होना।

एक्स-रे द्वारा जिसको कोलीसिस्टोग्राफी कहते हैं, उसके द्वारा यह जाच हो जाती है। उससे पित्ताशय की संकोच शक्ति का भी पता लग जाता है और यदि उसमें कोई अश्मरी होती हैं तो वे भी दिखाई दे जाती हैं।

रोगी को संध्या को हलका और स्नेहहीन (यथासंभव) आहार देने के दो तीन घंटे पश्चात् ८ बजे रात्रि को आयोडीन युक्त कोई योग जो कई नामों से बाज़ार में बिकते हैं, खिला दिया जाता है जो १४ घंटे में यकृत् द्वारा पित्त में पहुँच कर पित्ताशय में जाकर सान्द्रित हो जाता है। अतएव दूसरे दिन प्रातः काल १० बजे रोगी का एक एक्स रे चित्र लिया जाता है। वहाँ यदि अश्मरी होती है और पित्त मार्ग खुले होते हैं तो योग के पित्ताशय मे पहुँचने से चित्र में उसकी छाया आ जाती है। पित्ताशय में शोथ अथवा पित्ताशय मे आने वाली वाहिनी में अवरोध होने पर उसमें आयोडीन योग के न पहुँचने से उसकी छाया नही आती।

पहला चित्र लेने के पश्चात् रोगी को ½—१ औंस मक्खन या १ छटाक मलाई या क्रीम खिलाते हैं। उसके १ घंटे पश्चात् दूसरा चित्र लेते हैं। इससे संकुचित पित्ताशय की छाया दीखती है जिससे संकोच का अनुमान किया जा सकता है।

आयोडीन का एक ऐसा योग (बिलिग्राफिन) भी बनाया गया है जो यकृत् के भीतर की तथा उसके बाहर की पित्तनलिकाओं तथा अणुनलिकाओं और पित्ताशय मे पहुँच कर उन सबों को एक्स-किरणों के लिये अगम्य बना देता है। इससे उनकी छाया बन जाती है और यदि वाहिनियों में कोई अवरोध होता है तो वह भी दिखाई दे जाता है। यह चित्रण विधि cholangiography कही जाती है।

पित्ताशय के रोग

उग्र पित्ताशय शोथ

शोथ का कारण सदा तृणाणु होते हैं जिनमें बैक्टीरियम कोलाई, साल्मोनेला टाइफोसा, टायफाइड बैसिलस, स्ट्रिप्टोकोकाई तथा स्टेफिलोकोकाई मुख्य

होते हैं। न्यूमोकोकस, बैसिलस पायोसिनियस तथा अवायवी तृणाणु क्लौस्ट्रीडियम वैल्गियाई भी हो सकते हैं। ये तृणाणु पित्ताशय में रक्त वाहिनियों, पित्तवाहिनियों तथा लसीकावाहिनियों द्वारा आन्त्र तथा यकृत् से पहुँच सकते हैं। यह माना जाता है कि यद्यपि ये तृणाणु उग्र पित्ताशयशोथ को उत्पन्न करने वाले हैं किन्तु वे तभी अपना प्रभाव कर पाते हैं जब पहले से किसी अवरोधक कारण से पित्ताशय कुछ न कुछ क्षत हो चुकता है। टाइफाइड तथा पैराटाइफाइड ज्वरों के जीवाणुओं को पित्ताशय विशेष प्रिय स्थान मालूम होता है। उनको यहाँ पर निवास के लिये विशेष आकर्षण है। वे अवरोध न होने की दशा में भी यहा पहुँच जाते हैं।

रोग की अवस्था में शोथ की सब अवस्थायें—साधारण से शोथ से लेकर व्रणोत्पत्ति, पूयोत्पत्ति तक—पाई जाती हैं। कभी कभी पित्ताशय पूय से भरा हुवा तनाव युक्त गेंद के समान मिलता है। ऐसी दशा में पित्ताशय मं बहिर्गामी पित्तनलिका प्रायः पूर्णतया अवरुद्ध होती है। प्रायः पित्ताशय में अश्मरी उपस्थित होती हैं।

लक्षण—अधिकतर रोगी ४० और ६० वर्ष के बीच की स्थूल शरीर वाली स्त्रिया होती हैं जिनको पहिले भी ऐसे ही मृदु आक्रमण कई बार हो चुके होते हैं।

अकस्मात् पीड़ा का आक्रमण पहला लक्षण है। उदर में दाहिनी ओर यकृत् के नीचे पित्ताशय के प्रान्त में तीव्र निरन्तर पीड़ा होती है जो पीछे पीठ में या स्कंधफलकों के बीच में (५० प्रतिशत रोगियों में) फैल जाती है और कुछ में दाहिने स्कंध में भी प्रतीत होती है। जी मिचलाता तथा वमन भी होते हैं। अवसाद के से लक्षण हो सकते हैं। नाड़ी तीव्र तथा क्षीण हो सकती है।

परीक्षा करने पर दाहिनी ओर उदर में पित्ताशय की स्थिति सब से अधिक स्पर्शासह्य होती है। उस पर की सरला (rectus) पेशी कठिन हो जाती है, गति नहीं करती; और नीचे स्थित पित्ताशय की सुरक्षा करती है। कभी कभी शोथ से परिवर्धित पक्वाशय परिस्पर्श से प्रतीत हो जाता है।

अतितीव्र दशा में शरीर ताप न्यून हो जाता है। नहीं तो सामान्यतया १००–१०१° फे. रहता है। प्रायः कामला नहीं होती। यदि हो तो वह पित्त प्रवाह मे अवरोध की सूचक है।

रोग का क्रम तथा उपद्रव—पीड़ा अकस्मात शान्त हो सकती है जैसे वह प्रारंभ हुई थी। किन्तु पुनरावृत्ति साधारणतया नियम समझना चाहिये। पित्ताशय में पूयोत्पादन हो सकता है। उसका विदार होकर पर्युदर्या का स्थानिक शोथ हो सकता है जिससे रोग परिमित हो जायगा। अथवा सामान्य

पर्युदर्या शोथ (generalised peritonitis) हो सकता है जिससे रोगी को प्राणसंकट उपस्थित हो जाता है। मध्यच्छदा विद्रधि (sub-phrenic-abscess), अग्न्याशय शोथ तथा यकृतभ्यन्तर वाहिनियों का शोथ और उससे यकृत् शोथ भी हो सकता है। पित्ताशय कोथ (gangrene) तक संभव है।

रोग की पहिचान—साधारण दशाओं मे कठिन नहीं है। रोग का प्रारंभ, पीड़ा की स्थिति तथा वितरण, उग्रोदर की दशा ये सब रोग के द्योतक हैं। किन्तु अन्य उग्रोदर की दशाओं तथा उग्र हृद्रोगों से इसका विभेद अनेक बार आवश्यक होता है। रक्त में श्वेताणु वृद्धि मिलती है।

चिकित्सा—विद्वानो के अनुसार उग्र पित्ताशयशोथ अश्मरियों की अनुपस्थिति में असाधारण है। अत: अश्मरियों को निकालना आवश्यक है जो केवल शल्यकर्म द्वारा हो सकता है जिसको सहन करने के लिये रोगी उपयुक्त दशा में होना चाहिये। उग्र शोथ के आक्रमण के काल मे उसकी शारीरिक शक्तिया पहिले ही अवसन्न अवस्था में होती हैं। उसको गाढी स्तब्धता होती है। इस कारण वह आपरेशन सहन करने के योग्य नहीं होता। आपरेशन के लिये उपयुक्त समय वह है जब उग्र लक्षण शान्त हो चुके होते हैं, रोगी लक्षणों से रहित है, और स्वस्थ है।

किन्तु यदि उग्र शोथ बढता ही गया, पूय बनने लगी या कोथ हो गया तो तत्काल आपरेशन द्वारा ही रोगी की जीवनरक्षा संभव हो सकती है। उस समय रोगी जिस दशा में भी होगा उसका आपरेशन अनिवार्य हो जायगा। यह प्रश्न सर्जनों के लिये भी जटिल हो जाता है।

अतएव उत्तम यह है कि रोग के प्रारंभ होने पर उसका औषधोपचार और सामान्य उपचार करके रोग के शमन का प्रयत्न किया जाय। और साथ ही शारीरिक शक्तियो को बढ़ाने का प्रयत्न किया जाय, त्रुटियों को दूर किया जाय, विश्राम दिया जाय और रोगी का सावधानी से निरीक्षण करते रहा जाय। यदि उन्नति के लक्षण दिखाई दे तो वही उपचार जारी रखा जाय। यदि रोगी की दशा में अवनति मालूम हो, रोग के प्रसार के या बढने के कोई लक्षण मालूम हों तो रोगी का आपरेशन तत्काल कर दिया जाय। ४८ घंटे तक इस प्रकार प्रतीक्षा करने में कोई हानि नहीं है। इस समय मे स्तब्धता की दशा भी ठीक हो जायगी और रोगी के शारीरिक द्रवों की व्यवस्था होने से उसकी शारीरिक सहन शक्ति की भी उन्नति होगी।

अतएव प्रारम्भ मे उसका उन्हीं सिद्धान्तों पर उपचार करना चाहिये जो प्रत्येक उग्रदशा के संबंध में बताये जा चुके हैं। वे ये हैं:—

१. पूर्ण विश्राम।

२. पीड़ा अपहरण—इसके लिये तीन विशेष द्रव्य बताये गये हैं।

(अ) मार्फीन, १०–१६ मि. ग्राम। यदि पीड़ा अधिक हो तो १५ से ३० मि. ग्राम तक इन्जेक्शन द्वारा।

(क) पैथिडीन–१०० मि. ग्राम दो दो घंटे बाद दुहराई जा सकती है।

(च) एट्रोपीन ०·४ से ०·६ मि. ग्रा. आक्षेपक को दूर करने के लिये। मार्फीन के साथ दी जा सकती है।

(त) ग्लिसीरिल ट्राइनाइट्रेट की ०.५ ग्राम की टिकिया आध आध घंटे पर मुँह में जीभ के नीचे रखी जायँ। वे आक्षेपकहर हैं।

३. उदर पर पित्ताशय क्षेत्र में ऊष्मस्वेद।

४. शरीर के द्रवों की पुनः स्थापना, ग्लूकोज युक्त लवण विलयन के आधान द्वारा

५. प्रतिजीवियों का उपयोग—६ लाख प्रोकेन पेनिसिलिन प्रातः और सायं ६ या ७ दिन तक।

औरोमाइसिन या एक्रोमाइसिन की ० ५ ग्राम की कैप्स्थूल भी प्रति ६ घंटे पर ५ से ७ दिन तक दी जा सकती है।

सल्फा का भी प्रयोग किया जाता है।

६. आहार—अन्याशयशोथ के समान।

७. रोगी के रक्त में श्वेताणु वृद्धि दिन में दो बार देखी जाय। नाड़ी की प्रति दो घंटे पर गणना की जाय।

८. आवश्यक होने पर शस्त्र कर्म का आयोजन किया जाय।

जीर्ण पित्ताशय शोथ
(Chronic Cholecystitis)

यह पित्ताशय शोथ का जीर्ण रूप है जिसमें हलका शोथ बहुत समय तक रहता है। रोग का रूप मृदु होता है। पित्ताशय क्षेत्र में हलका हलका दर्द बना रहता है। ऐसे शोथ में २० प्रतिशत रोगियों में अश्मरिया पाई जाती हैं। कुछ विद्वानों का तो कहना है कि जीर्ण शोथ उत्पन्न ही अश्मरियो के कारण होता है जिनसे पित्ताशय की श्लेष्मल कला व्रणयुक्त तथा नष्टप्राय हो जाती है और उसकी पित्तलवणों के शोषण की शक्ति भी बहुत कम हो जाती है। कुछ अश्मरी रोग के ऐसे रोगी मिलते है जिनमे अश्मरियाँ होने पर भी शोथ नही होता। किन्तु उनकी संख्या अत्यल्प होती है।

जीर्ण शोथ से व्रणोत्पत्ति के पश्चात् श्लेष्मल कला में विस्तृत तन्तुवन होता है जिससे वह अकर्मण्य हो जाती है। इस कारण दो प्रकार के जीर्ण पित्ताशय शोथ का उल्लेख पाया जाता है। (१) जिसमें अश्मरियाँ उपस्थित नही होतीं। (२) जिसमे अश्मरियाँ होती हैं। उसको वास्तव में अश्मरी रोग ही समझना चाहिये।

जीर्ण पित्ताशय शोथ (अश्मरी विहीन)

इसका कारण वे ही तृणाणु होते हैं जिनका उग्रशोथ के संबंध में उल्लेख किया गया है। किन्तु उनकी प्रबलता बहुत कम होती है। इस कारण पित्ताशय की भित्तियों में अधिक तन्तुवन होने के कारण वे मोटी पड़ जाती हैं। सारा आशय परिवर्धित हो सकता है। यदि पित्त बहिर्गामी नलिका किसी अश्मरी से अवरुद्ध होती है तो पित्ताशय के भीतर पित्तस्राव के रुक जाने से वह प्रसरित हो जाता है और कुछ कामला भी हो जाती है।

लक्षण—रोगी को जीर्ण अग्निमांद्य के से लक्षण होते हैं। उदर के ऊपरी भाग मे विशेषकर भोजन के पश्चात् वायु एकत्र होकर पेट फूला हुआ प्रतीत होता है। डकारें आती हैं। जब तब वमन भी हो जाते हैं। बहुधा जी मिचलाता रहता है।

पित्ताशय के प्रान्त में जब तब पीड़ा के भी आक्रमण होते रहते हैं। जो पीठ में, स्कन्ध फलकों के बीच फैल जाता है तथा स्कन्ध में भी प्रतीत हो सकता है। वर्ण में कुछ पीलापन दिखाई देता है।

एक्स-रे परीक्षा से पित्ताशय अकर्मठ पाया जायगा। उसकी संकोच शक्ति घटी हुई मिलेगी। अश्मरियाँ यदि कैलसियम युक्त हैं तो उनकी छाया चित्र में बन जायगी। केवल कोलेस्टरोल की बनी अश्मरियों की छाया नहीं बनती क्योंकि एक्स किरणों के लिये वे पारगम्य होती हैं।

क्रम—इसी दशा का परिणाम उग्रशोथ हो सकता है। पित्ताशय शूल तथा अश्मरियाँ, अग्न्याशय शोथ, सन्धि शोथ तथा हृद्रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

चिकित्सा—प्रथम आवश्यकता शरीर को संक्रमण से मुक्त करने की है। शरीर में जहाँ भी संक्रमण केन्द्र मिले उसको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। मसूड़ों में पायरिया, दाँतों में खुड़रा, परिवर्धित लसीका ग्रन्थियां आदि को संक्रमण युक्त करना आवश्यक है। बहुधा उण्डुक भी शोथयुक्त होता है। यदि पित्ताशय भी अश्मरी या अश्मरियों और शोथ युक्त हो तो उण्डुक और पित्ताशय दोनों का उच्छेदन कर देना उचित है।

यदि पित्तवाहिनियों में संक्रमण के लक्षण उपस्थित हों तो प्रतिजीवी औषधियों तथा सल्फ़ा योगों के उपयोग द्वारा उचित उपचार किया जाय।

अश्मरियों युक्त पित्ताशय का शस्त्रकर्म द्वारा उच्छेदन करने के अतिरिक्त और कोई चिकित्सा का साधन नहीं है। कुछ ऐसे भी रोगी मिलते हैं जिनमे पित्ताशय में अश्मरियों के उपस्थित होने पर भी उनको कोई कष्ट नही होता। पित्ताशय की क्रिया सामान्य होती है। उनमें शस्त्रकर्म आवश्यक नहीं है यद्यपि उपदिष्टव्य है। अभी तक किसी ऐसी औषधि का अविष्कार नहीं हुआ है जो अश्मरी को गला दे।

अश्मरी रहित जीर्ण पित्ताशय शोथ की चिकित्सा के दो सिद्धान्त हैं। (१) पित्त के प्रवाह को बढ़ाना, जिससे वहाँ एकत्र हुआ पित्त पतला होकर बाहर निकल जाय और जो बने उसका भी प्रवाह होता रहे। इससे पित्ताशय की श्लैष्मिक कला की कोशिकाओं का पुनर्जनन होगा, वे स्वस्थ होंगी। यदि आशय में संक्रमण हो तो उसका नाश आवश्यक है। (२) पित्तनिर्माण बढ़ाना—जितना पित्त का निर्माण अधिक होगा उसका प्रवाह भी बढ़ेगा, संक्रमण घटेगा और कोशिकाये भी फिर से बनेंगी। श्लैष्मिक कला स्वस्थ होगी।

अतएव निम्न आयोजन उपादेय हैं—

१. हैक्सामीन	२ ग्राम (३० ग्रेन)
सोडा बाईकार्ब०	६ ग्राम (९० ग्रेन)
पोटास साइट्रास	६ ग्राम (९० ग्रेन)
जल	१ औंस

ऐसी तीन मात्राये दिन में प्रातः नाश्ते के पश्चात् दोपहर लगभग १ बजे मध्याह्न के आहार के पश्चात् और रात्रि को सोते समय एक गिलास दूध लेने के पश्चात्। रोगी जल अधिक पिये। दिन में प्रत्येक बार जब रोगी मूत्रत्याग करे तो लिटमस पेपर से मूत्र की प्रतिक्रिया देख ले। प्रतिक्रिया क्षारीय होनी चाहिए न कि आम्लिक। आम्लिक होने से मूत्राशय में शोथ तथा व्रणोत्पत्ति हो सकती है जिससे रक्तमेह (मूत्र में रक्त) हो सकता है।

२. प्रातःकाल सोकर उठने पर ४ से ८ ग्राम (६०–१२० ग्रेन) मैगनेशियम सल्फेट १ औंस जल में मिला कर लिया जाय। यह भी पित्त को पतला करने और प्रवाह बढ़ाने तथा पित्ताशय के संकोच को बढ़ाने वाला है। इसका प्रयोजन विरेचन नहीं है। यदि पतले दस्त आने लगे तो इसकी मात्रा कम कर दी जाय।

३. पित्ताशय तथा वाहिनियों के संक्रमण मे सल्फ़ा, पैनिसिलिन तथा अन्य प्रतिजीवियों के उपयोग का परामर्श दिया गया है। किन्तु पित्ताशय मे पित्त को लाने वाली नलिका के अवरुद्ध होने की संभावना से इन औषधियों के

आशय में पहुँचने में बहुत सन्देह है। तो भी यदि ज्वर हो, जो संक्रमण का विशेष लक्षण है, तो उनका अवश्य उपयोग किया जाय।

४. जिन रोगियों में पित्त प्रवाह अवरुद्ध न हो उनको पित्तलवण दिये जायँ। इनके कई योग निर्माता कम्पनियों के विशेष नामों से बिकते हैं। डैकोलिन (Decholin) या डीहाइड्रोकोलिन की ०·२५ ग्राम की टिकिया दिन में तीन वार उपयोगी होती है। यह डीहाइड्रोकोलिन एसिड का योग है जिससे पित्त की मात्रा (आयतन volume) में वृद्धि होती है।

५. यदि पित्तावरोध के कोई लक्षण कामला आदि न हों तो आहार में स्नेह की विशेष कमी करना आवश्यक नहीं है। उसको केवल इतना घटाया जाय जिससे आहार का स्वाद न बिगड़े।

पित्ताशय की अश्मरी (Cholelithiasis)

पित्ताशय तथा पित्तवाहिनियों में अश्मरी बन जाती है। ५ प्रतिशत जनता के पित्ताशयों में अश्मरी उपस्थित होने का अनुमान किया जाता है। १ बड़ी अश्मरी से लेकर १४००० छोटी छोटी अश्मरियाँ तक पाई गई हैं।

अश्मरी निर्माण का कारण नही मालूम है। पित्ताशय का जीर्ण शोथ इसका विशेष कारण मालूम होता है। किन्तु किस प्रकार अश्मरी बनती है यह नहीं कहा जा सकता है। यह माना जाता है कि कोई जीवाणु या जीवाणु समूह, श्लैष्मिक कला का टुकड़ा या शुष्क हुआ श्लेष्मा केन्द्र बन जाता है और उस पर पित्त लवण तथा अन्य अवयवों के स्तर एकत्रित होते रहते है। इसमें सन्देह नहीं है कि संक्रमण (जीवाणु) अश्मरी उत्पत्ति में विशेष भाग लेते हैं। रोगियों की एक बड़ी संख्या का अन्वेषण किया गया जिससे मालूम हुआ कि ८० प्रतिशत में जीवाणु केन्द्रकों से अश्मरी निर्माण हुआ था। जीवाणु केन्द्रक के पश्चात् कोलेस्टरोल कण अश्मरी निर्माण के लिये उत्तरदायी थे, पित्त लवणों की कमी होने पर कोलेस्टरोल के कण बन जाते हैं। और वे अश्मरी निर्माण के केन्द्रक होते हैं। उन पर और कोलेस्टरोल कण एकत्र होते रहते हैं। इनमे कैलसियम भी एकत्र हो जाता है। पित्त का पित्ताशय मे कुछ समय तक एकत्र रहना अश्मरी-निर्माण की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है।

पित्त अश्मरियों के प्रकार—१. केवल कोलेस्टरोल निर्मित अश्मरी—ये अश्मरी प्राय. अकेली और गोल या लम्बूतरे आकार की होती हैं। इनका रंग पीला होता है और ये हलकी होती हैं।

२. कौलेस्टरोल, बिलीरयूबिन और कैलसियम की स्तरित अश्मरी होती है। कौलेस्टरोल और कैलसियम बिलिरयूबिन के स्तर पृथक पृथक होते हैं।

३. केवल वर्णक बिलीरयूबिन (कैलसियम बिलीरयूबिन) की बनी अश्मरी होती हैं। ये छोटी और कड़ी होती हैं। रक्तलायी रोगों में ये अधिक बनती हैं जिनमें बिलीरयूबिन की उत्पत्ति बढ जाती है।

४. मिश्रित अश्मरियाँ जिनमें कोलेस्टरोल (८०-९६%) और कैलसियम बिलिरयूबिन दोनों मिले होते हैं। ये ही सबसे अधिक होती हैं। संक्रमण अथवा पिताशय शोथ इनका कारण होता है और सदा अश्मरियों की उपस्थिति में पाया जाता है।

५. केवल कैलसियम कारबोनेट की अश्मरी असाधारण है।

यह रोग ४० वर्ष से अधिक आयु वाली स्त्रियों में अधिक होता है। जीर्ण पित्ताशय शोथ के रोगियों में पहिले इसका सन्देह करना चाहिये। केवल कालेस्टरोल की अश्मरी की एक्स-रे चित्र में छाया नहीं बनती। कैलसियम मिले होने पर छाया आती है। कुछ अश्मरियों पर कैलसियम का हलका स्तर आवरण की भांति छा जाने से चित्र में उनकी रूपरेखा की छाया बन जाती है।

लक्षण और चिह्न—पित्ताशय में अश्मरी के पड़े रहने से लक्षण नहीं उत्पन्न होते। कितनों में केवल शवपरीक्षा पर अश्मरी पाई जाती हैं। केवल जब पित्ताशय से निकलने वाली वाहिनी में या सामान्य पित्तनलिका (cystic duct or common bile duct) में या कहीं अन्यत्र पित्तवाहिकाओं में अश्मरी अटक जाती है तो पीड़ा होती है जिसको पित्तशूल कहते है। अश्मरियों के कारण श्लैष्मिक कला में जब व्रणोत्पत्ति और जीर्ण शोथ की दशा स्थापित सी हो जाती है तो जीर्ण पित्ताशय शोथ में बताये हुए लक्षण उत्पन्न होते हैं कामला तब उत्पन्न होती है जब पित्त प्रवाहिका मार्ग पूर्णतया अवरुद्ध हो जाता है जो कैंसरोत्पत्ति से होता है। सामान्य पित्तनलिका के अन्तिम भाग में (वाटर का एम्पुला) फँसी हुई अश्मरी पूर्ण अवरोध नहीं करती। पित्त का दबाव अधिक होने से एम्पुला चौड़ा हो जाता है और कुछ पित्त निकल जाता है। उसकी कपाटिका (Valve) की सी क्रिया होती है। ऐसी दशा में कभी कभी कामला, ज्वर और यकृत् वृद्धि के समय समय पर आक्रमण हो सकते हैं।

पित्त शूल (biliary colic) अनेक बार पित्ताश्मरी का पहला लक्षण होता है। यह उस समय होता है जब अश्मरी पित्ताशय से बहिर्गामिनी नलिका या सामान्य पित्तनलिका में प्रविष्ट हो जाती है। शूल अत्यन्त दारुण होता है। प्रायः रोगी को आहार में व्यतिक्रम या अतिपरिश्रम इसका कारण प्रतीत होता है। किन्तु बहुधा कोई भी कारण नहीं होता। प्रायः शूल रात्रि को अकस्मात् प्रारंभ होता है।

शूल उदर के दाहिने यकृत् के नीचे पित्ताशय के प्रान्त में प्रारंभ होता है और वहां से पीठ मे वक्ष के निचले भाग में और दाहिनी ओर स्कंधा फलक तथा स्कंध के शिखर तक में फैल जाता है। शूल की ठहर ठहर कर लहरें सी आती रहती हैं। शूल की तीव्रता के कारण रोगी छटपटाता है, बिस्तरे में या फर्श पर लोटता है, चिल्लाने और रोने लगता है। शरीर पर ठंढा पसीना आ जाता है। वमन होता है तथा नाड़ी तीव्र और क्षीण हो जाती है। शूल घंटों तक होता रहता है और ऐसे ही अकस्मात् बन्द हो जाता है जैसे प्रारंभ हुआ था।

इस समय रोगी की परीक्षा करने से उदर का दाहिने भाग में विशेषतया पेशियाँ कड़ी प्रतीत होती हैं। स्पर्शासह्यता भी होती है। किन्तु पित्ताशय की वृद्धि नहीं होती है। तो भी पित्तबहिर्नलिका में अश्मरी के स्थित हो जाने से उग्र पित्ताशय शोथ हो सकता है। सामान्य पित्तनलिका मे अश्मरी के स्थित होने से हलकी या अव्यक्त (latent) कामला हो सकती है जो शीघ्र ही जाती रहती है।

एक्स-रे परीक्षा—पित्ताशय की अश्मरियों का पता लगाने का मुख्य साधन है। पित्तशूल के आक्रमण के शान्त होने के पश्चात् उदर का पहले एक साधारण ऐक्स-रे चित्र लेकर देखना चाहिये। कैलशियम की अश्मरी उसमे दीख जायगी। तब पित्ताशय प्रदर्शन (cholecystography) की विधि से अर्थात् एक एक्स-रे अवरोधक (आयोडीन) योग रोगी को खिलाकर पूर्वकथित प्रकार से एक्स-रे चित्र लिये जायँ जिनको cholicystogram कहते हैं। उनमें पित्ताशय की श्वेत छाया में अश्मरियाँ रिक्त स्थान सा दीखेंगी। दूसरे चित्र मे पित्ताशय की कर्मठता, संकोच करने की शक्ति भी मालूम हो जायगी।

क्रम और उपद्रव—पित्तशूल कुछ मिनटों से लेकर कुछ घंटों तक रह सकता है। आक्रमण के समय में मृत्यु अत्यन्त असाधारण है। अश्मरियो की उपस्थिति से पित्ताशय का जीर्णशोथ, व्रणोत्पादन, विदार, ग्रहणी तथा आन्त्र से संयोजन तथा आमाशय, ग्रहणी और आन्त्र मे फिस्चुला बनना, आन्त्र में पहुँची हुई पित्ताश्मरी से बद्धान्त्र तथा अग्न्याशय शोथ और पर्युदर्या शोथ भी उत्पन्न हो सकते हैं।

चिकित्सा—पित्तशूल के आक्रमण के समय रोगी के शूल का शमन मुख्य अभीष्ट है। पीड़ापहारी मुख्य औषधियों का कई बार पहिले भी उल्लेख किया जा चुका है।

(१) मार्फीन सल्फेट, १५ मिलीग्राम (¼ ग्रेन) तुरन्त अधस्त्वक् इंजेक्शन द्वारा दी जाय। आवश्यक होने पर घंटे या दो घंटे के पश्चात् उसको फिर दिया जा सकता है।

(२) ऐट्रोपीन सल्फेट ०·६ मि० ग्रा० ($\frac{1}{100}$ ग्रेन) भी अधस्त्वक् मार्ग से वाहिनियों के आक्षेपकों को दूर करने के लिये दिया जाय।

या

(३) पैथिडीन १०० मि० ग्रा० का इन्जेक्शन। इसके साथ भी ऐट्रोपीन सल्फेट दिया जाय।

(४) ग्लिसिरिलिट्राइनाइट्रेट की ०·६ मि० ग्राम ($\frac{1}{100}$ ग्रेन) की टिकिया मार्फीन या पैथिडीन के इंजेक्शन के साथ जिह्वाधर मार्ग से चूसने को दी जायँ।

आक्रमण शान्त हो जाने के पश्चात् भी कई दिन तक हलकी पीड़ा व वेचैनी बनी रहती है। टिंचर बेलाडोना २ मि. लि. (३० मिनिम) दिन में दो तीन वार देना पर्याप्त होता है।

पित्ताशय के अर्बुद

सामान्य या सुदम्य अर्बुदों मे सौत्रार्बुद (fibroma), अंकुरार्बुद (Papilloma) और ग्रन्थ्यर्बुद होते हैं। ये असाधारण हैं और कोई लक्षण नहीं उत्पन्न करते जब तक उनका आकार इतना नहीं बढ़ जाता कि पास की संरचनाओं पर उनका दबाव पड़ने से उनमें विकार आ जाय।

घातक या दुर्दम्य अर्बुदों में कैंसर अधिक होता है। सारकोमा अत्यन्त असाधारण है। अधिकतर प्राथमिक कैंसर (primary carcinoma) होता है। और ४० या ४५ वर्ष से अधिक की आयु वाली स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा चौगुना पाया जाता है। वह बहुधा पित्ताश्मरियों और जीर्ण पित्ताशय शोथ वाले पित्ताशयों में होता है।

लक्षण—पित्ताशयशोथ (जीर्ण) के से लक्षण कुछ समय से रोगी को रहे हैं। अथवा कोई भी लक्षण नहीं होता जब तक अर्बुद इतना नहीं बढ़ जाता कि वह उदर पर से प्रतीत होने लगे। वह परिवर्धित तथा स्पर्शासह्य होता है। पीड़ा सदा ही बनी रहती है। पित्तनलिकाओ के दबने तथा उनके भी अर्बुद से आक्रान्त हो जाने पर अवरोधक कामला उत्पन्न हो जाती है। प्रतिहारिणी वाहिका पर दबाव के कारण दोनों निम्न शाखाओं में शोफ हो सकता है। जलोदर हो जाना संभव है।

कौलीसिस्टोग्राम में पित्ताशय में भरण त्रुटि (filling defect) दिखाई देती है।

क्रम—अर्बुद का क्रम द्रुतगामी होता है। रोगी शीघ्र ही क्षीण हो जाता है। अर्बुद की वृद्धि से आशय विदार, फिस्चूला, पास के कोलन में तथा यकृत् में प्रसार हो सकता है।

चिकित्सा—अर्बुद का उच्छेदन प्रायः सम्भव नहीं होता। इसलिये केवल लाक्षणिक चिकित्सा से रोगी को विश्राम पहुँचाना ही अभीष्ट होता है।

पित्तवाहिनियों के रोग

यकृत् के बाहर पित्तवाहिनियों में भी शोथ हो जाता है। यह दशा पित्तवहाशोथ (Cholangitis) कहलाता है। इसका एक रूप पूतित या पूययुक्तशोथ (Suppurative cholangitis) कहलाता है जिसमें पूयोत्पत्ति होकर विद्रधि बन जाती है। इसका कारण जीवाणुओं का शोथयुक्त पित्ताशय से या यकृत् से वाहिनियों में प्रसार होता है।

इसके विशेष लक्षण ज्वर और कामला होते हैं। यकृत् भी बढ़ जाता है तथा पित्ताशय भी परिवर्धित होता है। उसमें पूय उपस्थित होती है। यकृत् में एक या कई छोटी छोटी विद्रधियाँ बन जाती हैं। रोगी को नित्य शीत के साथ ज्वर (rigors) आता है।

यह एक भयंकर दशा होती है। इससे पूयरक्तता (Pyaemia) हो सकती है। इसकी चिकित्सा शस्त्रकर्म द्वारा विद्रधियों को खोल कर पूय का निर्हरण करना है। प्रतिजीवियों तथा सल्फा का प्रचुर मात्रा में उपयोग लाभदायक होता है।

चयापचय के रोग

(Metabolic diseases)

चयापचय का रूप—चयापचय जीवन का प्रधान लक्षण है। प्रत्येक समय शरीर के प्रत्येक अंग तथा प्रत्येक भाग में चयापचय क्रियाये होती रहती हैं। चय (Anabolism) का अर्थ है संग्रह करना और संग्रह की हुई वस्तुओं का टूटफूट कर अपने अन्तिम या परिवर्तित रूप में आना, जिनका शरीर उपयोग नही करता अपचय (Katabolism) है। उसके पश्चात् उन रूपों का शरीर से मल मूत्र, स्वेद, श्वास आदि द्वारा त्याग हो जाता है।

हम जो **कार्बोहाइड्रेट** खाते हैं वे पाचक रसों द्वारा ग्लूकोज़् में परिवर्तित होकर रक्त में पहुँचते हैं। रक्त उसको मासपेशियों और यकृत् में पहुँचाता है जहाँ उसको ग्लायकोजन वना कर संग्रह कर लिया जाता है। यह कार्वोहाईड्रेट का चय हुआ। इसके पश्चात् मासपेशियां क्रिया करते समय ग्लूकोज़् का उपयोग करती हैं। ग्लूकोज़् का आक्सीकरण होता है। उसके अणुओं का आक्सीजन के अणुओं के साथ संयोग होता है जिससे ऊर्जा (energy) की उत्पत्ति होती है और पेशियाँ काम करती हैं, यह आक्सीकरण रासायनिक क्रिया होती है जिससे ग्लूकोज का अणु कई परिवर्तनों के पश्चात् जल और कार्वन-डाई-आक्साइड, $Co_2 + H_2O$ में विभक्त हो जाता है। जो ग्लूकोज़ तत्काल काम में नहीं आती वह ग्लायकोजन में परिवर्तित होकर यकृत् में संग्रह हो जाती है और आवश्यकता होने पर फिर से ग्लूकोज़् बन कर पेशियों में आ जाती है और वहाँ आक्सीकरण से जल और कार्वन-डाई-आक्साइड में बदल जाती है। यह उसका अपचय हुआ। ये दोनों अवयव श्वास, मूत्र और स्वेद द्वारा शरीर का त्याग करते हैं।

जो **प्रोटीन** हम खाते हैं उसका भी इसी प्रकार चयापचय होता है। प्रोटीन का मुख्य कर्म है नई कोशिकाओं को बनाना जिससे शरीर की वृद्धि हो; शरीर की नष्ट कोशिकाओं की पूर्ति के लिये भी नई कोशिकाओं को उत्पन्न करना, शरीर में रोगों के जीवाणुओं के प्रतिरोध करने की शक्ति उत्पन्न करना तथा शरीर में होनेवाली अनेक रासायनिक क्रियाओं के सम्पादन में सहायता देना। इससे शरीर के लिये प्रोटीन का महत्व समझा जा सकता है। शरीर का प्रत्येक भाग प्रोटीनों का बना हुआ है। प्रोटीन का कुछ भाग जिसका शरीर उपयोग नहीं करता, वह ग्लूकोज़् में परिवर्तित होकर ऊर्जा उत्पन्न करता है।

प्रोटीन का चयापचय कार्बोहाईड्रेट की अपेक्षा अधिक जटिल है। इसमें बहुत रासायनिक क्रियाये होती हैं और कई प्रकार के रासायनिक पदार्थ बनते हैं। हमारे शरीर की प्रोटीन जिनसे कोशिकाये आदि बनती हैं उन प्रोटीनों से भिन्न हैं जो हमे आहार में खाने को मिलती हैं। पाचक रसों द्वारा उनका विभंजन होकर वे अपने अन्तिम स्वरूप में आ जाती हैं जिनको अमीनोअम्ल (amino acids) कहते हैं। रक्त इन अमीनो अम्लों को शरीर के प्रत्येक भाग की कोशिकाओं के पास पहुँचाता है। कोशिकाये फिर इन अमीनो अम्लों में भी रासायनिक परिवर्तन करती हैं और जो उनके अनुकूल होती हैं उनको ले लेती हं अथवा उनके अवयवों से अपने लिए आवश्यक रूप की अमीनों अम्ल तैयार कर लेती हैं। यह प्रोटीनों का चय हुआ। जो अवयव या अमीनों अम्ल उनके लिये अनावश्यक होती हैं उनको छोड़ देती हैं। इन त्यक्त अमीनो अम्लों को रक्त फिर से लौटाकर यकृत् में पहुँचाता है जहाँ अनेक रासायनिक क्रियाये होती हैं और कितने ही रासायनिक पदार्थ बनते हैं तथा अमीनों अम्लों का अमीनोहरण (deamination) होकर अमीन समूह को निकाल दिया जाता है जिससे यूरिया, यूरिक अम्ल आदि बन कर उनका मूत्र द्वारा त्याग होता है ॥ यहीं पर कुछ अनुपयुक्त अमीनों अम्ल शर्करा बन कर ऊर्जा उत्पन्न करते हैं यह प्रोटीनों का अपचय कहा जाता है।

भोज्य पदार्थों का तीसरा मुख्य अवयव स्नेह है। पशुशरीर मे स्थित स्नेह को वसा कहते हैं। घी, तेल, मक्खन, क्रीम, ये सब स्नेह या वसा के रूप हैं। हमारे शरीर में वसा का बहुत भाग है। शरीर के कितने ही स्थानों मे वसा के स्तर एकत्र हैं। उदर की भित्ति में सामने, नितम्ब प्रान्त मे, मुख पर, सारी त्वचा के नीचे तथा पेशियों के वीच मे वसा स्थित है।

वसा का चयापचय कार्बोहाईड्रेट और प्रोटीनों की अपेक्षा अधिक गूढ है। पाचक रसों द्वारा भोज्य पदार्थों का स्नेह वसाम्ल (Fatty acids) और ग्लिसिरौल (glycerol) या ग्लिसिरिन में विभंजित हो जाता है। आन्त्र मे ये दोनों अवयव पृथक पृथक पाये जाते हैं। किन्तु आन्त्र की श्लेष्मलकला तथा उस पर लगे हुए रसांकुरों द्वारा अवशोषण के पश्चात् श्लेष्मल कला ही मे स्थित पायसनियों में, जिनके द्वारा स्नेह का एमल्शन प्रवाहित होकर स्नेह महाशिरा में पहुँचता है, सम्पूर्ण वसा के कण उपस्थित मिलते हैं। इससे मालूम होता है कि ग्लिसिरौल और वसा का संश्लेषण श्लेष्मलकला की कोशिकाओं ही में हो जाता है। इस पर अभी और अन्वेषण हो रहा है।

वसा शरीर की शक्ति का सुरक्षित भंडार है। इससे भी कार्बोहाइड्रेट ही के समान किन्तु उससे दुगुनी ऊर्जा उत्पन्न होती है। रक्त द्वारा इसके कण या

अणु प्रवाहित होकर शरीर मे उपयुक्त स्थानों में वसा ऊतक में पहुँच कर एकत्र हो जाते हैं। यह वसा का चय है। कार्बोहाइड्रेट की कमी होने पर वसा को फिर से रक्त आवश्यकता के स्थान पर पहुँचा देता है जहाँ उसका आक्सीकरण होने से ऊर्जा की उत्पत्ति होती है जिसका पेशियां उपयोग करती हैं और वसा का अणु अन्त में जल और कार्बन डाईआक्साइड के रूप में शरीर त्याग करता है।

कार्बोहाइड्रेट और वसा कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सीजन तत्वों के बने होते हैं। प्रोटीन में नाइट्रोजन भी होता है।

इसी प्रकार शरीर मे कुछ खनिजों का भी चयापचय होता है अथवा कहा जाता हैं। कैलसियम, पोटासियम, सोडियम तथा लोह ऐसे मुख्य खनिज हैं। इनके सल्फेट, क्लोराइड तथा कार्बोनेट लवण शारीरिक क्रियाओं में बहुत भाग लेते हैं। कितने ही शारीरिक अवयवों का उनके द्वारा निर्माण होता है। फास्फोरस और ताम्र भी भाग लेते हैं। इनका भी चयापचय कहा जाता है यद्यपि इनमें प्रोटीन आदि की भाँति इतने रासायनिक परिवर्तन नही होते। हाँ, शरीर उनको ग्रहण करता है, उनके द्वारा अपनी कुछ आवश्यकताएँ पूरी करता है और तब उनका त्याग कर देता है।

विटामीनें भी आहार का विशेष अंग हैं जो स्वास्थ्य के लिये अनिवार्य हैं। इनका अधिक विचार त्रुटिज रोगों के साथ किया जायगा।

आहार के अवयवों का उपयोग

आहार शरीर में काम करने की ऊर्जा को उत्पन्न करने तथा शरीर वृद्धि और उसके पोषण (क्षत कोशिकाओं की नवनिर्मित कोशिकाओं द्वारा स्थान पूर्ति) के लिये किया जाता है। अतएव किस आहार पदार्थ से शरीर को कितना पोषण मिलता है (पोषक मूल्य), यह जानना आवश्यक है जिससे रोगी के लिये आवश्यक मूल्य के आहार का हिसाब लगाया जा सके।

आहार के तीनों अवयवों प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट और वसा से कितनी ऊर्जा उत्पन्न होती है यह मालूम किया जा चुका है। ऊर्जा ताप के रूप में नापी जाती है और उस माप की एकाई को 'कैलोरी' (Calorie) कहते हैं। एक कैलोरी (पोषण के संबंध में) वह ताप है जो १०० ग्राम जल के ताप को १ डिगरी सैन्टीग्रेड बढ़ा दे। प्रयोगशालाओं में किये गये प्रयोगों से पता चला है कि १ ग्राम प्रोटीन से ४·१ कैलोरी, १ ग्राम कार्बोहाइड्रेट से ४ १ कैलोरी और १ ग्राम वसा से ९·२ कैलोरी ऊर्जा उत्पन्न होती है। एक सामान्य भारवाले (६५ कि. ग्रा.), विशेष परिश्रम न करनेवाले युवक के लिये २५०० कैलोरी और युवती के लिये २२०० कैलोरी का प्रतिदिन आहार आवश्यक है। इसी आधार

पर रोगी के लिये आहार की सूची तैयार की जाती है। मुख्य-मुख्य आहार पदार्थों से उत्पन्न कैलोरी ऊर्जा का पता भी लगाया जा चुका है। किसी आहार या पोषण विषयी बड़ी पुस्तक से यह सूची प्राप्त की जा सकती है।

मधुमेह, जिसको साधारणतया 'डायबिटीज मैलिटस' कहते हैं, और स्थूलता ये दोनों चयापचय के विशेष रोग हैं। और भी कई रोगों की इसी में गणना की जाती है। इनका आगे चलकर विचार किया जायगा।

मधुमेह, डायबिटीज मैलिटस
(Diabetes mellitus)

यह अत्यन्त प्राचीन रोग है। आयुर्वेद के ग्रन्थों में इसका वर्णन मिलता है। चीन और यूनान मे भी इसका ज्ञान था। आजकल यह एक विश्वव्यापी रोग है। इसके रोगियों की संख्या निरन्तर बढ़ रही है जिसका प्रधान कारण आजकल का निरन्तर स्पर्धा और स्पृहा का अर्थलोलुप व्यस्त जीवन है जिसमे धनोपार्जन और लक्षाधीश बनना ही जीवन का मुख्य उद्देश्य बन गया है। खाते, पीते, सोते, उठते, बैठते प्रत्येक क्षण अर्थ चिन्तन से चित्त के व्यग्र रहने का परिणाम यह रोग है। हमारे देश की अपेक्षा पश्चिमी देशों में इस रोग से ग्रस्त व्यक्तियों की संख्या कहीं अधिक है। वहां जितने संक्रामक रोग घटे हैं उतने हृद्रोग, अतिरक्तदाब, मानसिक रोग और मधुमेह रोग बढ़े हैं और बढ़ते जा रहे हैं।

कारण—मधुमेह का मुख्य कारण अग्न्याशय में उत्पन्न होने वाले इंसुलिन नामक हारमोन की कमी होती है। इंसुलिन की उत्पत्ति कम होती है जिससे पेशियों की ग्लूकोज़ का उपयोग करने की शक्ति और यकृत् की ग्लूकोज़ को ग्लायकोजिन बनाकर संग्रह करने की शक्ति का भी ह्रास होता है। इंसुलिन इन अंगों को ग्लूकोज़ के उपयोग की शक्ति प्रदान करती है। इस कारण ये अंग रक्त के ग्लूकोज़ को उतनी शीघ्रता से नही हटा पाते जितनी शीघ्रता से वह रक्त मे आती है। परिणाम स्वरूप रक्त में उसकी मात्रा सामान्य (८०–१२० मि० ग्रा० / १०० मि० लि० रक्त) से अधिक हो जाती है और मूत्र द्वारा भी निकलने लगती है। रक्त में अतिशर्करारक्तता (Hyperglycaemia) और शर्करामेह (glycosuria) हो जाते हैं।

इस कार्बोहाइड्रेट के चयापचय के विकृत होने का, जिसका मुख्य कारण इंसुलिन न्यूनता होती है, प्रोटीन और वसा के चयापचय पर भी प्रभाव होता है। वे भी अस्त व्यस्त हो जाते हैं। यहां तक कि शरीर में जल और लवणों (इलैक्ट्रोलाइटों) का सन्तुलन भी अस्त-व्यस्त हो जाता है।

प्रवर्तक हेतु—१. वंशपरंपरा (heredity)—इस रोग की उत्पत्ति के साथ कुछ विद्वान वंश परम्परा का संबंध मानते हैं। वंश का प्रभाव बच्चों में अधिक स्पष्ट होता है। २५ प्रतिशत बालक रोगियों में वंश प्रभाव दिखाई देता है यद्यपि शेष में उसका प्रमाण नहीं मिलता।

२. आयु—२० प्रतिशत रोगी ४० वर्ष से अधिक के होते हैं जब प्रथम बार उनमें रोग का पता चलता है।

३. स्थूलता—यह दशा प्रायः चालीस वर्ष से अधिक के रोगियों में उपस्थित होती है। चिकित्सा क्रम निर्धारण में इसका विशेष ध्यान रखना पड़ता है क्योंकि इनको प्रायः अधिक भोजन करने की आदत होती है। ये रसनालोलुप होते हैं।

४. लिंग—बाल्यावस्था में लड़कों की संख्या अधिक होती है, किन्तु प्रौढावस्था में स्त्रियों की संख्या अधिक हो जाती है।

५. स्टेफिलोकोकस के संक्रमण से रोग का विशेष संबंध मालूम होता है। संभव है स्टेफिलोकोकस जन्य रोगावस्था से अव्यक्त रोग व्यक्त हो जाता हो।

६. मानसिक द्वन्द्व, जैसा ऊपर कह चुके हैं, इसमें सन्देह नहीं है कि रोग की उत्पत्ति का प्रधान हेतु मालूम होते हैं जिनसे किसी प्रकार के नाड़ी जन्य कारण से अग्न्याशय की इंसुलिन उत्पत्ति शक्ति का ह्रास हो जाता है। ऐसे रोगियों की अधिक संख्या है जिनमें व्यवसाय चिन्ता के अतिरिक्त किसी कारण का पता नहीं लगता। यह कारण दीर्घकाल तक प्रभाव करता रहता है और तब जाकर रोग प्रगट होता है।

इंसुलिन का कार्बोहाइड्रेट के चयापचय पर प्रभाव—

कार्बोहाइड्रेट के चयापचय का कुछ वर्णन किया जा चुका है। इसका पाचन क्रियाओं द्वारा उत्पन्न हुआ अंतिम रूप ग्लूकोज़ रक्त का एक सामान्य अवयव है और पेशियों में पहुँच कर उनके द्वारा प्रयुक्त होता है। उसका अनुपयुक्त भाग ग्लायकोजिन के रूप में परिवर्तित होकर यकृत् में एकत्र हो जाता है। इस वस्तु का सबसे पहले क्लौड बर्नार्ड (Claude Bernard) ने सन् १८५७ में पता लगाया था। उसने ग्लायकोजिन को पशु स्टार्च (Animal starch) का नाम दिया था।

इसके बीस वर्ष के पश्चात् मेरिंग और मिकौस्की ने (v. Mering and Min Kowski) कुत्तों पर प्रयोग करके अग्न्याशय और मधुमेह के संबंध को प्रमाणित कर दिया। जिन कुत्तों के अग्न्याशयों को उन्होंने उच्छेदन करके

शरीर से निकाल दिया था उनके रक्त में ग्लूकोज की मात्रा बढ़ गई। उन्हीं कुत्तो को निकाले हुवे अग्न्याशय का सत्व बनाकर इंजेक्शन द्वारा रक्त में प्रविष्ट करने से ग्लूकोज़ कम हो गई। इन प्रयोगों से पहिले यकृत्, आन्त्र, वृक्क आदि को मधुमेह का स्थान माना जाता था। इसके कुछ वर्षों के पश्चात् लैंगरहैन्स ने अग्न्याशय मे 'द्वीपिकाओं' (islets) का पता लगाया। जिन कुत्तों में अग्न्याशय नलिका के मुंह को बाँध दिया गया उनमें अग्न्याशय ग्रन्थि के पाचक रस बनाने वाले भाग (कोशिकाये) नष्ट हो गये। किन्तु उनकी लैंगरहैन्स की द्वीपिकाओं के सक्रिय बने रहने से उनमें शर्करारक्तता नहीं बढी। ऐसे ही कितने ही और भी प्रयोग किये गये जिनसे इन द्वीपिकाओं में बनने वाले रस की कमी मधुमेह के लिये उत्तरदायी प्रमाणित हुई। इस रस को ही इंसुलिन कहा जाता है। यद्यपि पहिले इसको आइलेटिन (Isletin) का नाम दिया गया था। सन् १९२१ में बैंटिंग और बैस्ट (Banting and Best) नामक विद्वानों ने प्रथम बार इंसुलिन को अग्नाशय रस से पृथक किया और तभी से मधुमेह की चिकित्सा में क्रान्ति हो गई। रोगियों के जीवन की निराशा आशा में बदल गई। यह अन्वेषण चिकित्सा युग को पलट देने वाला था।

इंसुलिन की कमी से निम्नलिखित दशायें उत्पन्न होती हैं :—

१. रक्त में ग्लूकोज़ की मात्रा बढ़ जाती है (अतिशर्करारक्तता)

२. मूत्र में भी ग्लूकोज़ आने लगती है (मधुमेह)

३. मूल चयापचय दर ((B. M. R.) घट जाता है जो कार्बोहाइड्रेट के आक्सीकरण के ह्रास का द्योतक है।

४. प्रोटीन के चयापचय मे भी व्यतिक्रम आ जाता है। अधिक प्रोटीन कार्बोहाइड्रेट में परिवर्तित होने लगती है, जिससे मूत्र में नाइट्रोजन युक्त अवयवों की मात्रा बढ़ जाती है।

५. वसा का भी यही हाल है। उसके चयापचय के अपूर्ण होने से रक्त में ऐसीटोन, कीटोन आदि आने लगते हैं।

ये सब दशाये उनको पर्याप्त कार्बोहाइड्रेट अर्थात् ग्लूकोज़ न मिलने से होती हैं। इंसुलिन का इंजेक्शन देने से ये दशाये सुधर जाती हैं।

इंसुलिन की क्रिया विधि—उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि इंसुलिन की मुख्य क्रिया ऊतकों को ग्लूकोज़ का उपयोग करने के योग्य बनाना है। उसकी क्रिया से ऊतकों की कोशिकायें ग्लूकोज को धारण करती हैं तथा ग्लूकोज़ का आक्सीकरण करती हैं। यकृत् उसके प्रभाव से ग्लूकोज़ को ग्लायकोजिन बनाकर अपने में संग्रह करता है। इस प्रकार रक्त में ग्लूकोज़ की मात्रा नहीं बढ़ने पाती।

कार्बोहाइड्रेट का वसा में रूपान्तरण और उसका उचित स्थानों में संग्रह भी इन्सुलिन की क्रिया से प्रेरित होता है। प्रोटीन के चयापचय पर भी उसका प्रभाव होता है। मूत्र में नाइट्रोजन की मात्रा कम हो जाती है। किन्तु इस क्रिया की विधि क्या है यह अभी तक ठीक ठीक नहीं मालूम हो सका है।

इंसुलिन की उत्पत्ति— अग्न्याशय की लैंगरहैन्स की द्वीपिकाओं में इंसुलिन बनती है और वहाँ से अन्य हारमोनों की भाँति सीधी रक्त में चली जाती है। इन द्वीपिकाओं मे दो प्रकार की कोशिकाये होती हैं जो A और B (एल्फा और बीटा) कोशिकाये कहलाती हैं। B कोशिकाये इस हारमोन को बनाती हैं। A-कोशिकाओं में एक दूसरा ही रस बनता है जो एक प्रकिण्व की भाँति यकृत् से ग्लाइकोजिन को निकालने (Glycogenolytic) की प्रेरणा करता है जिससे रक्त मे उपस्थित ग्लूकोज़ बढ़ जाती है। इस प्रकार इस की क्रिया इन्सुलिन के विरुद्ध होती है। इसको ग्लूकागोन (Glucagon) कहते हैं। एक और प्रकिण्व इंसूलीनेज़ (insulinase) का हाल में पता लगा है। इसकी उत्पत्ति यकृत् में तथा पेशी ऊतकों में होती है। इसकी क्रिया भी इंसुलिन के प्रभाव को घटाती है। इंसुलिन का एक शामक प्रकिण्व (Insulin inhibitor) भी यकृत् में पाया गया है।

इन्सुलिन की क्रिया के ह्रास के कारण—

१. इंसुलिन का पर्याप्त मात्रा में न बनना। अग्न्याशय के रोगों में ऐसा होना सम्भव है। मृत परीक्षा पर अधिकाश मधुमेह के कारण मृत रोगियों मे लैंगरहैन्स द्वीपिकाओं की कोशिकाये क्षत या नष्टप्राय अवस्था में मिलती हैं।

२. इंसुलिन के कई प्रतिरोधक शरीर में उत्पन्न होते है। ग्लूकागोन और इंसुलीनेज़ का ऊपर उल्लेख किया गया है। निम्नलिखित ऐसे ही प्रतिरोधक हैं जो पीयूष ग्रन्थि, अधिवृक्क और स्वयं अग्न्याशय में उत्पन्न होते हैं।

३. पीयूष ग्रन्थि के अग्रखण्ड (Anterior pituitary lobe) में बनने वाला ए० सी० टी० एच० हारमोन इंसुलीन की क्रिया का निरोध कर के मधुमेह उत्पन्न करता है।

४. इसी खण्ड का अस्थियों की वृद्धि बढाने वाला हारमोन भी रक्त में ग्लूकोज़ को बढ़ाता है।

५. अधिवृक्क में उत्पन्न होने वाले स्टिराइड योग कर्टिसोन, हाइड्रोकार्टिसोन आदि भी इंसुलिन की क्रिया का निराकरण करते हैं क्योंकि वे ग्लूकोज़ उत्पत्ति को बढ़ाते हैं। वे प्रोटीनों को कार्बोहाइड्रेटों मे बदलते हैं।

इन्सुलिन की क्रिया के उपर्युक्त ह्रास के कारणों का संक्षिप्तवर्णन इसलिए किया गया है कि चिकित्सा में यह जानना आवश्यक है कि इन्सुलिन का क्रिया-विरोधी कोई कारण तो रोगी में उपस्थित नहीं है। यह ठीक प्रकार से जानने के लिए रक्त की कई परीक्षायें आवश्यक हैं। मूत्र की परीक्षा से उसमें उपस्थित नाइट्रोजन युक्त पदार्थों का ज्ञान आवश्यक है। इन सब परीक्षाओं की सुविधायें केवल बड़े-बड़े स्थानों में होती हैं।

साधारणतया व्यक्ति को ४० मात्रक इन्सुलिन प्रतिदिन से अधिक की आवश्यकता नहीं होती। अग्न्याशय का सम्पूर्ण छेदन करने पर भी इतनी मात्रा पर्याप्त होती है। यदि इतनी मात्रा से मूत्र में उपस्थित ग्लूकोज़ दूर नहीं होता तो अवश्य ही ऊपर बताए हुए कारणों में से कोई न कोई कारण उपस्थित है। उस समय इंसुलिन की मात्रा बढाना आवश्यक है। किसी-किसी रोगी को १०० मात्रक प्रतिदिन देने पर उसका मूत्र शर्करारहित होता है।

अति शर्करारक्तता का परिणाम—

रक्त में सामान्य से अधिक शर्करा के हो जाने पर (१) पहला प्रभाव यह होता है कि वृक्क शर्करा की अधिकता को दूर करने का प्रयत्न करते हैं। वे जितनी भी शर्करा को रक्त से पृथक कर सकते हैं उसको पृथक कर के बार-बार मूत्र द्वारा निकालते रहते हैं इससे शर्करामेह या मधुमेह (Glycosuria) हो जाता है। (२) दूसरे बारम्बार मूत्रत्याग होता है जिसको बहुमूत्रता (Polyūria) कहते हैं। (३) इससे शरीर से जल की हानि होने से प्यास अधिक लगती है और रोगी जल बहुत बार पीता है (polydypsia) जल की कमी का कारण यह भी होता है कि ग्लूकोज़ की अधिकता के कारण वृक्क की अणुनलिकायें जल का पुनः अवशोषण नहीं कर पाती। (४) शरीर के ऊतकों को कार्बोहाइड्रेट पर्याप्त मात्रा में न मिलने से रोगी को दुर्बलता (Asthenia) प्रतीत होती है। वह सदा भूखा रहता है (५) और इस कारण कुछ न कुछ खाता रहता (Polyphagia) है। (६) बहुत मूत्र त्याग के कारण शरीर का जल और लवणों (Electrolytes) का सन्तुलन बिगड़ जाता है जिससे किसी धात्वीय तत्व की कमी हो सकती है अथवा निर्जली भवन की दशा उत्पन्न हो सकती है। (७) कार्बोहाइड्रेट की न्यूनता के कारण शरीर वसा का उपयोग करने लगता है। वसा का संग्रह स्थानों से प्रवाह होने लगता है और वसा का अपचय या आक्सीकरण बढ़ जाता है जिससे एसीटो-एसटिक अम्ल बनता है। वसा के अपचय में यह पहला चरण है। स्वस्थ अवस्था मे रक्त द्वारा इसका आक्सीकरण हो कर पूर्ण विभंजन हो जाता है। किन्तु वसा की

अत्यधिक मात्रा के विभंजन से इस अम्ल की मात्रा बढ़ जाती है और रक्त उसका पूर्णतया आक्सीकरण करने में असमर्थ होता है। इससे ऐसीटो एसटिक अम्ल के अर्ध-आक्सीकृत रूप हाइड्रोक्सी बुटायरिक अम्ल, एसीटोन आदि जिनको कीटोन पिंड (Ketone bodies) कहते हैं तथा स्वयं ऐसीटो एसटिक अम्ल की अतिमात्रायें रक्त में जमा हो जाती हैं। इससे कीटोसिस या एसीडोसिस की दशा हो जाती है और उसके बढ़ने से (८) संमूर्छा (Coma) हो जाती है इंसुलिन के आविष्कार से पूर्व ५० प्रतिशत रोगियों की मधुमेह जन्य संमूर्छा (Diabetic coma) से मृत्यु होती थी। अब भी २ प्रतिशत का अन्त इसी प्रकार से होता है। (८) वसा के रक्त में अधिक हो जाने से रक्त दूध सा दिखाई देने लगता है जिसको वसारक्तता कहते हैं। (९) ऐसी दशा मे रक्त में प्राय: कोलेस्टरोल की भी अधिकता हो जाती है जो कोलेस्टरोलरक्तता (Cholesterolaemia) कहा जाता है। (१०) यदि यह दशा बहुत दिन तक बनी रही, अधिक वसा का प्रवाह होता रहा तो धमनियों में कोलेस्टरोल के कण एकत्र होकर Atherosclerosis या atheromatosis की दशा उत्पन्न कर देते हैं जो अतिरक्तदाब (Hypertension) का कारण होता है। (११) वसा के अतिविभंजन से कैरोटीन (विटामीन ए का एक पूर्व रूप) वसा से मुक्त होकर रक्त में एकत्र (Carotinaemia) हो सकती है। (१२) प्रोटीन के ग्लूकोज़ मे अधिक परिवर्तन से शारीरिक प्रोटीन का क्षय बढ जाता है जो विशेषकर पेशियों से आती है। इस कारण पेशी क्षीणता होने लगती है। यही शरीर भार के क्षय का मुख्य कारण होता है।

स्थूलता (Obesity) का मधुमेह के साथ अभिन्न संबंध है। इस विषय का विचार आगे चलकर किया जायगा। यहा इतना बताना पर्याप्त है कि बालकों को छोड़ कर अधेड़ आयु के रोगी प्राय· स्थूल होते हैं। पतले दुबले व्यक्तियों में यह रोग अत्यन्त असाधारण है। स्थूल व्यक्ति प्राय. अतिभोजन के अभ्यस्त होते हैं। उनका आहार ४००० कैलोरी से कम नही होता। बहुत समय से वे ऐसा ही आहार करते रहे हैं। कुछ में स्थूलता की पारिवारिक प्रवृत्ति होती है। इनका चयापचय कुछ ऐसा परिवर्तित हो जाता है कि उसमें आहार का कुछ कार्बोहाइड्रेट, आवश्यकता से अधिक न होने पर भी, वसा बन जाता है। ऐसे व्यक्तियों में लैंगरहैन्स की द्वीपिकाओं को बहुत काम करना पड़ता है, इंसुलिन बहुत बनानी पड़ती है क्योंकि अधिक वसा के रूपान्तरण तथा उपयोग के लिये अधिक इंसुलिन की आवश्यकता होती है। अनेक बार ऐसे व्यक्तियों में अतिश्रम के कारण

अग्न्याशय की द्वीपिकाओं के अवजनन (Degeneration) से यकृत् का वसा अवजनन (Fatty degeneration) हो जाता है जिसमें यकृत् में वसा के एकत्र होने से उसकी वृद्धि हो जाती है। ऐसे मृत व्यक्तियों की शव परीक्षा पर प्राय: लैंगरहैन्स की द्विपिकायें नष्टप्राय मिलती हैं। उनका अवजनन हो चुकता है।

स्थूलता, शरीरभार का अपने निर्दिष्ट तौल से अधिक होना सदा भय-सूचक चिह्न समझना चाहिये जो आपत्ति की घण्टी है। रोगी को उस घंटी को सुनाने का प्रयत्न करना चिकित्सक का कर्तव्य है।

लक्षण—बहुत बार कोई भी लक्षण नहीं होता। रोगी के मूत्र की बीमे के लिये या किसी अन्य कारण से परीक्षा की जाती है और उसमें शर्करा उपस्थित मिलती है। अथवा रोगी कुछ अस्वस्थ प्रतीत करता हैं जिसके लिये वह चिकित्सक से परामर्श करता है और चिकित्सक के सुझाव पर मूत्र परीक्षा करने पर उसमें शक्कर मिलती है।

यह रोग बालकों को भी होता है जिनमें वह तीव्र होता है। ४० वर्ष से ऊपर वालों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां अधिक इस रोग से ग्रस्त पाई जाती हैं, यद्यपि पुरुषों में भी बहुत होता है। इस रोग से ग्रस्त व्यक्तियों की बहुत बड़ी संख्या है। अमरीका में २ प्रतिशत जनता का इस रोग से ग्रस्त होने का अनुमान किया जाता है। प्रत्येक देश में यही हाल है। पढ़े-लिखे विचार संबंधी काम करने वालों में रोग अधिक पाया जाता है। निम्न श्रेणी के मेहनत मजदूरी द्वारा जीविकोपार्जन करने वाले व्यक्ति प्राय: इस रोग से मुक्त रहते हैं। इसका प्रधान कारण यही है कि उन लोगों को पेट भर भोजन मिलना ही कठिन होता है, अधिक भोजन की कौन कहे। रोग उन ही को होता है जो भोजन तो बहुत करते हैं और शारीरिक परिश्रम कम करते हैं। या जिनको दिन भर बैठे ही बैठे काम करना पड़ता है। और चिन्तायें अधिक रहती हैं।

गत पृष्ठों मे अतिशर्करारक्तता के जो परिणाम बताये गये हैं उनसे रोग के लक्षण बहुत कुछ स्पष्ट हो गये हैं। प्रथम लक्षण रोगी को दुर्बलता प्रतीत होना हो सकता है। उसके चित्त मे किसी काम करने का उत्साह नहीं होता। बैठे बैठे निरुत्साह तथा दुर्बलता प्रतीत होती रहती है। या मूत्र त्याग के लिये रात को कई बार उठना (बहुमूत्रता) पड़ता है, इससे रोगी का ध्यान रोग की ओर आकर्षित हो सकता है।

रोगी को प्यास अधिक लगती है। उसका मुंह सूखा हुआ रहता है। शुष्क जिह्वा रोग का लक्षण है। रोगी की दुर्बलता का कारण शरीर को कार्बोहा-

ड्रेट का न मिलना (मूत्र द्वारा निकल जाने से) और ऊतकों के प्रोटीन का विभंजन होता है। बहुमूत्रता का कारण रक्त मे शर्करा का अनुपात बढ़ जाना होता है। इन्ही कारणों से रोगी को सदा भूख मालूम होती रहती है। मीठा खाने की उसको प्रबल इच्छा बनी रहती है।

रोगी का शरीरभार घटने लगता है। पेशीक्षय इसका विशेष कारण होता है। मूत्र मे जो अधिक नाइट्रोजन आने लगती है वह विशेषकर प्रोटीनों के विभजन से आती है।

मैथुनशक्ति तथा मैथुनेच्छा बहुत से रोगियों में लुप्त हो जाती हैं। मैथुनेन्द्रियों (भग तथा शिश्नमुंडच्छद—vulvitis. balanitis) में कुछ शोथ तथा खुजली प्रथम लक्षण हो सकते हैं जिनके लिये रोगी चिकित्सक के पास आता है। दृष्टिक्षय लिये रोगी नेत्रविद (Ophthalmologist) के पास जा सकता है। कितने ही रोगियों में बार-बार फोड़े-फुन्सी होने के कारण चिकित्सक के मूत्र परीक्षा करने पर शर्करा मिलने से रोग का पता चलता है तथा और कितनी ही बार रोगी को मूर्छा (मधुमेहजन्य) हो जाने पर जब उसको अस्पताल ले जाया जाता है।

परीक्षा करने पर शुष्क जिह्वा और पेशी क्षय के लक्षण के अतिरिक्त और कोई चिह्न नहीं मिलता जब तक रोगी किसी उपद्रव से ग्रस्त नहीं होता। चर्म के नीचे से वसा का लोप हो जाने से त्वचा ढीली हो जाती है।

रोग निश्चिति—मूत्र परीक्षा रोग निश्चिति का मुख्य साधन है। उसका विशिष्ट गुरुत्व १०२० से अधिक होता है। बैनेडिक्ट जाँच (Benedicts reaction) सदा धनात्मक होती है। ताम्र के अवकरण (Reduction) से मूत्र में ईंट के समान लाल रंग का अवक्षेप बन जाता है। इस क्रिया को करनेवाली वस्तु ग्लूकोज़ होती है। आजकल यह प्रतिक्रिया 'क्लिनिस्ट्रिक्स' (Clinistrix) तथा 'क्लिनिटेस्ट' द्वारा मालूम कर ली जाती है। क्लिनिस्ट्रिक्स कुछ रासायनों से संसिक्त कागज की धज्जिया होती हैं या उनको लपेट कर एक छोटी सी शलाका बना ली जाती है। यदि इनको ग्लूकोज़युक्त मूत्र में डुबाया जाय तो वे नीले हो जाते हैं। क्लिनिटेस्ट में रासायनिक योगों की बनी हुई टिकियों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार के 'क्लिनिटेस्ट सेट' बने हुए आते हैं जो हमारे देश मे 'मार्टिन एण्ड हैरिस कम्पनी' की कलकत्ता, बम्बई तथा दिल्ली की शाखाओं में बेचे जाते हैं। प्रत्येक सेट में एक छोटी परीक्षा नलिका, एक बिन्दुक (Dropper) टीन के पत्रकों में बन्द रासायनकों की टिकियाये तथा एक कागज पर छपे हुवे रंगों के चित्र रहते है। बिन्दुक द्वारा ५ बूंद मूत्र और १० बूंद जल परीक्षा नलिका मे डालकर उनमें

एक टिकिया डाल दी जाती है। तुरन्त उसके झाग उठने लगते हैं और ताप उत्पन्न होने से मिश्रण गरम भी हो जाता है। दो मिनट में झाग उठने बन्द हो जाते हैं और मिश्रण का रंग बदल जाता है। कुछ मिनट तक रखने के पश्चात् साथ के कागज़ पर बने हुवे रंगों के साथ परीक्षा नलीका में मूत्र मिश्रण के रंग की तुलना की जाती है जिन पर ग्लूकोज़ की प्रतिशत मात्रा लिखी रहती है। इस प्रकार कुछ मिनटों में मूत्र में उपस्थित ग्लूकोज़ की प्रतिशत मात्रा मालूम हो जाती है।

ये टेस्ट सेट रोगियों के स्वयं प्रयोग के लिये बनाये गये हैं और अत्यन्त सुविधाजनक हैं। वे यात्रा में भी उनको जेब में रखकर ले जा सकते हैं और कही भी अपनी मूत्र परीक्षा कर सकते हैं।

अतएव जो रोगी ऊपर कहे हुए एक या अधिक लक्षणों को बतावे, दुर्बलता या शरीर भार का क्षय, बहुमूत्रता, प्यास की अधिकता या खुजली, घावों का न भरना, फोड़े-फुन्सी होना आदि और ३५, ४० वर्ष का कुछ स्थूलकाय हो तो तुरन्त मधुमेह का सन्देह करना चाहिये। मूत्र परीक्षा करने से ग्लूकोज़ की जाँच धनात्मक होने पर रोग निश्चिति असंदिग्ध हो जाती है।

रक्त परीक्षा भी आवश्यक है। ये दो परीक्षाये हैं जो चिकित्सा प्रारंभ करने से पूर्व अवश्य करवानी चाहिये और चिकित्सा प्रारंभ करने के पश्चात्, प्रतिमास एक बार होनी चाहिये जिससे चिकित्सा से होने वाले लाभ का ठीक-ठीक मूल्यांकन किया जा सके। (१) प्रथम परीक्षा है प्रातःकाल कुछ न खाने पर रक्त में उपस्थित ग्लूकोज़ की मात्रा का निर्णय। रात्रि का भोजन करने के पश्चात् दूसरे दिन रोगी को तब तक कुछ भी खाने को नहीं दिया जाता जब तक उसका रक्त परीक्षा के लिये नहीं ले लिया जाता। चाय का प्याला या नीबू के शरबत का गिलास तक नहीं दिया जाता। रोगी केवल शुद्ध जल ले सकता है। यह 'अनाहार रक्त शर्करा' (Fasting blood sugar) कहलाती है। इसकी रक्त में उपस्थित सामान्य मात्रा ८०–१२० मिलीग्राम प्रति १०० मिलीलिटर रक्त होती है।

(२) दूसरी परीक्षा 'ग्लूकोज़ सह्यता जाँच' (Glucose tolerance test) कहलाती है। अनाहार रक्त शर्करा जाँच के लिये शिरा या केशिका रक्त (अंगुली से या कान से) लेने के पश्चात रोगी को ५० ग्राम ग्लूकोज़ ७ या ८ औंस जल में घोल कर पिला दी जाती है। और तब आधे आधे घंटे पर ५ बार रक्त लेकर उसमें प्रत्येक बार के लिए हुए रक्त में उपस्थित ग्लूकोज़ की मात्रा मालूम की जाती है। इन मात्राओं को एक चार्ट पर लिख दिया जाता है। इन अंकों को रेखाओं से मिलाने से एक वक्र बन जाता है जिसमें

रक्त में ग्लूकोज़ के संग्रह त्याग आदि का तथा किस गति से ये क्रियाये होती हैं इन सब बातों का पता चल जाता है।

ग्लूकोज खाने के पश्चात् यह मात्रा १८० मि० ग्रा० से अधिक न होनी चाहिये।

दो घंटे में ग्लूकोज का रक्त स्तर उपवास रक्त स्तर के समान हो जाना चाहिये।

यह न भूलना चाहिये कि शर्करामेह और मधुमेह एक ही नहीं है। शर्करा मेह (Glycosuria) केवल वह दशा है जिसमे मूत्र में ग्लूकोज की अधिकता हो जाती है। मधुमेह (Diabetes mellitus) के अतिरिक्त भी अन्य कारणों से मूत्र में ग्लूकोज़ की अधिक मात्रा आ सकती है जिसका विचार अगले पृष्ठ पर किया गया है। उसके पूर्व वृक्क सीमा (Renal threshold) का शब्द समझ लेना चाहिये।

वृक्क-सीमा—वृक्क सीमा से अर्थ है वृक्कों की रक्त में ग्लूकोज़ के अधिक हो जाने पर रक्त से ग्लूकोज़ को पृथक करने की क्षमता की सीमा। अर्थात् कितनी ग्लूकोज़ अधिक होने पर वे ग्लूकोज़ को पृथक करना प्रारम्भ करते हैं। ८०–१२० मि. ग्रा. / १०० मि. ली. रक्त तक ग्लूकोज़ का सामान्य रक्त स्तर बताया गया है। अर्थात् इतना होने तक वृक्क ग्लूकोज़ को पृथक नहीं करते। इससे अधिक होने पर करने लगते हैं। अतएव इतना होने तक मूत्र मे ग्लूकोज नहीं आयगी। इससे अधिक होने पर आने लगेगी। कुछ व्यक्तियों में १३० और १४० मि. ग्राम रक्त शर्करा होने पर भी वृक्क उसको सहन कर लेते हैं। अर्थात् वे पृथक नहीं करते। इस कारण उनके मूत्र में शर्करा नहीं मिलती। अतिशर्करारक्तता होने पर भी शर्करामेह नहीं होगा। इसके विरुद्ध यदि वृक्क-सीमा न्यून है अर्थात् ग्लूकोज़ के ८० या १०० मि. ग्राम होते हुए भी वृक्क ग्लूकोज़ को पृथक करने लगते हैं तो मूत्र में ग्लूकोज़ आने लगती है। यह मधु-मेह नहीं कहा जायगा। वह केवल शर्करामेह है।

शर्करामेह के अन्य कारण—मधुमेह के अतिरिक्त निम्न दशाओं में मूत्र में ग्लूकोज़ आ सकती है।

१. वृक्क-सीमा का न्यून होना ऊपर बताया जा चुका है।

२. गर्भावस्था मे अनेक बार वृक्क-सीमा घट जाती है।

३. गर्भावस्था के अन्तिम दिनों या एक दो मास मे अथवा बच्चे को दूध पिलाने के दिनों में मूत्र में दुग्धशर्करा जिसको लेक्टोज़ कहते हैं आने लगती है।

इससे मूत्र की बैनेडिक्ट जाँच तथा क्लिनिटेस्ट जाँच धनात्मक होती हैं। किन्तु क्लिनिस्ट्रिक्स जाच ऋणात्मक ही रहती है।

४. कुछ मानसिक दशाओं, चिन्ता, घबराहट, दुर्घटनाओं (अस्थिभग्न)- में मूत्र में ग्लूकोज़ आ जाती है। किन्तु वह अस्थायी होती है। शीघ्र ही जाती रहती है। परीक्षा के पूर्व, घुड़दौड़ के समय, नियुक्ति के लिये वाग्परीक्षा के पूर्व तथा आपरेशनों के पूर्व कुछ सर्जनों मे ऐसा हो जाता है। ऐसे समय में शरीर में अधिवृक्कों द्वारा एड्रिनेलिन की उत्पत्ति बढ़ जाती है। ऐड्रिनेलिन की क्रिया से यकृत् से अधिक ग्लायकोजिन निकलने लगती है जो मूत्रशर्करा का कारण होती है। किन्तु यह दशा स्थायी नही होती। शीघ्र ही दूर हो जाती है।

५. यकृत् के रोगो मे जैसे सिरोसिस में यकृत् की ग्लायकोजिन को धारण करने की शक्ति घट जाती है जिससे रक्त में तथा मूत्र मे ग्लूकोज़ की मात्रा बढ़ जाती है।

६. कुछ अन्तःस्रावी ग्रन्थियो के विकारों में जैसे अत्यवटुता (Hyperthyroidism) मे प्रायः शर्करामेह हो जाता है।

७. मस्तिष्क रोगों में जिनसे अन्तर्कपाली दाब बढ़ती है जैसे अर्बुद, रक्तस्राव, मस्तिष्कावरण शोथ आदि में शर्करामेह हो सकता है।

८. भोजन मे कार्बोहाइड्रेट या चीनी की अतिमात्रा से मूत्र में शर्करा आ जाती है।

९. कुछ व्यक्तियो में रोग मुक्त होने पर भी यकृत् तथा अन्य ऊतकों में ग्लूकोज़ को शीघ्र ग्रहण करने की शक्ति नहीं होती। वे रक्त से ग्लूकोज को उतनी शीघ्रता से नही हटा सकते जितनी शीघ्रता से वह रक्त में आती है। इसको अंग्रेजी में 'Lag storage' अर्थात् 'संग्रह शिथिलता' कहते हैं।

मधुमेह के लिये मूत्र परीक्षा मे ग्लूकोज़ मिलने पर यह मालूम करना आवश्यक है कि रोगी को केवल शर्करामेह तो नही है। इसके लिये रक्तशर्करा तथा शर्करा सह्यता की जाच करना आवश्यक है।

पैन्टोज़ और फ्रक्टोज़ शर्करायें भी मूत्र में आ सकती हैं। इन दोनों मे बैनेडिक्ट जाच धनात्मक होती है। इनके लिये विशेष जाचे करनी होती हैं।

यदि मूत्र की परीक्षा करने पर ग्लूकोज़ और कीटोन् दोनों उपस्थित मिले तो मधुमेह रोग होना निश्चित है। 'एसीटेस्ट' टिकियाओं (क्लिनिटेस्ट के समान) से कीटोन जाच सुगम होती।

उपद्रव

अतिशर्करारक्तता के परिणामों में अनेक दशाओं का उल्लेख किया

गया है। उनमें से किसी भी दशा के अत्यधिक हो जाने से वह उपद्रव का रूप ले लेती है। मधुमेह में प्रायः निम्नलिखित उपद्रव पाये जाते हैं।

१. संमूर्छा, कोमा, किटोसिस

यह मधुमेह का अत्यन्त भयानक उपद्रव है। इसका कारण गत पृष्ठों में बताया जा चुका है। यह निरोध्य उपद्रव है, अर्थात् इसको रोका जा सकता है। मूर्छा उत्पन्न होने से पूर्व लक्षणों द्वारा उसका निर्णय कठिन नहीं है। मूर्छा अर्थात् रोगी के अचेतन होने के पश्चात् रोगनिर्णय कठिन हो जाता है।

इंसुलिन के आविष्कार से पूर्व मधुमेह के रोगियों का प्रायः यही उपद्रव अन्त करता था। कोथ, राजयक्ष्मा तथा अन्य संक्रामक रोग शेष के प्राणान्त के लिये उत्तरदायी होते थे। इंसुलिन निकल आने के पश्चात् तस्वीर बदल गयी है। मूर्छा तथा अन्य उपद्रव उन ही में होते हैं जो चिकित्सा-क्रम का पूर्ण पालन नहीं करते या आहार में व्यतिक्रम करते हैं।

कारण—इन्सुलिनका आवश्यक मात्रा में न पहुँचना इस उपद्रव का विशेष कारण होना है। रोगी को प्रायः आमाशय-आन्त्र शोथ का आक्रमण होता है। वमन होते हैं। दस्त भी हो सकते हैं। इस दशा में इंसुलिन की आवश्यकता और बढ़ जाती है जब कि रोगी इस दशा को इन्सुलिन के कारण उत्पन्न हुई समझ कर उसको और घटा देता है।

मधुमेह के रोगियों में संक्रमण के ग्रहण करने की प्रवृत्ति बढ जाती है। प्रायः स्ट्रिप्टो, स्टेफिलो-कोकस उनमें फोड़ा फुन्सी अथवा कोथ (gangrene) तक उत्पन्न कर देते हैं। ऊतकों के शक्तिहीन होने से घाव नहीं भरते, पुनर्जनन (regeneration) की क्रिया बहुत घट जाती है, वृद्धावस्था मे तो बन्द ही हो जाती है। इन दशाओं में भी अधिक इंसुलिन की आवश्यकता होती है। रोगियों में स्टेफ़िलो, स्ट्रिप्टो, कोकस आदि के कारण कार्बंकिल रोग विशेषतया अधिक होता था किन्तु पेनिसिलिन और इंसुलिन के प्रभाव से अब बहुत कम होता है।

कई बार आघात या आपरेशन रोग के तत्काल कारण होते हैं।

लक्षण—यह उपद्रव अकस्मात् नहीं उत्पन्न होता। वह पहले से चेतावनी दे देता है। उपयुक्त चिकित्सा द्वारा उपद्रव को रोकना सम्भव होता है।

इस उपद्रव के दो विशेष लक्षण हैं, जो मूर्छा से कई दिनो पूर्व प्रकट हो जाते हैं :—(१) वायुक्षुधा (airhunger) रोगी मुँह खोल खोल कर गहरे और लम्बे किन्तु धीमे श्वास लेता है मानो उसको पर्याप्त वायु न मिल रही हो। (२) श्वास में एसीटोन की मीटी मीठी गन्ध आने लगती है।

रोगी को प्यास बहुत लगती है। जी मिचलाता है। वमन हो सकते हैं। बहुत बार उदरशूल के साथ रोग आरंभ होता है। उसके साथ वमन, अतिकोष्ठबद्धता और जी मिचलाना, ये लक्षण मिलकर उग्रोदर का रूप उपस्थित कर देते हैं जिससे किसी उग्र उदररोग की भ्रान्ति हो जाती है। रक्तदाब घट जाता है। हृदय और नाड़ी की गति १२० प्रतिमिनट से भी ऊपर हो सकती है। रोगी की पेशिया ढीली हो जाती हैं। नेत्र भीतर को धंसे होते हैं और नेत्रगोलक भी दाबने से नरम मालूम होते हैं। इन परिवर्तनों का कारण शरीर का निर्जलीभवन होता है। शरीर ताप भी न्यून होता है।

रक्तपरीक्षा करने पर श्वेताणुवृद्धि १२००० या इससे भी अधिक मिलेगी। रक्तशर्करा की मात्रा भी अधिक होगी। मूत्र में शर्करा तथा कीटोन पिंडों की अधिकता होगी। किन्तु यदि वृक्क भी अकर्मण्य हो गये हैं तो मूत्र में कुछ न मिलेगा। रक्त में उनकी और भी अधिकता हो जायगी।

पहिले रोगी पूर्णतया चेतन रहता है। किन्तु भ्रम होने लगता है। फिर वेहोशी कभी कभी हो जाती है। फिर ये वेहोशी के झोंके बढ़ने लगते हैं। अन्त में जाकर रोगी पूर्णतया अचेतन हो जाता है। लक्षणों के प्रारंभ ही पर चिकित्सा के आयोजन हो जाने से यह अवस्था नहीं आने पाती।

चिकित्सा—इस भयानक उपद्रव की चिकित्सा पूर्ण तत्परता के साथ करनी चाहिये। चिकित्सा के दो सिद्धान्त हैं जिन पर चिकित्सा आश्रित है :— (१) शर्करा और कीटोन पिंडों का इंसुलिन द्वारा निराकरण और (२) शरीर का निर्जलीभवन तथा सोडियम आदि ईलैक्ट्रोलाइटों की हानि की पूर्ति। इन दोनों प्रयोजनों की शीघ्रातिशीघ्र पूर्ति की जाय। साथ ही यदि संक्रमण का भय है तो वह प्रतिजीवियों के प्रयोग द्वारा दूर किया जाय तथा रोगी को संक्रमण के भय से सुरक्षित किया जाय।

(१) पहला प्रयोजन इंसुलिन के द्वारा पूरा किया जाता है। रोगी को इंसुलिन की वृहद् मात्राओं की आवश्यकता होती है। इंसुलिन की मात्रा रक्त में उपस्थित शर्करा की मात्रा पर निर्भर करता है। इस सब को मालूम करने में कुछ समय लगेगा। अतएव मूत्रशर्करा की जाच करके १०० मात्रक साधारण (विलेय) इंसुलिन रोगी को तुरन्त दे दी जाय, २० मात्रक शिराद्वारा और ८० पेशियों द्वारा। प्रथम २४ घंटे में रोगी को १००० मात्रक तक देना आवश्यक हो सकता है। प्रथम बार उपर्युक्त मात्रा को देने के पश्चात् ५० मात्रक प्रति घंटा दिये जाँय। कुछ विद्वान १०० से २०० मात्रक प्रति घंटा देने के पक्ष में हैं। ऐसी दशा मे अधिक इंसुलिन से इतनी हानि नही होती

जितनी कम इंसुलिन से। मूत्रपरीक्षा इंसुलिन की मात्रा की सर्वोत्तम प्रदर्शक है। दिन में तीन-चार बार मूत्र की परीक्षा होनी चाहिये। यदि प्रति दो घंटे पर हो सके तो और भी उत्तम है। जब तक रोगी की विषम दशा रहे तब तक दिन में एक वार रक्तशर्करा की भी जांच आवश्यक है। कम से कम दो दिन तक अवश्य की जाय। तब तक संकट काल प्रायः कट जाता है। इस तीव्र कीटोसिस और मूर्छा की दशा में रोगियों में इंसुलिन के प्रभाव के निरोध करने की विशेष शक्ति आ जाती है। इस कारण इंसुलिन की बड़ी बड़ी मात्रायें देना आवश्यक होता है। जब मूत्र से कीटोन पदार्थ जाते रहे तब इंसुलिन की मात्रा घटाई जा सकती है।

(२) दूसरे प्रयोजन की पूर्ति रोगी के शरीर में लवणद्रव पहुँचा कर की जाती है। जितना भी शीघ्र हो सके रोगी को १ पाइन्ट सामान्य लवण विलयन शिरा द्वारा दे दिया जाय और तब परीक्षाओं के पश्चात् कई बार में और भी दिया जाय। यह लवण द्रवाधान इस गति से किया जाय कि १ पाइन्ट द्रव रक्त में एक घंटे में पहुँचे। इससे अधिक तीव्र गति से देना भय जनक है। यदि हृदयावसाद या अतिसंभरण (collapse or congesting heart) का सन्देह हो तो गति और भी धीमी कर देनी चाहिये। निरन्तर विन्दुक विधि से देना उचित होगा। हृदय के स्वस्थ होने पर एक घंटे में १ पाइन्ट देने के पश्चात् द्रव प्रवाह की गति घटा दी जाय और शेष द्रव ५०० मि० लि० प्रतिघंटे की गति से दिये जाँय। दो तीन लिटर सामान्य लवण विलयन देने के पश्चात् उसमें ग्लूकोज़ विलयन मिला दिया जाय। कैलसियम लैक्टेट मिलाने से द्रव की उपयोगिता और बढ़ जाती है। ५ प्रतिशत ग्लूकोज विलयन २ भाग और सामान्य लवण विलयन १ भाग मिलाकर देने से मूत्र तथा वृक्कों की दशा सुधरने में सहायता मिलती है। और वृक्कों के फेल होने का डर नहीं रहता। मूत्र आने लगता है। इससे रुधिर दाब भी बढ़ता है। बीच बीच में रुधिरदाब भी नापते रहना चाहिये। यदि रुधिरदाब न्यून हो तो कोरामिन २ से ४ मि० लि० तक शिरा द्वारा दे दिया जाय अथवा आधानवाले द्रव में मिला दिया जाय। ऐसी दशा में रुधिराधान की व्यवस्था भी की जाती है। यदि रुधिर उपलब्ध न हो तो प्लाज्मा दिया जा सकता है। जब केवल लवणविलयन आधान रक्तदाब बढ़ाने में असमर्थ होता है, तो रुधिराधान अथवा प्लाज्माधान रोगी की जीवन रक्षा के विशेष साधन प्रमाणित होते हैं।

मूत्रपरीक्षा से जब मूत्र शर्करा और एसीटोन से मुक्त मिले तो इंसुलिन बन्द कर दी जाय और रक्तपरीक्षा की प्रतीक्षा की जाय। रक्त में उपस्थित

ग्लूकोज की मात्रा के अनुसार इंसुलिन की मात्रा निर्धारित की जाय।

मूर्छा दूर होने पर तथा कीटोसिस की अवस्था ठीक हो जाने के पश्चात् प्रायः रोगी को बड़ी दुर्बलता मालूम होती है। उसको कुछ श्वासकष्ट भी होता है। वह ठहर ठहर कर लम्बे श्वास लेता है। इन दोनों दशाओं का कारण ऊतको में अन्तर्कोशिका स्थान (intercellular space) में पोटासियम आयनों की कमी होती है। जिससे पेशियो की संकोच की क्षमता घट जाती है इसी कारण से रोगी को दुर्बलता प्रतीत होती है। मध्यच्छदा पेशी की दुर्बलता श्वासकष्ट का कारण होता है। लवण विलयन आधान के प्रभाव से जो द्रव उतकों में रक्त से चला जाता है उसके कारण तथा ग्लूकोज इंसुलिन के प्रभाव के कारण रक्त से ऊतकों में चली जाती है उसके साथ ही पोटासियम भी कोशिकाओं मे पहुँच जाती है। इस कारण रक्त में पोटासियम की कमी हो जाती हैं जिससे पेशियों को पोटासियम की पर्याप्त मात्रा नहीं मिल पाती। उसका फल दुर्बलता होती है।

अतएव रोगोत्तर अवस्था मे जब मूत्रत्याग सन्तोषजनक होने लगे तो रोगी को पोटासियम देना आवश्यक है (रोग की अवस्था में नही)। २ ग्राम पोटासियम क्लोराइड प्रतिघंटे ३ या चार बार देना पर्याप्त है। या उसकी थोड़ी मात्राये प्रत्येक ३ या ४ घंटे पर तीन चार दिन तक दी जायं। यदि रोगी मुंह से न ले सके तो पोटासियम क्लोराइड का १% का विलयन बनाकर उसके २०० मि० लि० शिरा द्वारा दे दिये जाय। किन्तु यदि मूत्र त्याग भली प्रकार नहीं हो रहा हो तो पोटासियम देना उचित नही।

आहार—मूर्छा के दूर हो जाने और मूत्र त्याग भली प्रकार से प्रारंभ हो जाने के पश्चात् रोगी को एक पाव दूध प्रतितीन घंटे पर दिया जाय और बीच में उसको फलों का रस, जल, मांसरस (यदि रोगी मासाहारी हो) भी दिये जायं। साथ उसको कार्बोहाइड्रेट अतिरिक्त मात्रा में देना आवश्यक है। अनेक बार मूत्र मे एसीटोन आदि कीटोन पदार्थ फिर से आने लगते हैं। उनके लिये साधारण चीनी या ग्लूकोज़ दिये जायं। इंसुलिन के इंजैक्शन के पश्चात् तीन बार के दूध के साथ उसको १ औंस चीनी या ग्लूकोज़ देना उचित है। इससे लगभग १५० ग्राम कार्बोहाइड्रेट रोगी को मिल जायगा। यदि मूत्र परीक्षा में ग्लूकोज़ मिले और एसीटोन भी हो तो इंसुलिन की मात्रा बढ़ा दी जाय और रोगी को कार्बोहाइड्रेट भी अधिक दिये जांय। मूत्र को शर्करा और एसीटोन से मुक्त रखना आवश्यक है। ग्ललूकोज़ अल्पमात्रा में रहना बुरा नही है। किन्तु एसीटोन तनिक भी नहीं होना चाहिये।

कीटोसिस से मुक्त होने पर रोगी को पूर्व के अनुसार मिलने वाले साधारण (मधुमेहोपयोगी) आहार पर धीरे धीरे पहुँचाया जा सकता है।

२. मधुमेहजन्य कोथ (Diabetic gangrene)

यह एक शल्य रोग है। वह मुख्यतया कोथ है किन्तु मधुमेह के कारण उत्पन्न हुवा है। यह प्रायः एक पाव या टाग में प्रारंभ होता है। मधुमेह के कारण वहाँ के ऊतक पहिले ही अशक्त होते हैं। इस पर वहा आघात लगने, साधारण पिन या कील के पाव में धंस जाने से ऊतक और भी क्षत हो जाते हैं। तिस पर जब वहां संक्रमण पहुँच जाता है तो वह प्रचण्ड रूप ले लेता हैं। अवयवी तृणाणुवों के साथ स्ट्रिप्टो, स्टेफिलो आदि मिले रहते हैं। ऊतक प्रतिक्रिया करने में असमर्थ होने के कारण गलते चले जाते हैं।

रोग इतनी शीघ्रता से फैलता है कि रोगी की जान बचाने के लिये आक्रान्त स्थान से दूर ऊपर अंग का उच्छेदन करना पड़ता है। पांव के कोथ में जानु के ऊपरि से उच्छेदन करना आवश्यक हो सकता है।

इस रोग की अधिक ज्ञान प्राप्ति के लिए किसी शल्य की पुस्तक का अवलोकन करना चाहिये।

मूर्छा के पश्चात् मधुमेह के जीवन का अन्त करने वालों मे इस उपद्रव का दूसरा नम्बर है।

३. फुफ्फुस का टुबर्किलोसिस-राजयक्ष्मा
(pulmonary tuberculosis)

इंसुलिन से पूर्व के दिनों में मधुमेह के रोगियों को होने वाला और उनका प्राणान्त करने वाला यह तीसरा उपद्रव था। उस समय इस रोग की कोई विशिष्ट औषधि नहीं थी। मधुमेह के अनेक रोगियों का देहान्त राजयक्ष्मा से होता था। अब भी इस उपद्रव का बहुत भय रहता है। यदि किसी मधुमेह के रोगी को ज्वर रहने लगे, खासी आये तथा उसका शरीरभार अकस्मात् तीव्र गति से घटने लगे तो सदा राजयक्ष्मा का सन्देह करना चाहिये। केवल शरीर भार का अकस्मात् बिना किसी विशेष कारण के द्रुत ह्रास राजयक्ष्मा का सूचक है। यदि ऐसा हो तो उसका अन्वेषण तत्परता से करके आधुनिक राजयक्ष्मा रोग की विशिष्ट औषधियों तथा इंसुलिन द्वारा रोग को रोकना अथवा रोगी को रोगमुक्त करना कठिन नहीं हैं। किन्तु समय विशेष महत्व का है। शीघ्रातिशीघ्र चिकित्सा प्रारंभ करनी चाहिये।

४. अन्य संक्रमण—

कार्बन्किल (Carbuncle)—यह उपद्रव भी विशेषतया मधुमेह के रोगियों को होता है। यह एक बहुमुखी विद्रधि होती है जो त्वचा के नीचे के ऊतक (अधस्त्वक् subcutaneous) में उत्पन्न होती है। ऊपर चर्म में इसके कई छिद्र बन जाते हैं जिनके द्वारा पूय का स्राव होता रहता हैं। किन्तु त्वचा के नीचे गले हुवे ऊतक जिसको स्लफ् (slough) कहते हैं उसके परत जमे रहते हैं। प्राय: शस्त्र कर्म द्वारा इन गलित भागों को काट कर निकालना पड़ता है।

यह रोग पूर्व-पेनिसिलिन काल में बहुत होता था और प्राय: घातक होता था। किन्तु पेनिसिलिन के आविष्कार के पश्चात् तो यह रोग जैसे उड़ ही गया। जिनको होता है, (और उनही को होता है जो प्रारंभ ही मे पेनिसिलिन का उपयोग नहीं करते) उनको भी पैनिसिलिन के चार-छै इन्जैक्शनों से ठीक हो जाता है। शस्त्र कर्म की आवश्यकता बहुत असाधारण हो गई है।

इस रोग का कारण स्ट्रिप्टो तथा स्टेफिलो कोकस ही विशेष होते हैं। इसके साथ अन्य पूयोत्पादक तृणाणु भी मिले रहते हैं। मधुमेह मे त्वचा तथा अन्य ऊतक इन तृणाणुवों द्वारा विशेषतया बध्य हो जाते हैं। और तब पूयोत्पादन की दशा मे ऊतकों में शर्करा के उपयोग की सामर्थ्य उत्पन्न करने के लिये भी इंसुलिन की अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है।

फोड़े, फुन्सी, खुजली अन्य दशाये हैं जो इन तृणाणुवों के कारण उत्पन्न होती हैं।

वृक्क, मूत्राशय आदि में तृणाणुवों के कारण शोथ उत्पन्न हो सकता है जो बड़ा कष्टसाध्य रोग है। कभी वृक्कों के ग्लोमेर्यूलस या केशिकास्तवकों मे एक विशेष रोग हो जाता है जिससे उनके कर्म का ह्रास होता है। वृक्क अकर्मण्य हो जाते हैं।

अन्य निम्नलिखित उपद्रव हो सकते हैं :—

५. नेत्रों में मोतियाबिन्द। यह बालकों में अधिक बनता है जिनकी भलीभांति चिकित्सा नहीं हुई है। रेटीना में परिवर्तन हो जाते है। कोराइड की रक्त केशिकाओं में छोटे छोटे प्रसार हो जाते हैं जिनको एन्यूरिज्म कहते हैं।

६. नाड़ीसंबधी विकार हो सकते हैं।

७. धमनी में एथीरोस्क्लिरोसिस हो जाती है। एथीरोमा बन कर रक्त प्रवाह में अवरोध उत्पन्न करके वे अतिरक्तदाब का कारण हो सकते हैं।

८. गर्भ भी मधुमेह के प्रभाव से नहीं बचता। रोगग्रस्त माताओं को गर्भ विषायणता (Toxaemias of Pregnancy) अनेक बार हो जाती हैं। शिशु की मृत्यु प्रसव के तनिक पूर्व या पश्चात् हो जाती है। भ्रूण उल्वक कोष में बहुत बार तरलाति वृद्धि (hydramnios) हो जाती है।

९. हृदय के मध्य पेशी स्तर जिसको पेशीहृद (Myocardium) कहते हैं, उसमें अपकर्ष (Degeneration) हो सकता है। अर्थात् उसकी कोशिकाये गलने या नष्ट होने लगती हैं। इसी कारण मधुमेह के अनेक रोगियो में परिमण्डली घनास्रता (Coronary thrombosis) हो जाती है। धमनियों में कोलेस्टरोल के जम जाने के कारण एथीरोसिस (एथीरोमा बनना) हो कर जो अतिरक्तदाब होता है वह भी घनास्रता उत्पन्न करने में सहायक होता है।

१०. न्यूनशर्करारक्तता (Hypoglycaemia)

यह उपद्रव वास्तव में चिकित्सा क्रम में इंसुलिन की अधिक मात्रा पहुँचने का फल होता है। जिस प्रकार इंसुलिन की कमी से अतिशर्करारक्तता होती है। उसी प्रकार इसुलिन की अधिकता से रक्त में उपस्थित मात्रा सामान्य स्तर से भी घट जाती है। इसको न्यूनशर्करारक्तता कहा जाता है। यह दशा भी उतनी ही भयानक है जितनी अतिशर्करारक्तता। इससे भी मूर्छा हो जाती है।

लक्षण—यह दशा इंसुलिन की अति मात्रा ही के कारण उत्पन्न होती है। इंसुलिन दो प्रकार की होती है एक विलेय (soluble) जो तुरन्त ही घुल कर उसका अवशोषण हो जाता है। और दूसरी 'डिपो इंसुलिन' (depot insulin) कहलाती है जो इन्जेक्शन के स्थान पर एकत्र हो जाती है जहा से उसका धीरे धीरे अवशोषण होता रहता हैं। इसकी क्रिया अधिक समय तक होती रहती है। पहले प्रकार की इंसुलिन का विशेष उपयोग तात्कालिक दशाओं (emergencies) जैसे गतपृष्ठों में वर्णन की हुई मूर्छा आदि में आवश्यक होता है। दूसरे प्रकार की इंसुलिन साधारण चिकित्सा क्रम में प्रयोग की जाती है। न्यूनशर्करारक्तता का प्रायः विलेय इंसुलिन ही कारण होती है। किन्तु कभी कभी दूसरी से भी उत्पन्न हो जाती है। दोनों के लक्षणों में कुछ भेद होता है।

विलेय इंसुलिनजन्य दशा के ये लक्षण हैं :—अकस्मात् दुर्बलता, शरीर मे नितान्त अशक्यता, पसीना आने लगना, हाथ-पावों का कापना, हृदय की धड़कन, नाडी का तीव्र हो जाना, शिर चकराना, नेत्रों के सामने अंधेरा, तारे टूटते से दिखाई देना, शिरदर्द, स्मृतिनाश के आक्रमण, विभ्रम, पेट में दर्द,

वमन, हाथों-पांवों का ठंडा हो जाना, पेशियों में बाँयटे। रोगी बोल नही पाता। कुछ समय में अचेतन हो जाता है। मूर्छा हो जाती है। कुछ रोगियों में उन्माद के से लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। अकस्मात् विवर्णता और फिर मूर्छा यह दशा बालकों मे पाई जाती है।

यह दशा विलेय इंसुलिन के इन्जैक्शन के तीन या चार घंटे पश्चात् आरंभ होती है। कभी कभी ६, ७ घटे भी लग जाते हैं। यह दशा इतनी भयंकर नहीं होती जितनी मधुमेहजन्य संमूर्छा। ग्लूकोज़ मुंह से खिलाने से शीघ्र ही ठीक हो जाती है। किन्तु इसके बार बार आक्रमण हो सकते है। और कई बार तीव्र होने से या सामयिक सहायता न पहुँचने से वह घातक भी हो सकता है। अतएव इसकी चिकित्सा इंसुलिन की मात्रा घटा देना है। इस दशा से सब से अधिक मस्तिष्क और हृदय प्रभावित होते हैं। इन दोनों को ग्लूकोज़ की अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक आवश्यकता होती है, हृदय से भी अधिक मस्तिष्क को। इस दशा से उग्र उन्माद अथवा पक्षाघात (Hemiplegia) तक हो सकते है।

डिपो इंसुलिनजन्य न्यूनशर्करारक्तता के लक्षण देर से आरंभ होते हैं। प्रातः काल के इंजेक्शन से संध्या या रात्रिको लक्षग प्रकट होते हैं। शिर दर्द, जी मिचलाना, वमन, शिर चकराना, विभ्रम, विचारशक्तिनाश, तन्द्रा, जिससे रोगी को उठाना कठिन होता है और तब मूर्छा ये ही विशेष लक्षण होते हैं। इसकी मूर्छा अधिक गहरी और दीर्घकालिक होती है।

चिकित्सा—यह दशा भयजनक नही होती। केवल ग्लूकोज खिलाना पर्याप्त होता है। यदि रोगी मूर्छित या अर्ध मूर्छित हो और मुंह से खाने या निगलने में असमर्थ हो तो १. १००० के एड्रिनेलिन सोल्यूशन के ०'५ मि० लि० का इंजैक्शन दे दिया जाय। इससे यकृत् से अधिक ग्लायकोजिन रक्त में आने लगेगी जिससे तन्द्रा कम हो जायगी और वह मुंह से ग्लूकोज़ खाने के योग्य हो जायगा यदि फिर भी उसकी मूर्छा दूर न हो तो आमाशय मे रबड़ नलिका को प्रविष्ट करके उसके द्वारा ग्लूकोज़ को जल में घोल कर उसको प्रविष्ट किया जाय।

जिन मधुमेह के रोगियों की इंसुलिन द्वारा चिकित्सा हो रही हो उनको इस आपत्ति की संभावना और उसके निवारण के उपाय पहिले ही से समझा देने चाहिये। यह दशा प्रायः रोगी के अति परिश्रम करने या भोजन में अतिविलंब से उत्पन्न होती है। अतएव वे निश्चित समय पर अवश्य भोजन कर लेवें। इंसुलिन के इंजैक्शन के पश्चात् वे प्रायः काल निर्दिष्ट उपाहार करे। और

उसके चार घंटे के पश्चात् चिकित्सक द्वारा उपदिष्ट मध्याह्न का आहार करे। यदि कार्यवशात् वे ऐसा कभी न कर पावे तो वे कुछ कार्बोहाइड्रेट आहार, डबल रोटी मक्खन अपने साथ रखे और ठीक समय पर खा ले। वे चीनी सदा अपने साथ रखे। चीनी के बने हुवे क्यूब बाजार में बिकते हैं। उनका एक पैकट वे सदा जेब में डाले रखे। यदि कभी उनको अकस्मात् दुर्बलता, शरीर का हलकापन, शिर दरद या घूमता हुवा, बेहोशी सी या ऐसे ही लक्षण मालूम हों तो तुरन्त थोड़े से क्यूब खाकर जल पी ले।

यदि रोगी को ऐसा आक्रमण हो तो इंसुलिन की मात्रा घटा दी जाय। उसके ५ मात्रक कम कर दिये जायें।

चिकित्सा

मधुमेह की चिकित्सा के दो आधार हैं, (१) आहार और (२) इंसुलिन या अन्य शर्करालायी योगों का उपयोग। इनमें भी आहार का नियन्त्रण अधिक महत्व का है। स्थूलता एक ऐसी दशा है जिसको दूर करना रोग की चिकित्सा के लिये अनिवार्य है। स्थूलकायों के शरीर में इतनी वसा होती है कि वे कुछ काल तक उसी पर रह सकते हैं। किन्तु उस वसा को जलाने के लिये भी कार्बोहाइड्रेट रूपी ईंधन की आवश्यकता होती है। इस कारण आहार की मात्रा को घटाने पर कार्बोहाइड्रेट देना आवश्यक होता है। स्थूलकाय अधिक खाने के अभ्यस्त होते हैं। इस कारण आहार की कमी इनको सहन नहीं होती। वे चिकित्सक को नाना प्रकार की आपत्तियाँ बताते हैं। अत्यन्त दुर्बलता प्रतीत होने और काम के अयोग्य होने की शिकायत करते हैं। किन्तु वे सब उनके बहाने हैं जिनसे चिकित्सक को न डिगना चाहिये। स्वयं उनकी भलाई के लिये उनका शरीर भार न केवल सामान्य (सामान्य सदा औसत द्योतक होता है) किन्तु मानक (standard) माप पर आ जाना चाहिये। ५ फुट ६ इंच के ४० वर्ष के व्यक्ति का शरीरभार (हलके कपड़े सहित) १५० पौंड (७० किलोग्राम) से अधिक न होना चाहिए। धीरे-धीरे उनका आहार कम करके उनके शरीर भार को घटाकर मानक माप पर ले आना चाहिये। उनके आहार का केलोरिक मूल्य घटाना, विशेषतया कार्बोहाइड्रेट का, अत्यन्त आवश्यक है।

आहार

मधुमेह के रोगी के शरीर की आवश्यकतायें स्वस्थ व्यक्ति के समान ही हैं। उसको भी २५०० केलोरी के आहार की प्रतिदिन आवश्यकता है जो ७५ ग्राम प्रोटीन, ६० ग्राम वसा और ४६० ग्राम कार्बोहाइड्रेट के रूप में

उसको मिलना चाहिये। किन्तु वह इतने कार्बोहाइड्रेट का उपयोग नही कर सकता जिसके कारण उसको अतिशर्करारक्तता हो जाती है। इस कारण कार्बोहाइड्रेट को विशेषकर घटाना आवश्यक है। २०० ग्राम कार्बोहाइड्रेट उनको प्राय: पर्याप्त होता है। इससे रोगियों को कोई असुविधा भी नही होती और मूत्र शर्करा भी घट जाती है। जो स्थूलकाय रोगी हों उनका १०० ग्राम कार्बोहाइड्रेट से काम चल सकता है। किन्तु उनको शय्यारूढ करके रखना चाहिये जिससे उनकी कार्बोहाइड्रेट की आवश्यकता कम हो जाय। ऐसे रोगियों की दैनिक कार्बोहाइड्रेट की आवश्यकता का भली प्रकार अनुमान कर लेना चाहिये जिससे आहार द्वारा दिये जाने वाले कार्बोहाइड्रेट में इतनी कमी न हो जाय कि रोगी की शारीरिक वसा का अत्यधिक संचालन होने से रक्त में कीटोसिस हो जाय।

प्रोटीन की मात्रा स्वस्थ व्यक्ति के आहार के समान ही रखी जाय अथवा और बढा दी जाय क्योंकि उसका कुछ भाग ग्लूकोज़ उत्पादन के लिये प्रयुक्त होगा। पूर्ण आहार के मूल्याङ्क की ११ प्रतिशत केलोरी अवश्य प्रोटीन से प्राप्त होनी चाहिये। इससे अधिक हो तो उत्तम है। ९० से १०० ग्राम प्रोटीन प्रतिदिन देना उचित है। वसा भी लगभग इतनी ही होनी चाहिये।

दूसरा उपाय यह है कि प्रारंभ मे रोगी का सामान्य आहार कुछ दिन तक बन्द कर दिया जाय। उसको केवल ५% (का.) वाले शाक और फल दिये जाँय (इनकी एक लिस्ट पुस्तक के परिशिष्ट में दी गई है)। यदि रोग तीव्र है जिसका भार के ह्रास से अनुमान किया जा सकता है, तो रोगी को शय्यारूढ करके रखा जाय किन्तु यदि रोग अतितीव्र नहीं है, रोगी भी पुष्ट है और उसको काम पर भी जाना है तो शाकों के साथ उसको दही दिया जा सकता है। जितना दही दिया जाय उसकी केलोरी मालूम कर ली जाँय। मूत्र की नित्य या दिन मे दो बार परीक्षा करके ग्लुकोज़ की मात्रा मालूम करते रहना चाहिये। कुछ ही दिनों मे मूत्र शर्करामुक्त हो जायगा। तब उसके आहार में धीरे-धीरे वृद्धि की जाय। किन्तु नित्य मूत्र जाँच से आहारवृद्धि का नियन्त्रण करते रहना आवश्यक है। ग्लूकोज़ ½% से बढते ही आहारवृद्धि को रोक दिया जाय। इस प्रकार कई महीने पर रोगी इस दशा में आ जायगा कि उसकी आवश्यकता के अनुसार उसको पर्याप्त पोषण वाला आहार दिया जा सके और मूत्र में शर्करा भी न बढ़ने पावे।

आरंभ मे आहार बन्द करने के समय मूत्र की नित्य जाँच आवश्यक है और रक्त परीक्षा सप्ताह में एक बार। फिर जब रोगी की दशा स्थिर हो जाय,

शर्करा की मात्रा में अधिक घटा–बढ़ी न हो और शरीरभार का ह्रास भी बन्द हो जाय तो सप्ताह में दो बार मूत्रपरीक्षा और मास में एक बार रक्त परीक्षा की जाय।

तीसरा उपाय यह भी बताया गया है कि रोगी के आहार के किसी विशेष अवयव को न घटाया जाय। सारा आहार ही इतना घटाया जाय कि रोगी को उससे कोई असुविधा न मालूम हो। प्रारंभ मे यह कठिन होगा। रोगी का पेट न भरेगा, और उससे अधिक उसका मन न भरेगा। यदि रोगी ८ रोटी खाता था तो अब ४ रोटी देने से-उसको प्रतीत होगा कि उसने कुछ खाया ही नही। अतएव उसको ४ रोटी देने के पश्चात् हरी पत्ती वाले शाक, पालक, सलाद, मूली आदि खाने को दी जाँय। जो ४ रोटी खाता था उसको २ ही रोटी दी जाँय। दाल-घी आदि की मात्रा को आधी करके उसके पेट को शाकों से भरा जाय। और तब कुछ दिनों में मूत्र शर्करा मात्रा के स्थिर हो जाने पर आहार की मात्रा बढ़ाई जाय। किन्तु उसका शरीरभार, जो घट कर प्रामाणिक स्तर पर पहुँच गया है, उसको न बढ़ने दिया जाय।

युवा या प्रौढावस्था के साधारण स्थूल रोगियों में केवल आहार के नियन्त्रण से रोग ठीक हो जाता है। उनको इंसुलिन देना आवश्यक नही होता। इस रोग की चिकित्सा का फल रोगी के सहयोग और आत्मनियन्त्रण पर निर्भर करता है। यदि रोगी अपने आहार मे अनासक्त हो सकता है और आहार को जीवनार्थ (जीवन को आहारार्थ नही) समझकर ग्रहण करने में आरूढ़ हो सकता है तो उसका अवश्य ही किसी स्वस्थ व्यक्ति के समान दीर्घ उपयोगी जीवन का अधिकारी होना संभव है।

बालकों और पतले दुबले व्यक्तियों मे यह क्रम सफल नहीं होता। उनको रोग तीव्र होता है और उनमें वसा संचय न होने से कोई ऊर्जा का रक्षित भंडार भी नहीं होता। उनमें इंसुलिन का प्रयोग आवश्यक होता है।

इंसुलिन (Insulin)

अग्न्याशय की लैंगरहैन्स की द्वीपिकाओं मे बनने वाला यह हारमोन एक प्रकार की प्रोटीन है। यद्यपि इसका रासायनिक संघटना भली प्रकार अध्ययन किया जा चुका था तो भी पिछले ३५ या ४० वर्ष में अन्वेषकों द्वारा इसको प्रयोगशालाओं में तैयार करने मे सफलता मिली है। यह मुंह से खिलाने पर आन्त्र मे पाचकरसों द्वारा नष्ट हो जाता है। इस कारण इसको इन्जैक्शन द्वारा ही देना होता है।

इंसुलिन की क्रिया

दो प्रकार की इंसुलिन बताई जा चुकी है। एक साधारण विलेय इंसुलिन और दूसरी डिपो इंसुलिन, जिसमे कोई रासायनिक पदार्थ मिला कर उसके अवशोषण की गति घटा दी जाती है जिसमे इसुलिन की क्रिया अधिक समय तक होती रहती है।

विलेय इंसुलिन की क्रिया अधस्त्वक् इन्जैक्शन देने के २ से ६ घंटे पश्चात् अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचती है। उसके पश्चात् घटने लगती है। और ४ से ८ घंटे में समाप्त हो जाती है। इस कारण रोगी को कम से कम २४ घटे में दो बार इंसुलिन देना आवश्यक होता है। इसकी मात्रा का निर्धारण रक्त शर्करा स्तर के अनुसार किया जाता है। जितनी ग्लूकोज रक्त में अधिक होती है उतनी ही अधिक इसुलिन आवश्यक होती है। अतितीव्र दशाओं के अतिरिक्त साधारणतया १० से २० मात्रक इंसुलिन दिन में दो बार देना पर्याप्त होता है।

विलेय इंसुलिन की क्रिया तत्काल होने से तीव्र दशाओं में उस ही का उपयोग किया जाता है। कीटोसिस का उल्लेख किया जा चुका है। तीव्र संक्रामक रोगों तथा वमन-दस्त आदि आन्त्र विकारों के होने पर भी विलेय इंसुलिन ही का प्रयोग लाभदायक होता है। २०, ४० तथा ८० मात्रक प्रति मिली लिटर की विलेय इंसुलिन बनाई जाती हैं।

डिपो इंसुलिन—इनमे विशेषकर यशद (zinc) मिलाया जाता है। ये भी कई प्रकार के योग बनाये जाते हैं जो निम्नलिखित हैं। इन की क्रिया विलंबित होती है। इस लिये ये तीव्र दशाओ के लिये उपयुक्त नहीं हैं। किन्तु साधारण रोग में दिन में केवल एक ही इंजेक्शन से काम चल जाता है।

प्रोटेमीन जिंक इंसुलिन (protamine zinc insulin)

इसको साधारणतया PZI कहा जाता है। इसमें यशद के अतिरिक्त प्रोटेमीन भी मिलाया जाता है। जिससे इंसुलिन का अवशोषण देर से होता है। इसका पूरा प्रभाव ८ से १२ घंटे पर होता है और १४ से २४ घंटे में समाप्त हो जाता है। अतएव इसकी रक्त पर पूर्ण ग्लूकोलायी क्रिया ८ घंटे के पूर्व नहीं प्रारंभ होती। अर्थात् यदि प्रात. काल ८ बजे इंजेक्शन दिया जाय तो उसका प्रभाव १२ या १ बजे संध्या के पूर्व नही होगा। और सबसे अधिक प्रभाव संध्या को ४ और ८ के बीच में होगा तथा रात्रि के १२ बजे तक बना रहेगा, यद्यपि संभावना दूसरे दिन प्रातः ८ बजे तक बने रहने की है। इसका निश्चय करने के लिये समय समय पर मूत्र लेकर परीक्षा करना आवश्यक है और

उसी के अनुसार रोगी को कार्बोहाइड्रेटयुक्त आहार देना होगा। अर्थात् १२ बजे दोपहर को, ४ बजे संध्या को और रात्रि को ८ और ९ के बीच मे। किन्तु इससे प्रातःकाल के नाश्ते से जो अतिशर्करारक्तता होगी उस पर इंसुलिन का कोई प्रभाव नहीं होता। प्रातःकाल ८ या ९ बजे के मूत्र में ग्लूकोज़ होगी। किन्तु बारह बजे के पश्चात् लिये हुवे मूत्रों में घटती जायगी। ४ बजे सन्ध्या के पश्चात् का मूत्र शर्करामुक्त होगा।

इसलिये प्रात. साधारण विलेय इंसुलिन का भी प्रोटेमिनजिक इंसुलिन के साथ, दोनों की समान मात्रा का, इंजेक्शन दिया जाता है। एक ही सिरिंज से इंजेक्शन दिया जा सकता है किन्तु दोनों आपस में मिलने न पावे। पहले प्रोटेमिनजिक इंसुलिन वाली शीशी में जितनी औषधि लेनी हो उतनी वायु सिरिंज में भर दो। फिर सिरिंज में विलेय इंसुलिन की इच्छित मात्रा भर लो। तब इसी में प्रोटेमीन ज़िक इंसुलिन भर लो। उसको बिना हिलाये ही इंजेक्शन दे दो। दोनों नहीं मिलेंगी।

इंसुलिन जिक अवलंब (Suspensions) भी बनाये गये हैं। ये तीन प्रकार के योग बाजार में बिकते हैं।

(१) AZS (Amorphous Zinc Suspension), ए, जेड, एस के नाम से बिकने वाले योग में यशद अवलंब के रूप मे रहता है। इसका अवशोषण अन्य अवलंबों की अपेक्षा द्रुत किन्तु विलेय की अपेक्षा धीमा होता है।

(२) CZS (क्रिस्टली, Crystalline) साधारणतया सी. जेड. एस. कहलाता है। इसको 'semilente' भी कहते हैं। इसकी क्रिया और भी मन्दी है। १० से १४ घंटे मे अधिकतम होती है। किन्तु १८ से ३० घंटे तक बनी रहती है।

(२) IZS.. इसको 'Lente' भी कहा जाता है। इसमे तीन भाग AZS और ७ भाग CZS के मिले रहते हैं। इसी रूप का अधिक प्रयोग होता है। इसका प्रभाव २४ घंटे तक एक समान पाया गया है। इसका प्रातःकाल एक इंजेक्शन दिया जाता है। इसके साथ जो आहार दिया जाय उसमें संध्या या रात्रि के भोजन में कार्बोहाइड्रेट घटा दिये जायँ। प्रातः या दोपहर को उपयुक्त मात्रा में रहे।

इन डिपो इंसुलिनों का दोष यह है कि तीव्र दशाओं में या अकस्मात् तीव्र दशा उत्पन्न होने पर उन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। उन दशाओं में साधारणतया विलेय इंसुलिन ही का प्रयोग करना पड़ता है। रोगी के एक

बार तीव्र दशा से पार हो जाने के पश्चात् जब उसकी दशा स्थिर हो जाती है, रक्त में शर्करास्तर में अधिक घटा बढ़ी नहीं होती तो डिपो इंसुलिनों का प्रयोग ठीक है। उनमें भी प्रोटेमिन जिंक इंसुलिन अथवा IZS लेन्टी कहीं अधिक उपयोग होता है।

इंसुलिन देने की विधि—

जो कुछ गत पृष्ठों में बताया गया है उस से स्पष्ट है कि रक्त में शर्करा की मात्रा और इंसुलिन की मात्रा तथा कब कब इंसुलिन शरीर को उपलब्ध होनी चाहिये इनमें गहरा संबंध है। इंसुलिन देने का प्रयोजन ही यह है कि अति-शर्करा कभी न होने पावे। सदा रक्त में शर्करा सामान्य स्तर (८०–१२० मि. ग्राम/१०० मि. लि. रक्त) पर रहे। मध्याह्न के भोजन के पश्चात् भी १७५ मि. ग्रा. से अधिक न हो। अतएव समय समय पर रक्त में शर्करा की अनाहार मात्रा (Fasting blood sugar) और आहारोत्तर मात्रा भी जानते रहना चाहिये। प्रारंभ में सप्ताह में एक बार और फिर मास में एक बार परीक्षा आवश्यक है। साधारणतया मूत्रपरीक्षा से रक्तशर्करा का अनुमान कर लिया जाता है। किन्तु विषम अवस्थाओं में वृक्क की क्षति होने के कारण अतिशर्करारक्तता होने पर भी मूत्र शर्करामुक्त होता है।

मूत्रपरीक्षा दिन में कई बार करनी आवश्यक है। प्रत्येक बार इंसुलिन देने के पूर्व परीक्षा करनी चाहिये। इंसुलिन की मात्रा को मूत्र में उपस्थित शर्करा की मात्रा के अनुसार ही घटाना बढ़ाना आवश्यक होता है। फिर मध्याह्न के डेढ या दो घंटे पश्चात्, फिर उपाहार के दो घंटे पश्चात् और रात्रि को भोजन के पश्चात् मूत्र एकत्र करके उसकी जाँच करनी चाहिये। चार-पाँच दिन तक इस प्रकार मूत्र की जाँच करने से शर्करा के घटने-बढने का पता लग जायगा और उसका आहार से संबंध भी मालूम हो जायगा। उसी के अनुसार इंसुलिन की मात्रा निर्धारित करनी चाहिये।

५ मात्रक इंसुलिन से प्रारंभ किया जाय और नित्य या दूसरे-तीसरे ५ मात्रक बढ़ाते जायँ जब तक कि मध्याह्न भोजनोपरान्त मूत्र शर्करामुक्त न हो जाय। इसी प्रकार रात्रि के भोजन के पश्चात् के मूत्र में भी शर्करा नही होनी चाहिये। इस हेतु विलेय इंसुलिन प्रातः और सायं दो बार देनी होती है। ज़िंक इंसुलिन देकर बारंबार मूत्रपरीक्षा द्वारा मालूम करना चाहिये कि उसका प्रभाव कब तक रहता है। और उसी के अनुसार इन्जेक्शन देने के समय, दो बार इंजेक्शन देने, विलेय इंसुलिन को जिंक इंसुलिन के साथ मिलाने, ज़िंक इंसुलिन के कौन से प्रकार को देने, आदि का निर्णय करना चाहिये।

जहाँ इंसुलिन का प्रयोजन अतिशर्करारक्तता न होने देना है वहाँ न्यून शर्करारक्तता भी न होनी चाहिये और न रोगी का शरीरक्षय या बलक्षय होना चाहिये। इस लिये इंसुलिन और आहार का इस प्रकार सामंजस्य करना चाहिये कि रोगी को केवल उतनी इंसुलिन दी जाय जितनी अतिशर्करा का निराकरण करने को पर्याप्त हो। साथ ही रोगी के पोषण मे भी कमी न आने पावे।

शरीरभार का नियंत्रण

रोग की चिकित्सा की विधि के विस्तृत वर्णन से शरीरभार के नियन्त्रण का महत्व भलीभाँति विदित हो चुका होगा। अनेक स्थूलकाय व्यक्तियों में केवल शरीरभार को घटाने से उनका रोग ठीक हो जाता है। अति शरीरभार और मधुमेह दोनों जाते रहते हैं। ऐसे रोगियों की चिकित्सा चिकित्सक के लिये समस्या नहीं होती। बहुधा उनको इंसुलिन आवश्यक नहीं होती। केवल उनका आहार घटाना आवश्यक होता है। उनके शरीर की लम्बाई-चौड़ाई, गठन, लिंग, व्यवसाय आदि का विचार करते हुवे उनकी शारीरिक आवश्यकताओं के अनुसार आहार की मात्रा निर्णीत करनी चाहिये। उनको दैनिक व्यवसाय से तनिक भी न रोका जाय। केवल आहार को रोका जाय। ऐसे व्यक्तियों को इंसुलिन देने का बहुधा उलटा प्रभाव होता है। उनकी क्षुधा बढ जाती है। अधिक खाने लगते हैं और शरीरभार और बढ़ जाता है। ऐसे व्यक्तियों की चिकित्सा केवल शरीरभार घटाना है।

स्थूलकाय या अतिभार न होने पर भी जिनको रोग के विशेष लक्षण नही होते, रात्रि को मूत्रत्याग के लिये नहीं उठना पड़ता, प्यास भी अधिक नहीं लगती, साधारण दैनिक कार्य करने में दुर्बलता भी नहीं प्रतीत होती, केवल आकस्मिक किसी घटना से, बीमे के लिये जाँच आदि से मूत्र में ग्लूकोज़ का पता लगने वाले व्यक्तियों का आहार नियन्त्रण से ठीक हो जाता है। चीनी, चावल, आलू आदि के बन्द करने से मूत्र शर्करामुक्त हो जाता है। इस श्रेणी के व्यक्तियों को भी इंसुलिन की आवश्यकता नहीं होती। हाँ, उनके आहार की मात्रा घटाना उचित नहीं है। स्थूलता या अतिभार न होने से उनमें रक्षित भंडार का संग्रह नहीं है। उनके आहार मे हेरफेर करना पड़ेगा। स्टार्च घटा कर प्रोटीन बढ़ानी होगी। उनका आहार स्वस्थ व्यक्ति के समान ही केलोरी मूल्य का होना चाहिये।

तीसरी श्रेणी वास्तविक रोगियों की है जिनका पहले ही शरीर क्षय हो चुका है, शरीरभार घट गया है, रात्रि को बार-बार मूत्रत्याग के लिये उठने से निद्रा-नाश और जल तथा लवण और नाइट्रोजन हानि के द्वारा जो पहले ही क्लान्त

हो रहे हैं, जिनमे निर्जलीभवन के लक्षण स्पष्ट हो चुके हैं उनकी चिकित्सा बिना इंसुलिन के नहीं हो सकती। उनकी चिकित्सा का आधार ही इंसुलिन है। उनके शरीरभार घटाने के स्थान में शरीरभार बढ़ाने का प्रश्न है। उनके भार को बढ़ा कर प्रामाणिक तौल पर पहुँचाना है। अतएव उनको पर्याप्त मात्रा का कर्बोहाइड्रेटयुक्त आहार देना और रक्त में अतिशर्करा का इंसुलिन द्वारा निराकरण करना चिकित्सा का मौलिक प्रयोजन है। एक ओर उनके शरीर के ऊतकों में ग्लूकोज़ का उपयोग करने की शक्ति को बढाया जाता है इंसुलिन द्वारा और दूसरी ओर उनको ग्लूकोज़ की प्रचुर मात्रा दी जाती है। रोगी को कार्बोहाइड्रेट की प्रचुर मात्रा में देना और अतिशर्करा के निराकरण के लिये इंसुलिन की आवश्यक मात्रा का अंकन करके उपयुक्त समय में उसको पहुँचाने ही में चिकित्सक का कौशल है जिससे रोगी का शरीरभार धीरे-धीरे बढ़ कर प्रामाणिक स्तर पर पहुँच जाय और वह लक्षणों से मुक्त रहे।

अन्य शर्करालायी योग—

बहुत काल से मुंह से खाने के योगों को बनाने का उद्योग होता रहा है जो इंसुलिन की भाँति शर्करालायी हों। अनेक खोजों के पश्चात् सल्फोनिलयूरिया (Sulphonylurea) योगों को शर्करालायी पाया गया। इस प्रकार के तीन योग काम में लाये जाते हैं।

कारबुटेमाइड (Carbutamide), टोल्बुटेमाइड (Tolbutamide) और क्लोरप्रोपेमाइड (Chlorpropamide)।

कारबुटेमाइड जो ओरीनेज़ (orinase) के नाम से बिकता है तथा **टोल्बुटेमाइड** जिसका बाजारू नाम रैस्टीनोन (Rastinon) है इन दोनों की मात्रा २·५ ग्राम प्रथम दिन, १·५ ग्राम दूसरे दिन और तीसरे दिन से ०·५ ग्राम प्रातःकाल नाश्ते से पहिले है। इनकी ०·५ ग्राम की टिकिया आती है। अतएव पहिले दिन पाँच टिकिया, दूसरे दिन ३ टिकिया और तीसरे दिन से एक टिकिया प्रातःकाल दी जाती है। उसके आधे घंटे के भीतर रोगी को नाश्ता कर लेना चाहिये। कुछ चिकित्सक भोजन के साथ या उसके पश्चात् तुरंत देते हैं।

क्लोरप्रोपेमाइड (डायाबिनीज़, Diabenese) २५० से ५०० मिलीग्राम प्रथम दिन और फिर १००–२५० मि. ग्राम प्रतिदिन दी जाती है।

कारबुटेमाइड मे शरीर में संग्रह होने की प्रवृत्ति है। अतएव उसकी संचित क्रिया (Cumulative action) से विषायणता के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं जो विशेषतया श्वेताणुकणनाश (Agranulocytosis) और रक्त-

बिम्बाणुन्यून (Thrombocytopaenia) है। टोल्बुटेमाइड का शरीर से त्याग जल्दी होता है। इस कारण उनकी विषायणता कम समझी जाती है।

इन योगों की ठीक ठीक क्रिया का अभी तक पूर्ण ज्ञान नहीं हो सका है। ये योग उनको दिये जाते हैं जिनको रोग बहुत पुराना न हो तथा जिनको कभी कीटोसिस न हुई हो तथा जिनको नित्य प्रति ३० मात्रक से अधिक इंसुलिन की आवश्यकता न होती हो। अर्थात जिनको तीव्र रोग न हो।

स्थूलता, मोटापन (Obesity)

शरीर में वसा की अतिमात्रा के संग्रह को स्थूलता कहा जाता है। साधारणतया शरीर भार के प्रमाणित तौल से १० प्रतिशत अधिक बढने को स्थूलता माना जाता है। प्रामाणिक अथवा अभीष्ट शरीर भार का हिसाब लगाने के लिये व्यक्ति की आयु, शरीर की ऊँचाई और लिंग का विचार आवश्यक है। पुस्तक के अन्त में ऊंचाई और तौल की एक सारणी दी गई है। उसमें अभीष्ट तौल लिखी गई है। औसत तौल जो बीमा कम्पनियों के अंकों से निकाली गई हैं वे इससे कुछ भिन्न हो सकती हैं।

स्थूलता के कारण—प्रायः इसका कारण अधिक भोजन होता है। अधिकतर व्यक्तियों को शारीरिक आवश्यकता से अधिक भोजन करने की आदत होती है। स्वादिष्ट आहार पदार्थों के वे लोलुप होते हैं। वे स्वाद के आकर्षण को नहीं रोक सकते। उन पदार्थों के खाने में उनको सुख मिलता है। जब तक उनका पेट गले तक नहीं भर जाता उनकी तृप्ति नहीं होती। इतने आहार की उनको आवश्यकता नहीं होती। २५०० केलोरी से अधिक का उनका शरीर उपयोग नहीं कर सकता। किन्तु आहार ४००० केलोरी मूल्य का होता है। अतएव अनुपयुक्त आहार अवयव वसा के रूप में शरीर में एकत्र हो जाते हैं और शरीर भार बढ जाता है। ज्यों-ज्यों आयु बढती जाती है त्यों-त्यों शरीर की ऊर्जा की आवश्यकता और भी घटती जाती है। वृद्धावस्था में बहुत कम हो जाती है। यदि उस समय भी आहर की मात्रा नहीं घटाई जाती तो वह शरीर में वसा का रूप ले लेती है। जितना अधिक स्नेह तथा कार्बोहाइड्रेट-युक्त पदार्थ खाये जाते हैं उतनी ही शारीरिक वसा की वृद्धि होती है। तैल, घृत, मक्खन, चीनी, चावल, आलू, मिठाइयाँ, मलाई, क्रीम, घी में तलकर बनाये हुए पदार्थ ये सब वसा बढ़ाने वाले होते हैं।

प्राय. स्थूलता का कारण आवश्यकता से अधिक आहार करना होता है। किन्तु कुछ ऐसे व्यक्ति भी मिलते हैं जिनका शारीरिक चयापचय इस प्रकार बदल जाता है कि अल्प आहार करने पर भी उनके शरीर की वसा में वृद्धि

होती चली जाती है। वे थोड़ा खाते हैं तो भी उनकी स्थूलता बढ़ जाती है। इस परिवर्तन का कारण **हारमोनों का व्यतिक्रम** माना जाता है। किन्तु कौन सा हारमोन या कौन सी अन्त स्रावी ग्रन्थि इसके लिये उत्तरदायी है यह नहीं मालूम हो सका है। पीयूषिका के अग्रिम खंड से उत्पन्न होने वाले वृद्धि-हारमोन का अतिस्राव यह दशा उत्पन्न कर सकता है जो अन्त में मधुमेह का कारण होता है। किन्तु इसका भी कोई प्रमाण नहीं मिला है।

कुछ व्यक्तियों को **अतिक्षुधा** का रोग-सा होता है। जबतक वे १०, १५ या इससे भी अधिक रोटी नहीं खा लेते तबतक उनकी तृप्ति नहीं होती। पेट ही नहीं भरता। मस्तिष्क के हाइपोथेलेमस भाग में एक **क्षुधा नियामक केन्द्र** होता है जिसकी क्रिया के अनुसार क्षुधा घटती-बढ़ती है। इस केन्द्र की क्रिया में परिवर्तन हो जाना भी संभव है जिसके प्रभाव से इन व्यक्तियों को क्षुधातिवृद्धि हो जाती है। यह केन्द्र स्वयं कई कारणों से उत्तेजित होता है। मस्तिष्क के ऊपरी भाग से इसमें उत्तेजनाये आती रहती हैं। आमाशय तथा सारे आन्त्र से इसमें उत्तेजनाये पहुँचती हैं। आन्त्र में पाचित तथा आहार अवयव शोषित होकर रक्त द्वारा पहुँच कर उसको उत्तेजित करते हैं। इनमें से किसी कारण की उग्रता बढ जाने से क्षुधातिवृद्धि हो सकती है। स्थूलकायों में अधिक खाने की आदत इसका परिणाम होना सम्भव है।

कुछ व्यक्तियों में स्थूलता की पैतृक प्रवृत्ति होती है।

स्थूलता से हानि—स्थूल व्यक्ति का जीवन बीमा होना कठिन होता है। १० प्रतिशत भार अधिक होने से कम्पनियाँ बीमा दर बढ़ा देती हैं क्योंकि स्थूल व्यक्ति की प्रत्याशित आयु (Expectation of life) कम होती है। उसकी आयु की दीर्घता प्रामाणिक तौल वाले व्यक्ति से कम होती है। और जितना शरीर भार अधिक होता है उतनी ही कम होती चली जाती है। अतिभार वाले व्यक्ति का कम्पनियाँ बीमा नही करतीं।

स्थूलता और मधुमेह का निकट संबंध पहिले बताया जा चुका है जिससे स्थूल व्यक्ति में उन सब उपद्रवों के उत्पन्न होने की सम्भावना होती है। प्रायः रक्त कोलेस्टरोल बढ़ने से उनको अतिरक्तदाब हो जाता है। स्थूलकाय के हृदय को सदा अतिरिक्त परिश्रम करते रहना पड़ता है जिससे हृत्पेशी का अवजनन हो सकता है। वसा अन्त सरण से भी अवजनन हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों को जीर्ण श्वासप्रणलिका शोथ (Chronic bronchitis) और उसके पश्चात् ट्यबर्कुलोसिस (राजयक्ष्मा) हो जाता है। जानुसंधि शोथ (Arthritis of knee) होने की भी सम्भावना अधिक होती है।

स्थूलकायों को चलने-फिरने में सदा कठिनाई होती रहती है। थोड़ा सा तेज चलने से सांस फूल जाता है जिसका कारण हृदय पर अतिभार होता है।

निदान—निदान कठिन नहीं होता। व्यक्ति को देखते ही पता चल जाता है। फिर तौलने पर तो निदान स्पष्ट ही हो जाता है।

चिकित्सा—इस दशा को रोग समझ कर इसकी चिकित्सा आवश्यक है। चिकित्सक का कर्तव्य है कि जो भी रोगी उसके पास आवे उनका वह उनकी स्थूलता (यदि हो) की ओर अवश्य ध्यान आकर्षित करे और उनको उसे विष की भांति त्याग करने की आवश्यकता तथा उपाय बतावे।

स्थूलता को दूर करने का उपाय केवल **आहार का नियन्त्रण** है। इसके लिये कोई विशिष्ठ औषधि नहीं है। कुछ औषधियों के प्रभाव से क्षुधा अवश्य कम हो जाती है। जिनको बहुत भूख लगती है उनकी चिकित्सा में इनकी सहायता ली जा सकती है। इनका आगे चलकर वर्णन किया जायगा। जिनमें किसी अन्तःस्रावी ग्रन्थि के विकार का पता लग जाय उनकी भी चिकित्सा की जाय। अनेक बार हीनावटुता (Hypothyroidism) तथा अग्र-पीयूषिका खंड के स्राव की कमी इस स्थूलता के लिये उत्तरदायी ठहराई गई है। किन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है।

आहार नियन्त्रण का अर्थ है आहार की मात्रा को घटाना। रोगी को यह विश्वास दिलाना कि रोग का कारण भोजन लोलुपता, स्वादुसेवा तथा भीमोदरता है—अत्यन्त कठिन है। वे यह मानने को तैयार नहीं होते कि वे अधिक भोजन करते हैं। मध्याह्न भोजन तथा रात्रि के आहार में आठ रोटी या परांवठे खा जाना वे सामान्य आहार मानते हैं। ऐसों को विश्वास दिलाना कि उनके कष्टों के लिये उनकी जिह्वा उत्तरदायी है, वे स्वयं अपने हाथों और मुंह द्वारा अपना जीवनकाल घटा रहे हैं, यह चिकित्सक के कौशल और चातुर्य पर निर्भर करता है। ऐसे व्यक्तियों का सब से बड़ा सुख ही भोजन करना होता है। उनसे वह सुख छीन लेना सहज नहीं होता। चिकित्सक को उन्हीं के हित के लिये साम, दाम, दंड, भेद सब ही उपायों से उनको स्वस्थ और दीर्घजीवी बनाने के लिये उनको अत्याहारता छोड़ने के लिये मनाना पड़ेगा।

आहार कम करने का सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति को असुविधा भी न मालूम हो, वह अपना साधारण काम भी करता रहे और उसके शरीर में पोषण का जो अत्यधिक भंडार एकत्र हो गया है उसका व्यय होता चला जाय। अतएव प्रथम वह इस समय जितना खाता है उसका कैलोरी मूल्य मालूम

करना चाहिये। वह अवश्य ही अत्यधिक होगा। ३५०० या ४००० केलोरी होगा। फिर उसके शरीर की लम्बाई, चौड़ाई, लिंग तथा व्यवसाय का विचार करते हुए उसको कितने मूल्य का आहार मिलना चाहिये इसको मालूम करना उचित है। तब आहार घटाने का प्रश्न आता है।

प्रायः १००० केलोरी का आहार देना पर्याप्त होता है। यदि उसको कुछ साधारण परिश्रम का काम करना पड़ता है तो १२५० केलोरी का आहार दिया जाय। और अधिक आवश्यक हो तो १५०० केलोरी आहार दे दिया जाय। उत्तम तो यह है कि उसको १००० केलोरी का आहार देकर शैयारूढ़ करके, अर्थात् उसके व्यवसाय को रोक कर, रखा जाय और एक सप्ताह के पश्चात् तौल कर देखा जाय कि उसका भार कितना घटा। एक सप्ताह में २ या तीन पौंड घटना अभीष्ट है। प्रारम के दो चार दिन तक रोगियों को आहार घटाने से असुविधा होती है। फिर वे अभ्यस्त हो जाते हैं।

यदि भार प्रति सप्ताह दो से तीन पौंड तक कम होता जाय तो वह सन्तोष-जनक है। इस प्रकार धीरे-धीरे घटा कर उसके प्रामाणिक तौल से १० प्रतिशत अधिक तक व्यक्ति के भार को घटा देना अभीष्ट है। यदि रोगी का प्रामाणिक भार १५४ पौंड या ७० किलोग्राम है तो उसका भार १५९ पौंड (७७ किलो-ग्राम) हो जाने पर उसके आहार के प्रतिबंध को ढीला कर दिया जाता है। जिन रोगियों का भार अत्यधिक होता है उनमें कई मास लग जाते हैं। यह अवस्था पहुँच जाने पर रोगी को २५० केलोरी का खाद्य बढाया जाता है। यदि इससे भार में वृद्धि नहीं होती तो प्रतिसप्ताह कुछ केलोरी बढ़ा दी जाती हैं। प्रयोजन प्रमाणिक भार से कम न होने देना है।

स्थूलता आहर—१.

कार्बोहाइड्रेट	१०० ग्राम
प्रोटीन	६० ग्राम
वसा	५० ग्राम
	—११०४ केलोरी

स्थूलता आहार—२.

कार्बोहाइड्रेट	१०० ग्राम
प्रोटीन	८५ ग्राम
वसा	५५ ग्राम
	—१२५० केलोरी

भोज्य पदार्थों के कैलोरिक मूल्य की सारणियो से खाने के लिये इच्छित वस्तुओं का मूल्य मालूम करके रोगी को पसन्द भोजन तैयार किया जा सकता है।

रोगियों में प्रायः प्रारंभ के दिनों मे भार तेजी से घटता है। १ सप्ताह में पाच-छः पौंड घट सकता है। किन्तु फिर घटना कम हो जाता है। भिन्न-भिन्न रोगियों में और भिन्न-भिन्न समय पर भार घटने की गति में बहुत अन्तर मिलता है। एक बार घट जाने के पश्चात् ज्यों ही रोगी अपना सामान्य भोजन करने लगता है तो भार बढने की फिर से प्रवृत्ति हो जाती है। यदि ऐसा हो तो आहार को थोड़ा कम कर दिया जाय।

व्यायाम—व्यायाम से भार घटाने की आशा करना व्यर्थ है। एक ७० किलोग्राम (१५४ पौंड) भारवाला व्यक्ति २½ मील चलने मे केवल १४० केलोरी व्यय करता है। अतएव १ पौंड वसा का व्यय करने के लिये उसे २६ मील चलना आवश्यक है जो असम्भव-सी बात है।

औषधियाँ

ऐम्फिटामीन (Amphetamine) और फेनमेट्राजीन (Phenmetrazine) भूख को घटाती हैं। क्षुधार्त्तता नही होने देती। ऐम्फिटामीन जिसको बैन्जेड्रीन (Benzadrine) भी कहते हैं ५ मिलीग्राम और दूसरी औषधि २२ मिलीग्राम की मात्रा में प्रातः और मध्याह्न के भोजन के पहिले दी जाती है। अनिद्रा होने के भय से वे रात्रि को नही दी जाती। बहुत से रोगियों में हृदय की धडकन, मानसिक उद्वेग, हाथ-पाव कापना आदि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। ये योग आहार नियन्त्रण का स्थान नही ले सकते। स्थूलता को घटाने का केवल और निश्चित उपाय आहार नियन्त्रण है।

गठिया (Gout)

गठिया भी चयापचय संबंधी रोग है। इसमे प्रोटीन के विभजन से बननेवाले 'प्यूरीन पिंडों' (Purine bodies) का चयापचय विकृत हो जाता है जिससे रक्त में यूरिक अम्ल (Uric acid) की मात्रा बढ़ जाती है और यूरेट लवणों के कण सन्धियो की उपस्थियों और पास के अन्य ऊतकों तथा वृक्क में एकत्र हो जाते हैं। अस्थियों में भी एकत्र होते है जिससे अस्थि तथा उपस्थियों के भाग जहाँ वे एकत्र हुए हैं अवशोषित होकर सिस्ट या पुटी के समान संरचनाये (Structures) बन जाती है। संधि की स्नैहिक कला में भी

यूरेट के संग्रह बन सकते हैं। पांव के अंगूठे के पीछे की अंगूल्यास्थि तथा प्रथम पादशलाका के बीच की संधि (Metatarso-phalangeal Joint) विशेषतया आक्रान्त होती है।

यूरेट प्रायः मोनो सोडियम यूरेट के रूप मे विशेषकर उन ऊतकों मे एकत्र होते हैं जिनमें रक्त संभरण कम होता है और सोडियम अधिक होता है जैसे उपस्थि, स्नैहिक कला। उनके संग्रह से जो पुटी बन जाती है वे 'टौफी' (Tophi) कहलाती है। ये त्वचा के नीचे छोटी-छोटी गाठे-सी प्रतीत होती हैं। बहिःकर्ण के कार्टिलेज मे तथा संधियों में ये प्रतीत हो सकती हैं। इनके कारण त्वचा में व्रण तथा विदार बन जाते हैं जिनके द्वारा टोफी दिखाई देती हैं। ये टोफी नाक तथा पक्ष्म की उपस्थियों तथा संधियों की वसापुटियों (Bursa), स्नायु तथा पेशी कंडराओं में भी बन जाती हैं विशेषकर हाथों और पावों की। हृत्पेशी का अवजनन तथा परिहृद् शोथ (Pericarditis) हो सकते है जिनसे कभी-कभी मृत्यु हो जाती है।

लक्षण—रोग दो रूप का होता है उग्र और जीर्ण। जब वह कई सप्ताह तक चलता है या बार-बार आक्रमण होते हैं तो उसको जीर्ण कहा जाता है।

उग्ररूप—प्रायः अधेड़ आयु वाले पुरुषों को होता है। आक्रमण के पूर्व से रोगी को कोई पाचन विकार होता है। रोग के प्रारंभ मे वमन हो सकता है। ९० प्रतिशत से भी ऊपर रोगियों में आक्रमण रात्रि के समय प्रारंभ होता है। रोगी को एक से कई घन्टे तक जाड़ा लगता रहता है। पसीना आता है और पादागुष्ठ की अंगुलि और प्रथम पादशालाका की सधि में तीव्र वेदना होती है। रोगी सोता-सोता दर्द के कारण जाग जाता है और कई घंटे तक पीडा के कारण छटपटाता रहता है। फिर दर्द कम हो जाता है और रोगी सो जाता है। प्रातःकाल जागने पर उसको संधि सूजी हुई लाल और शोथयुक्त मिलती है। त्वचा लाल होती है और पात्र हिलाने पर पीडा होती है। रोगी को १०१ या १०२ फै० ज्वर होता है। कोष्ठबद्धता होती है। कभी-कभी पीड़ा दिन भर बनी रहती है। कभी-कभी दिन मे भी आक्रमण प्रारंभ होता है।

परीक्षा करने पर अंगुष्ठ के पीछे की संधि में और उसके चारों ओर शोथ के लक्षण दिखाई देगे। स्थानिक ताप बढ़ा होगा। पास की लसिका ग्रन्थिया भी बढ़ी हो सकती हैं। रक्त में श्वेताणु वृद्धि २०,००० के लगभग मिल सकती है। आक्रमण के कई दिन पहिले से मूत्र में यूरिक अम्ल निकलना कम हो

जाता है। किन्तु रक्त में उसकी मात्रा बढ़ जाती है। आक्रमण के पश्चात् मूत्र में फिर अधिक मात्रा आने लगती है। आक्रमण कुछ घंटों से लेकर कई दिनों तक रह सकता है। आक्रमण के पश्चात् रोगी अपने को पूर्ण स्वस्थ प्रतीत करता है। कुछ समय के पश्चात् फिर ऐसा ही आक्रमण होता है और थोड़े-थोड़े अन्तर्काल के पश्चात् होते रहते हैं। दीर्घकाल मे कई संधियाँ आक्रान्त (Polyarthritis) हो सकती हैं। पादागुष्ठ संधि के पश्चात् क्रम से हाथ के अंगुष्ठ, गुल्फ, जानु, मणिबन्ध तथा कूर्पर संधियों की बारी आती है। स्कंध तथा नितंब संधिया बहुत कम आक्रान्त होती हैं।

निदान—रोग का निदान कठिन नहीं होता। ३० और ५० वर्ष के बीच की आयु वाले पुरुष में अकस्मात पादागुष्ठ की पीछे की सन्धि में ज्वर और शीत के साथ पीड़ा और शोथ होना रोग के विशिष्ट लक्षण हैं। फिर भी पूयजन्य, गोनोमेहजन्य तथा अन्य सन्धि शोथों तथा परिसन्धि शोथ स्नैहिककला शोथ (Synovitis) से इस रोग को भिन्न करना आवश्यक है। प्रायः रोग की पारिवारिक प्रवृत्ति पाई जाती है। आक्रमणों का पुनः पुनः होना भी विशेषता है।

क्रम और उपद्रव—बहुत काल तक आक्रमणों के होने से वृक्क यूरिक अम्ल की अधिकता से रक्त को मुक्त करने में असमर्थ हो जाते हैं। उनमें यूरिक अम्ल के कणों के एकत्र होने से अश्मरी बन सकती है। तथा अणुनलिकाओं में शोथ होकर वृक्क अकर्मण्य हो सकते हैं जो रोगी की मृत्यु का कारण होते हैं। सन्धि तथा अन्यत्र उपस्थियों मे 'टोफो' बनकर व्रणोत्पादन और पूयोत्पादन हो सकता है।

पहले आक्रमणों के बीच में अधिक अन्तर्काल रहता है। किन्तु फिर थोड़े-थोड़े दिनों के अन्तर से आक्रमण होने लगते हैं। और अन्त में दशा स्थायी-सी हो जाती है। पीड़ा, शोथ सदा बने रहते हैं और संधि विकृत भी हो जाती है।

चिकित्सा—प्रारंभ होने पर प्रथम पीडाशामक औषधिया एस्पिरिन, कोडीन, पैथेडिन (५०-१०० मि. ग्रा.) आदि उपयुक्त मात्रा में दी जाती हैं। सोडा बाईकार्ब० १ औंस, टिंचर ओपियम १ औंस और जल २० औंस मिलाकर उसके ऊष्मस्वेद से रोगी को विश्राम मिलता है। पाव को किसी गद्दी या तकिये पर उसके दोनों ओर गद्दी रख कर स्थिर करके रखना चाहिये। पाव या अंग के हिलने से रोगी को पीड़ा होती है। पाव और टाग पर एक लकड़ी का कठघरा (Cradle) रखकर उसको कम्बलों

से ढॅक दिया जाय तथा कठघरे के भीतर पाव के पास गरम पानी की बोतले लगा दी जायॅ।

इस रोग की विशेष औषधि कौल्चीकम (Colchicum) है जिसका एलकलाइड **कौल्चिसिन** प्रयोग किया जाता है। इसकी ०.५ मिलीग्राम की टिकिया प्रत्येक २.५ घंटे पर और यदि पीड़ा अतितीव्र हो तो प्रत्येक १ घंटे पर दी जाय जबतक कि पीड़ा कम न हो जाय अथवा पतले दस्त न आने लगे। तब कौल्चिचिन बन्द कर दिया जाय। कुछ विद्वान् १ मिलीग्राम की मात्रा प्रति एक से तीन घंटे पर रात-दिन देने की सलाह देते हे। प्राय चार से आठ ग्राम से रोग शान्त होने लगता है। तब मात्रा घटा दी जाय। फिर जो आक्रमण हों उनमे भी प्रथम-प्रथम आक्रमण की अपेक्षा १ या २ ग्राम कौल्चिसिन कम दी जाय। कौल्चिसिन अन्तर्शिरा (०.६५ ग्राम) द्वारा भी दी गई है। इससे अल्प समय में लाभ बताया जाता है।

कौल्चिसिन से अनेक बार पतले दस्त, वमन आदि पाचक विकार हो जाते हैं। टिंचर ओपियम कपूरयुक्त (कैम्फोरेटा) इसके लिये पर्याप्त है। औषधि की मात्रा कम कर देनी चाहिये। किन्तु उसको बन्द करने की आवश्यकता नही है। रोग के प्रारंभिक लक्षण मालूम होने पर ०.२५ मिलीग्राम की दो टिकिया प्रत्येक २ या ३ घटे पर ४ से ६ मात्राओं से आक्रमण रुक जाता है।

बूटाजोलिडिन (Butazolidin) भी इस रोग की उपयोगी औषधि है। इसकी १०० मि. ग्रा. की एक टिकिया प्रथम दिन प्रत्येक छ-छ घंटे पर दी जायॅ। दूसरे दिन प्रत्येक आठ आठ घटे पर और तीसरे दिन से केवल दो बार प्रातः और सायं दी जायँ। जबतक रोग शान्त न हो जाय।

ए. सी. टी. एच (ACTH) भी रोग के शमन मे बहुत उपयोगी पाया गया है। लक्षणों का शमन प्राय. ६०–८० मात्रक (I. N) के एक ही इन्क्जेशन से प्रारम्भ हो जाता है। यदि आवश्यक हो तो २४ घटे के पश्चात् एक और इन्जेक्शन दिया जा सकता है। **प्रेडनीसोन** भी २० मिलीग्राम दिन में दो बार ४ दिन तक और १० मिलीग्राम दिन मे दो बार आठ दिन तक देने से लाभ होता है।

इन औषधियों में प्रथम नम्बर कौल्चिसिन का है। यदि उससे आशातीत सफलता न हो तो बूटाजोलिडिन दी जाय। और उसके सफल न होने पर ए० सी० टी० एच अथवा प्रेडनीसोन दिये जायॅ।

रोगी का साधारण उपचार भी आवश्यक है। मैगसल्फ द्वारा उसकी कोष्ठ शुद्धि की जाय। पीने के लिये जल तथा जलीय पेय प्रचुरता से दिये जायॅ। कम से

कम ४ लिटर (४ से ५ सेर) जल २४ घंटे में उसको अवश्य पिलाया जाय। वह किसी भी रूप में पिये, चाय, लैमनेड आदि शरबत, मट्ठा किसी भी रूप में दिया जा सकता है। आहार के लिये दूध सर्वोत्तम वस्तु है। दूध तथा दूध से बना कर अन्य पदार्थ क्रीम, खीर, पुडिंग तथा मक्खन, टोस्ट आदि दिये जायं। आक्रमण समाप्त हो जाने पर उस आहार को धीरे-धीरे बढाकर सामान्य पर पहुँचा दिया जाय।

जीर्ण गठिया

यह दशा वास्तव में संधि शोथ की है जब शोथ स्थायी होकर विकृति उत्पन्न हो जाती है और कई संधियाँ आक्रान्त हो चुकती हैं। उग्र आक्रमण का पूर्ण शमन नहीं होता। गुल्फ, हाथों और मणिबंध की संधियाँ पहले आक्रान्त होती हैं। तब जानु और कूर्पर होती है। स्कंध और नितम्ब की आक्रान्ति बहुत असाधारण है। टोफी भी इस समय बनती हैं और त्वचा को विदीर्ण तक करके चारों ओर के ऊतकों में पूयोत्पत्ति का कारण होती हैं। यदि उनका आकार बढ़ जाता है तो उनको शस्त्रकर्म द्वारा निकालना आवश्यक होता है।

चिकित्सा—इस दशा की चिकित्सा के दो आधार है। एक, ऐसी औषधियों का उपयोग जो शरीर से यूरिक अम्ल का त्याग बढ़ावे, जिससे रक्त मे यूरिक अम्ल की मात्रा न बढने पावे। इससे टोफी जो यूरिक अम्ल के कणों की संग्रह होती ह घुलती हैं और उग्र रोग के आक्रमण भी रुकते हैं। प्रोबिनिसिड (Probenicid) लाभदायक है जो बिनिमिड (Benemid) के नाम से ०·५ ग्राम की टिकियों के रूप में बिकता है। प्रथम दिन एक गोली दी जाती है, दूसरे दिन दो और तीसरे दिन से तीन या चार टिकिया दी जाती हैं। इसके प्रभाव से रक्त की यूरिक अम्ल द्रुत गति से कम होता है। इस कारण रक्त परीक्षा के अनुसार इसकी मात्रा को घटाना-बढ़ाना उचित है। इसके कुछ दिन तक प्रयोग के पश्चात् अनेक बार फिर से रोग का उग्र आक्रमण हो जाता है। बिनिमिड १ ग्राम के साथ १ मिलीग्राम काल्चिसिन मिलाकर दिन में दो तीन मात्राओं में विभक्त करके देने से ऐसा नहीं होता।

सोडियम सैलीसिलेट का भी यही प्रभाव है। उसकी नित्य की मात्रा ६ ग्राम (९० ग्रेन) दिन में तीन मात्राओं मे विभक्त करके छः महीने तक दी जाय। यदि उग्र आक्रमण के कुछ लक्षण दिखाई दे तो कौल्चिसिन का प्रयोग प्रारंभ कर दिया जाय।

आहार—चिकित्सा का दूसरा आधार आहार है। रोगी को ऐसे पदार्थ खाने को दिये जायँ जो अधिक प्यूरीन पिंडों को न उत्पन्न करें। सब ही प्रोटीनों के अपचय से प्यूरीन उत्पन्न होती हैं। किन्तु शाकों की प्रोटीन और अंडा अत्यल्प प्यूरीन उत्पन्न करते हैं। अतएव सब ही प्रकार के मांस रोगी को वर्जित किये जायँ। स्नेह भी प्यूरिन उत्पन्न करने वाला है। इसलिये अधिक तैलीय पदार्थ, घी आदि न दिये जायँ। कार्बोहाइड्रेट प्यूरिन नहीं उत्पन्न करते। इसलिये चीनी, मैदा, सूजी, चावल आदि न रोके जाँय।

रोगी को ये आहार उसकी रुचि के अनुसार जितना वह चाहे, दिये जायँ। दूध तथा दूध के बने हुए पदार्थ मिठाइयाँ, खीर, अन्य, पुडिंग, दही, मट्ठा, डबल रोटी, सब प्रकार के अनाज, चावल, आलू, मक्खन, चीज, अंडा, साबूदाना तथा सब प्रकार के हरे शाक, हरे फल, नारंगी, अनार, सेव, नाशपाती, खुबानी, आड़ू, अंगूर ये सब रोगी की इच्छानुसार दिये जा सकते हैं। मक्खन तथा अंडों पर कुछ प्रतिबन्ध आवश्यक है। सामान्य मात्रा में दिये जायँ।

पोषण सम्बन्धी विकार

(Disorders of Nutrition)

चयापचय के संबंध में पोषण का कुछ विचार किया गया है। पोषण शब्द का अर्थ भली भाति ग्रहण कर लेना चाहिये जिससे पोषण विकारों को समझना सहज होगा।

पोषण का अर्थ है शरीर को, दैनिक कार्यों को करने के हेतु ऊर्जा की उत्पत्ति के लिये, तथा जो प्रत्येक क्षण शरीर के भीतर क्रियायें और प्रतिक्रियायें होती रहती हैं उनसे जो टूट-फूट होती है उस क्षति की पूर्ति के लिये, तथा अपनी वृद्धि करने के लिये आवश्यक तत्वों की प्राप्ति तथा उनका शरीर में स्वागीकरण (Assimilation)। यह सब चयापचय की गूढ प्रक्रियाओं का फल होता है। यदि चय अधिक होता है तो उसका फल शरीर की वृद्धि होती है। बालकों में शरीरवृद्धि के लिये अपचय की अपेक्षा चय कहीं अधिक होता है। वृद्धावस्था में अपचय बढ़ जाता है जिसस शरीर क्षीण होने लगता है। हमारा स्वास्थ्य इसी पर निर्भर करता है।

शरीर प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट तथा वसा इन तीन अवयवों का बना हुआ है। शरीर में जितने भी अंग और ऊतक हैं उन सबों को बनाने वाली प्रोटीन -हैं और उनमें जहा तहां वसा एकत्र है। कोशिकाओं का निर्माण करने वाली प्रोटीन है। उनके भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न प्रकार की प्रोटीन पाई जाती हैं। कार्बोहाइड्रेट क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं को करने के लिये ऊर्जा उत्पन्न करते हैं। वसा भी ऊर्जा का रक्षित भडार है जिससे कार्बोहाइड्रेट की अपेक्षा दूनी ऊर्जा उत्पन्न होती है।

ये सब अवयव हमको आहार द्वारा प्राप्त होते हैं। जो भोज्य पदार्थ हम खाते हैं उनके द्वारा ये अवयव हमको उतनी मात्रा में प्राप्त होने चाहिये जितनी शरीर को आवश्यकता है।

आहार के अवयव—ये विशिष्ट तत्व अवयव (Proximate principals) कहलाते हैं। इन तीन अवयवों के अतिरिक्त विटामिन, खनिज और जल भी आहार के विशिष्ठ अवयव हैं।

१. कार्बोहाइड्रेट—कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सीजन के बने हुए ये अवयव ऊर्जा उत्पत्ति का विशेष स्रोत होते हैं। चीनी और मैदा या निशास्ता शुद्ध कार्बोहाइड्रेट हैं। चावल, और आलू में भी कार्बोहाइड्रेट का बहुत अधिक भाग है। अन्य वानस्पतिक खाद्यों में भी कार्बोहाइड्रेट का अधिक भाग रहता है।

ये सब कार्बोहाइड्रेट पाचक रसों द्वारा ग्लूकोज में परिवर्तित हो कर रक्त द्वारा आन्त्र से अवशोषित होने पर यकृत् और पेशियों में पहुँचाये जाते हैं जहाँ वे पेशियों की क्रिया के लिये ऊर्जा उत्पन्न करते हैं और अनुपयुक्त ग्लूकोज ग्लायकोजिन के रूप मे परिवर्त्तित होकर यकृत् में एकत्र हो जाती है। उपयुक्त ग्लूकोज अन्त मे H_2O+CO_2 के रूप मे शरीर का त्याग करती है।

२. वसा—हम जो स्नेह घी, तैल, मक्खन आदि के रूप में खाते हैं या जो खाद्य पदार्थों मे विशिष्ट अवयव के रूप मे स्थित होता है उसका भी आन्त्र मे पायसनियों द्वारा अवशोषण होकर रक्त मे प्रवाहित होकर अंगों या अन्य स्थानों में जाकर वसा के रूप में एकत्र हो जाता है जो आवश्यकता पड़ने पर कार्बोहाइड्रेट की भांति काम में आती है।

३. प्रोटीन—हमारे शरीर के विशिष्ट तत्व हैं और अमीनो अम्लों के रूप में वे प्रत्येक अंग तथा भाग को बनाये हुए हैं। आहार से प्राप्त प्रोटीन पाचक रसों द्वारा उनके अन्तिम स्वरूप अमीनो अम्लो में तोड़ दिये जाते हैं जिनको रक्त अंगों में पहुँचाता है और वहा की कोशिकाये फिर उनका रासायनिक रूप बदल कर अपने योग्य रूप के बनाकर उनको अपने में धारण करती हैं। उनसे नवीन कोशिकाये बनती हैं, कोशिकाओं के टूटे-फूटे भागो का फिर से निर्माण होता है। प्रोटीन भी ऊर्जा की उत्पत्ति मे भाग लेती हैं। न केवल यही किन्तु वे शरीर मे पाचक रसों की उत्पत्ति में सहायता देती हैं तथा ऊतकों को आक्सीजन के उपयोग की सामर्थ्य देती है। शरीर में प्रोटीन अमीनो अम्लों के रूप मे रहती है। २४ प्रकार के अमीनो अम्ल शरीर में पाये जाते हैं। उनमें से १६ का निर्माण स्वयं शरीर आहार से प्राप्त अमीनो अम्लो से कर लेता है। किन्तु आठ का नहीं कर पाता। इस कारण उनको आहार द्वारा देना आवश्यक होता है। ये 'अनिवार्य अमीनो अम्ल' (Essential amino acids) कहलाते हैं। इनके नाम ये हैं :—लायसिन, ट्रिप्टोफान फिनाइलरोलेनीन, ल्यूसीन, आइसोल्यूसीन, थियोनाइन, मीथियोनाइन और वेलीन। कुछ विद्वानों की सम्मति में हिस्टिडीन और आर्जिनाइन नामक अमीनो अम्लों को भी आहार में देना चाहिये। वे भी स्वास्थ्य के लिये आवश्यक हैं।

प्रोटीन भी कार्बोहाइड्रेट और वसा की भांति कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सीजन के बने होते हैं। किन्तु उनमे नाइट्रोजन भी होता है जो उनका विशेष घटक है और शरीर का प्रधान तत्व है। साथ में गन्धक, फास्फोरस आदि भी होते है। अतएव शरीर को नाइट्रोजन की सदा आवश्यकता रहती है और उसका एक विशेष स्तर शरीर मे बना रहना आवश्यक होता है। इसको Nitrogen balance कहा जाता है।

१. प्रोटीनों की न्यूनता से—

क. शरीर का नाइट्रोजन सन्तुलन बिगड़ जाता है।

ख. शरीर के ऊतकों का क्षय होने लगता है।

ग. प्लाविका या रक्त के प्लाज्मा मे एलबूमिन की मात्रा घट जाती है जिससे गुल्फ और मुख पर शोफ हो जाता है।

घ. अति दुर्बलता मालूल होती।

ङ. शरीर में संक्रमणरोधी शक्ति का ह्रास हो जाता है।

२. कार्बोहाइड्रेट की कमी से उत्पन्न न्यूनशर्करारक्तता का इंसुलिन के साथ विचार किया जा चुका है।

३. वसा की कमी तब तक नहीं होती जब तक व्यक्ति को कार्बोहाइड्रेट पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। केवल भुखमरी (Starvation) की दशा में वसा की कमी संभव है। अधिक वसा का परिणाम स्थूलता होता है जिसका उल्लेख गत पृष्ठों में किया गया है।

४. विटामिन यद्यपि आहार नहीं हैं, उनसे ऊर्जा की उत्पत्ति या ऊतक निर्माण नहीं होता, किन्तु वे शारीरिक क्रियाओं के उचित सम्पादन के लिये बहुत महत्व की हैं। शारीरिक स्वास्थ्य बहुत कुछ उन पर निर्भर करता है। वे आहार पदार्थो का एक अवयव होती हैं। स्वास्थ्य के लिये उनकी अत्यल्प मात्रा पर्याप्त है। उनकी कमी या अनुपस्थिति से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं जो त्रुटिजन्य रोग (Defeciency diseases) कहलाते हैं। बेरी बेरी, स्कर्वी, रिकेट्स, कई चर्मरोग तथा कुछ अन्य रोग विटामिनो के न मिलने से उत्पन्न होते हैं।

ये विटामिन रासायनिक पदार्थ हैं जिनका रासायनिक सघटन अध्ययन किया जा चुका है और अब अधिकतर उनको रसायनशालाओं मे बनाया जाता है। शरीर में ये अपनी रासायनिक क्रिया से चयापचय को-प्रभावित करती हैं।

दो प्रकार की विटामिन पाई जाती है, एक जल में घुलने वाली, दूसरी तैल या स्नेह में घुलनेवाली। विटामिन ए, डी, के और ई तैल या वसा विलेय हैं। विटामिन बी का सारा समूह जो बी–जटिल (Vit. B-complex) कहलाता है तथा विटामिन सी और पी जल विलेय हैं।

इस पुस्तक के पृष्ठ ११६ पर विटामिनों की न्यूनता से उत्पन्न होने वाले लक्षणों की एक सारणी दी हुई है। विटामिनों का अधिक ज्ञान प्राप्त करने तथा चिकित्सा में उनका उपयोग जानने के लिये लेखक की 'बीसवी शताब्दी की औषधियां' नामक पुस्तक पढ़नी चाहिये। आगे विटामिनों की कमी से उत्पन्न रोगों मे विटामिनों का प्रयोग संक्षेप से बताया गया है।

५. खनिज—मनुष्य के शरीर में सोडियम, कैलसियम, लोह, क्लोरीन, फ्लोरीन, फास्फोरस, आयोडीन, पोटासियम, ताम्र, यशद, मैगनीज, मगनेशियम और कोबाल्ट पाये जाते है। इनमे से अन्तिम छः की आहार न्यूनता के कारण कभी कमी नही पाई जाती। प्रथम आठ तत्त्वों में से भी कैलसियम, लोह और आयोडीन विशेष उल्लेखनीय हैं।

ये तत्व शरीर में या आहार में इस स्वतन्त्र रूप में नहीं रहते हैं। वे लवणों के रूप में रहते हैं। सोडियम क्लोराइड, कैलसियम फास्फेट, पोटासियम क्लोराइड या कार्बोनेट के रूप मे रहते हैं। सोडियम क्लोराइड की सबसे अधिक मात्रा होती है। निम्न सारणी में स्वस्थ्य के लिये तत्त्वों की प्रतिदिन आवश्यक मात्रा और उसके स्रोत दिखाये गये हैं.

खनिज	नित्य आवश्यक मात्रा	स्रोत
कैलसियम	१ ग्राम प्रतिदिन। २ ग्राम प्रतिदिन, दूध पिलाने वाली माता को, गर्भवती स्त्री को।	दूध तथा दूध के बने हुए पदार्थ १ क्वार्ट दूध में १ ग्राम कैल-सियम होना चाहिये।
लोह	१२ मिलीग्राम, युवक और प्रौढों के लिये। १५ मि ग्राम, बालकों के लिये। १२ मि. ग्राम, स्त्रियों के लिये। २५ ,, ,, ,, रजोधर्म के दिनों मे	हरे पत्ते वाले शाक, चोकरयुक्त गेहूँ का आटा, अंडे का पीला भाग, यकृत्, वृक्क, मास
*आयो-डीन	०·१२–०·३ मि. ग्रा.	आयोडीनयुक्त भूमि में उगे हुवे शाक

निम्न खनिजो की कमी प्राय: आहार न्यूनता के कारण नही होती—

सोडियम	२ से ५ ग्राम प्रतिदिन।	दैनिक आहार, शाक, दाल आदि में मिला हुआ नमक, मास, अंडा, दूध
पोटासियम	१–४ ग्राम	सब फल तथा शाक
फास्फोरस	१–१·५ ग्राम २·५–३·० ग्राम गर्भावस्था में	दूध, अनाज, मेवा, मूंगफली, सेम, मटर के दाने, फल तथा शाक
ताम्र	१–२ मिलीग्राम	चोकरयुक्त आटा, ओटमील, यकृत्, अंडा।

* पार्वतीय भूमि में वर्षा से धुल जाने के कारण आयोडीन अत्यल्प हो जाती

है। इंग्लैंड, यूरोप, अमरीका आदि में खाने के नमक के साथ पोटास—आयोडाइड मिलाने का विधान बना दिया गया है। आयोडीन की कमी घेंघा (Goitre) का कारण होती है।

फ्लोरीन दांतों की घुण (Caries) या खुडरा से उत्तम रक्षक प्रमाणित हुई है। जहां पीने के जल में १०००१०० भागों में एक भाग फ्लोरीन होती है वहा के रहने वालों के दांतों में यह रोग बहुत कम होता है। अमरीका तथा कई अन्य देशों में अब पीने के जल में फ्लोरीन मिलाने का विधान बनाया गया है। जब से फ्लोरीन मिलाया गया है तब से इस रोग में विशेष कमी हो गई है।

आहार का पोपक मूल्य

(Nutritive value of food)

आहार का मूल्य केलोरी (Calorie) के रूप में नापा जाता है। एक केलोरी (किलो केलोरी) वह नाप है जो एक किलोग्राम जल के ताप को १ सेन्टीग्रेड बढा दे। ताप उर्जा का एक रूप है। इस कारण ऊर्जा को ताप के रूप में मापा जाता है। १ ग्राम प्रोटीन के अपचय या आक्सीकरण से ४·१ केलोरी, १ ग्राम कार्बोहाइड्रेट से भी ४·१ केलोरी और १ ग्राम वसा से ९·४ केलोरी ताप उत्पन्न होता है। आहार का केलोरी के रूप मे मूल्याकन किया जाता है।

इंडियन मेडिकल रिसर्च कौंसिल की पोषण विशेषज्ञ समिति (Nutrition Advisory Committee) ने परिश्रम न करने वाले पुरुष के लिये २५०० केरोली और स्त्री के लिये २२०० केलोरी तथा परिश्रम करने वाले व्यक्ति के लिये ३००० केलोरो ताप अर्थात ऊर्जा उत्पन्न करने वाला आहार उपयुक्त माना है। आहार मिश्रित हो, उसमें शाक, अन्न तथा पाशविक पदार्थ सब मिले हों। हरे शाक, अन्न (रोटी आदि), दूध, दही या मास सब मिले हों, विटामिनों के लिये हरे फल या टमाटर आदि भी हों। ऐसा आहार आयु, शरीर की लम्बाई-चौड़ाई, ऋतु, व्यवसाय, लिंग आदि के अनुसार सब अवयवों के उचित अनुपात में युक्त आहार संतुलित आहार (Balanced diet) कहलाता है।

आहार त्रुटिजन्य रोग

(Defeciency diseases)

१ विटामिन ए न्यूनताजन्य रोग—

इससे त्वचा में परिवर्तन तथा नेत्र रोग होते हैं। त्वचा शुष्क और तब कडी पड जाती है। त्वचा के स्वेद छिद्रों में किरेटिन एकत्र हो जाती है (Follicular keratitis)।

नेत्र के जीरोप्थेल्मिया रोग का विटामिन ए की त्रुटि से विशेष संबंध माना जाता है। नेत्र के श्वेत भाग के ऊपर की श्लेष्मक कला (Scleral conjunctiva) शुष्क, सिकुड़न पड़ी हुई और मोटी हो जाती है (अश्रुनलिकाओं के मुखो के किरेटिन द्वारा बन्द हो जाने के कारण)। उसकी चमक जाती रहती है। इससे रोग बढने पर नेत्र की कार्निया (Cornea) नरम हो जाती है, तनाव जाता रहता है। आख का काला भाग धुंधला-सा दीखता है। उसमें विदार (Perforation) हो जाता है। यह दशा अन्धता का विशेष कारण होती है और ऊष्ण प्रदेशों मे बहुत पाई जाती है। यह किरेटोमैलेशिया (Keratomalacia) कहलाती है। तीसरी दशा रतौंधी (Night blindness) है। विटामिन ए की न्यूनता से 'रोडोप्सिन' (Rhodapsin) नामक वर्णक रेटिना में नहीं बनता। अंधेरे में देखने की शक्ति इस वर्णक पर निर्भर करती है। इस कारण अन्धकार में दीखना बन्द हो जाता है। अन्धकारानुकूलन (Dark adaptation) शक्ति (अंधेरे में कुछ समय पश्चात् दीखना) का भी ह्रास हो जाता है।

चिकित्सा – विटामिन ए खिलाना रोग की औषधि है। स्वास्थ्य के लिये ५०० मात्रक (i.u) प्रतिदिन पर्याप्त माने गये हैं जो एक छोटी चम्मच काड मछली के यकृत् तैल या हैलीबट या शार्क के मछलियों के यकृत् तैलों की कुछ बूंदों में प्राप्त हो जाते हैं। इस रोग की चिकित्सा के लिये २५०००० मात्रक, एक सप्ताह में ५०००० मात्रक नित्य करके देना, पर्याप्त है। साथ ही उत्तम सतुलित आहार देना चाहिये।

विटामिन ए का एक पूर्व रूप केरोटीन (Kerotene) हरे पत्ते के शाकों पालक, पत्तागोभी, मटर, टमाटर और विशेषकर गाजर (Carrot) में होता है। शरीर में आन्त्र द्वारा अवशोषित होते समय यह विटामिन ए में बदल जाता है। किन्तु जितनी केरीटीन खाई जाती है उसका लगभग २/३ भाग अनुपयुक्त रह जाता है। केवल १/३ भाग विटामिन ए बनता है।

इस कारण २५,००० मात्रक विटामिन ए के साथ ७५,००० मात्रक केरोटीन दी जाती है। इसका मूल्य वानस्पतिक होने के कारण कम होता है।

आजकल विटामिन रासायनिक विधियों द्वारा तैयार की जाती हैं।

पित्त लवणों को भी साथ ही देने से विटामिन का अवशोषण उत्तम होता है।

२. बी विटामिन न्यूनता जन्य रोग

यह समूह विटामिन बी-जटिल कहलाता है। इसमें निम्न विटामिनोंकी गणना की जाती है यद्यपि उनके रासायनिक संघटनों में बहुत भिन्नता होती है। किन्तु सब का समान स्रोत होने, एक ही प्रकार की खाद्य वस्तुओं मे उपस्थित होने और उनके जल में घुलनशील होने के कारण उनको एक ही समूह में रखा गया है।

इस समूह मे जिसको विटामिन बी-जटिल (Vitamin B complex) कहते हैं निम्नलिखित विटामिनें पाई जाती हैं।

विटामिन बी. १—थियामीन, एन्यूरीन (Thiamine, Aneurine)

विटामिन बी. २—राइबोफ्लेवीन (Riboflavine)

निकोटिनिक अम्ल (नियासिन) तथा निकोटिनेमाइड (Nicotinic acid Niacin, Nicotinamide)

विटामिन बी ६, पायरिडौक्सीन, पायरिडोक्सामीन, पायरिडोक्साल (Pyridoxine, Pyridoxamine, Pyridoxal), पैन्टोथीनिक अम्ल (Pantothenic acid)

बायोटिन (Biotin)

फौलिक अम्ल (Folic acid)—

विटामिन B १२, सायनोकोबलेमीन (Cynocobalamine)

इनमें से पैन्टोथीनिक अम्ल, पायरिडौक्सीन और बायोटीन की कमी नहीं पाई जाती। शेष की कमी से विकारों के लक्षण उत्पन्न हो जाते है। ये तीनों विटामिन आन्त्र के भीतर उपस्थित जीवाणुवों द्वारा तैयार की जाती हैं।

विटामिन बी समूह की विटामिने आपस में निकटतया संबंधित हैं। सब शाकों और हरे फलों में पाई जाती हैं जिनसे वे आहार द्वारा शरीर को प्राप्त होती हैं। सब ही जल मे घुलने वाली हैं। अतएव इनमें से केवल एक विटामिन

की कमी होना असाधारण सी बात है। एक की कमी होने पर दूसरों की भी कमी होती है। एक ही की न्यूनता के लक्षण क्यों प्रगट होते हैं इसके अन्य कारण भी हो सकते हैं जैसे संक्रमण। चिकित्सा में इसका ध्यान रखना चाहिये।

इन विटामिनों का जल में घुलने के कारण शरीर से मूत्र द्वारा शीघ्र ही त्याग हो जाता है। इसलिये चिकित्सा में उनको दिन में कई बार आहार के साथ देना चाहिये।

अ. विटामिन बी १ (थियामीन) की न्यूनता से बेरी-बेरी रोग उत्पन्न होता है।

बेरी-बेरी (Beri-Beri)

इस रोग का कारण थियामिन की आहार मे न्यूनता या अनुपस्थिति होती है। यह रोग उनही को होता है जो पालिश किया हुवा मिल का चावल खाते हैं। चावल के ऊपर के छिलके में विटामिन (थियामीन) रहती है। पालिश करते समय यह छिलका उतर जाता है और उसके साथ विटामिन भी निकल जाती है। ऐसे विटामिन रहित चावल को खाने से तथा हरे शाक और फलों का उपयुक्त मात्रा में उपयोग न करने से यह रोग होता है। इसी कारण यह रोग जापान, इन्डोनेशिया तथा मलाया मे बहुत है। रूस-जापान युद्ध में जापानी सेना में इस रोग की महामारी फैलने ही पर रोग तथा विटामिनों के अन्वेषण का श्रीगणेश हुवा था।

यह रोग एक लक्षणपुंज है जिसके दो विशेष भेद पाये जाते हैं।

१. आर्द्र, जिसमें हृदय और रक्त संवहन सबंधी लक्षण विशेष होते हैं। शरीर पर शोथ हो जाता है।

२. शुष्क, जिसमें नाड़ी विकार के लक्षण होते हैं। टाँगे, बाहु, हाथ, पाव सूखे और अकर्मण्य हो जाते हैं।

आर्द्र बेरी बेरी—इस प्रकार की बेरी बेरी में रक्त संवहन के अवसाद के से लक्षण उत्पन्न होते हैं। टाँगों पर शोफ (सूजन Oedema) होता है। उदर में मुक्त द्रव उपस्थित हो सकता है जिससे जलोदर भी हो जाता है। प्लूरा गुहा में भी द्रव हो सकता है। हृदय का, विशेषतया दाहिनी ओर को, प्रसार (Dilatation) हो जाता है। हृदय की दुर्बलता के चिन्ह स्पष्ट होते हैं। हृदय के शब्द मन्द सुनाई पड़ते हैं। तनिक से परिश्रम से रोगी थक जाता है। सांस फूलने लगता है। चलना तक कठिन होता है। नाड़ी दुर्बल किन्तु तीव्र

चलती है। नाडी विकार भी इस रूप में मिले हो सकते हैं जिनसे रोगी को दुर्बलता तथा पीड़ा प्रतीत होती है।

जितना हृदय का प्रसार बढ़ता है उतना ही टाँगों पर शोफ बढ़ता जाता है और सारे शरीर मुख उदर आदि पर भी आ जाता है। अन्त में हृदयावसाद से मृत्यु होती है। प्ररिसरीय वाहिका प्रसार (peripheral vasodilatation) हृदयावसाद का बहुत बड़ा सहायक कारण होता है।

यह सब थियामीन की कमी से कार्बोहाइड्रेट के चयापचय के बिगड़ जाने से होता है जिससे पेशियों को ऊर्जा की प्राप्ति बन्द हो जाती है। हृत्पेशियों का भी इसी कारण ह्रास होता है। ऐसे रोग में हृत्प्रसार और हृदयावसाद से एक दिन में मृत्यु होते देखी गयी है।

यद्यपि रोग का विशेष कारण थियामीन की कमी होती है किन्तु साथ ही राइबोफ्लेवीन, निकोटिनिक अम्ल तथा प्रोटीन और लोह की भी कमी पाई जाती है।

चिकित्सा—इस रोग की आपत्तिकाल के समान चिकित्सा करनी चाहिये। हृदय के फेल होने का सदा डर रहता है। किन्तु यदि रोग बहुत नहीं बढ़ चुका है तो थियामिन देने ही हृदय की दशा भी सुधरने लगती है और अन्य लक्षणों का भी शमन प्रारंभ हो जाता है। उग्र दशाओं में ३० से ५० मिली ग्राम थियामिन प्रतिदिन अन्तर्पेशी या अन्तर्गिरा मार्ग से दिया जाय। जब लक्षणों में सुधार दिखाई दे तो औषधि मुँह से दी जाय। थियामीन के पहुँचते ही रोगी की दशा सुधरने लगती है। तब अन्य न्यूनताओं को भी देखना चाहिये और उनको आहार द्वारा सुधारना चाहिये। रासायनिक औषधियों की अपेक्षा प्राकृतिक पदार्थ सदा उत्तम होते हैं। यीस्ट (yeast) जो बाज़ार में साधारण खमीर या ब्रूअर्स यीस्ट (Brewer's yeast) के नाम से बिकता है वह सब बी विटामिनों का भडार है, वह एक छोटी चम्मच प्रातः नाश्ते के साथ और एक चम्मच संध्या को चाय के साथ दिया जाय। वह शर्बत, फल, शाक किसी के भी साथ मिलाकर लिया जा सकता है। उसकी टिकियां भी बनी हुई आती हैं। यकृत् का सत्व, गेहूँ का तेल (wheat germ oil) और चावल की चोकर (Rice polishings) बहुत उपयोगी प्रमाणित हुवे हैं।

आहार में ताज़ा दूध, हरे फल, अंडा और मास रस, चोकर की रोटी, मक्खन ये सब उपयोगी है। मोलास उपयोगी है यदि रोगी उनकी गंध सहन कर सके।

अन्य लक्षणों की लक्षणानुसार चिकित्सा की जाती है।

शुष्क वेरी-बेरी—इस प्रकार के रोग में परिसरीय नाड़ी शोथ (Peripheral neuritis) के सब लक्षण होते हैं। टाँगे, विशेषतया पांव और हाथ जल्दी आक्रान्त हो जाते हैं। पिंडलियों में दर्द रहता है। धीरे धीरे नाड़ियों के क्षय के कारण पेशियों का भी क्षय होने लगता है। वे सूखना आरंभ कर देती हैं। पिंडिका पेशियों में गांठे बन जाती हैं जिनको दबाने से पीड़ा होती है। रोगी को चलने में कठिनाई होती है। कुछ समय में वह चलने में असमर्थ हो जाता है। बाहुओं की पेशियों का भी यही हाल होता है। रोगी हाथों से पकड़ नहीं सकता। अंगुलियां हथेलियों की ओर को और हाथ मणिबन्ध सन्धि पर अग्र बाहु की ओर को सिकुड जाते हैं। पावों की अंगुलियां और सारा पांव पादतल की ओर को झुक जाता है। त्वचा पर स्पर्शसंज्ञा का ह्रास हो जाता है। गंभीर प्रतिवर्त (deef reflexes) जाते रहते हैं।

चिकित्सा—आहार की न्यूनता को मिटाना चिकित्सा का प्रधान साधन है। अन्वेषण से पता लगेगा कि रोगी का आहार बहुत समय से न केवल थियामीन से किन्तु अन्य विटामिनों से भी वंचित रहा है। अतएव यीस्ट, हरे शाक तथा फल, ताजा दूध, यकृत् सत्व, अंडा, गेहूँ जर्म तेल. चावलों की चोकर ये सब लाभदायक आहार हैं। तथा ५० से १०० मि. ग्रा. थियामीन का नित्य प्रति इन्जैक्शन दिया जाय।

क. विटामिन बी २ (राइबोफ्लेवीन) की न्यूनता—

स्वास्थ्य के लिये १·४ से १·६ मि. ग्रा. राइबोफ्लेवीन प्रतिदिन आवश्यक मानी जाती हैं। गर्भावस्था तथा दूध पिलाने वाली माता को २ या २½ मि. ग्राम मिलनी चाहिये। दैनिक आहार के दूध तथा फलों से यह प्राप्त हो जाता है। इसकी न्यूनता से ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। मुंह के दोनों कोनों (Cheilosis) तथा नासारंध्रों के पार्श्व पर त्वचा में विदार (fissures) पड़ जाते हैं। नेत्राभिष्यन्द, नेत्रों से अश्रु का बहना, निगलने में कष्ट, नेत्र की कार्निया के चारों ओर रक्तवाहिकाओं का प्रसार तथा कार्निया में रक्त-वाहिकाओं का बन जाना, त्वचाशोथ, जी मिचलाना, अरुचि, दुर्बलतातथा शरीरभार क्षय और जिह्वाशोथ भी हो जाता है।

चिकित्सा—राइबोफ्लेवीन ४० से ५० मि. ग्राम प्रतिदिन इन्जैक्शन से या मुंह से दी जाय। यीस्ट अत्युत्तम पदार्थ है। ३० ग्राम दिन मे तीन

बार खिलाया जाय। उत्तम संतुलित आहार २५०० केलोरी का प्रति दिन दिया जाय।

च. निकोटिनिक अम्ल या निकोटिनेमाइड की न्यूनता—

स्वास्थ्य के लिये १०–१६ मि. ग्रा. प्रतिदिन आवश्यक है। इसकी न्यूनता पैलाग्रा रोग का कारण मानी जाती है। किन्तु वास्तव में पैलाग्रा बहुविटामिन न्यूनता का परिणाम है। अन्य बी विटामिनों की कमी के बिना यह रोग नहीं होता। विटामिन ए की भी कमी हो सकती है।

पैलाग्रा के लक्षण—

रोग प्रायः गरमी के प्रारंभ में २० और ४० वर्ष की आयु के बीच में होता है। रोग के प्रारंभ में अरुचि, जी मिचलाना, उदर मे पीड़ा या अतिसार होता है। कभी कभी अतिसार ही रोग का प्रथम लक्षण होता है।

त्वचा शोथ दूसरा लक्षण है। त्वचा के जो भाग खुले रहते है उनमें धूप लगने से शोथ के प्रान्त बन जाते हैं जिनके किनारे उभरे हुवे होते हैं। ये लाल हो जाते हैं और इनमें खुजली आती है। इनका रंग और गहरा हो जाता है और उन पर फफोले (स्फोट) बन जाते हैं जिससे सूजन हो जाती हैं। तब वे सूखने लगते हैं और उनका रंग हलका हो जाता है, तथा उन पर से श्वेत परत या रूसी गिरने लगती है (desqamation)। ऐसे विवर्ण शोथयुक्त प्रान्त दोनों अंगों पर समस्थितियों में हाथों के पृष्ठों, अग्रबाहुवों के पीछे की ओर, पादपृष्ठों पर, माथे पर तथा मुंह पर नाक के दोनों ओर तितला के समान स्थित पाये जाते हैं। ये त्वचा पर विवर्णता के प्रान्त रोग के विशेष लक्षण हैं।

जिह्वा भी शोथ युक्त हो जाती है। अंकुरों के नष्ट हो जाने से चिकनी और लाल दीखती है। जिह्वा में पीड़ा होती है और उसमे नमक लगता है।

रोगी को मानसिक विकार, चिन्ता, भ्रम, विषाद आदि हो सकते हैं।

टाँगों की पेशियों में दुर्बलता और फिर ऐंठन भी होने लगती है। रक्त परीक्षा पर रक्त क्षीणता मिलती है। आमाशय में अनम्लता हो सकती है। रक्त में प्रोटीनन्यूनता होती है।

क्रम और उपद्रव—उग्र रोग से कुछ सप्ताह में मृत्यु हो सकती है। साधारणतया दीर्घकाल तक, २०, २५ वर्ष तक, रोगी जीवित रहते हैं। किन्तु

प्रारंभ में उपयुक्त चिकित्सा न होने से उनकी पेशियाँ अंगघात से अकर्मण्य हो जाती हैं। वे कुछ मानसिक विकारों के पश्चात् उन्माद से ग्रस्त हो जाते हैं और पागलखानों की शरण लेते हैं।

चिकित्सा—

औषधि—१ निकोटिनिक अम्ल १०० मिलीग्राम प्रति तीसरे घंटे पर दिन में पांच बार, या,

२. निकोटिनेमाइड ५०–२०० मि. ग्रा. लवण विलयन में घोलकर दिन में तीन बार अन्तर्शिरा मार्ग द्वारा।

३. यकृत्सत्व के इन्जैक्शन।

४. लक्षणानुसार उपयुक्त औषधि। परिसरीय नाड़ी शोथ के लिये ५० से १०० मि. ग्राम थियामिन दैनिक।

आहार—सब अवयवों से युक्त उत्तम स्वादिष्ट ३००० केलोरी का आहार दिया जाय। हरे फल, नारंगी, टमाटर, केला आदि सब दिये जाय।

दूध का इस रोग की चिकित्सा में विशेष महत्व है। रोगी को दो सेर दूध प्रतिदिन दिया जाय। दूध में ट्रिप्टोफान (tryptophan) होता है जिससे आन्त्र के जीवाणु निकोटिनिक अम्ल बना लेते हैं। आहार के साथ यीस्ट अवश्य दिया जाय।

अन्य विटामिनों की कमी आहार द्वारा या थियामिन, राइबोफ्लेविन, पायरिडौक्सिन आदि देकर पूरी की जाय।

फौलिक अम्ल और सायनोकोवलेमीन का उल्लेख समक्षीणता के साथ किया जायगा।

३. विटामिन-सी न्यूनता जन्य रोग

विटामिन-सी की न्यूनता से स्कर्वी नामक रोग होता है। स्कर्वी शब्द को विटामिन-सी न्यूनता का पर्यायवाची समझा जाता है। यह ज्ञान बहुत पुराना है और हरे फलों के अभाव से इसकी उत्पत्ति का ज्ञान भी कई सौ वर्ष प्राचीन है। उस समय जो नाविक जहाजों पर कई वर्षों की लम्बी यात्राओं पर जाते

थे वे इस रोग के भयंकर परिणाम को जानते थे। और साथ में यह भी जानते थे कि नींबू का रस इस रोग से रक्षा करता है। वे बोतलों में भरकर रस को अपने साथ ले जाते थे।

उस समय जहाजो में काम करने वालों में बहुत व्यक्ति इस रोग से आक्रान्त होते थे और शरीर के किसी भी भाग से रक्तस्राव होकर उनकी मृत्यु होती थी। किन्तु उस समय के चिकित्सा कोविदों का आहार त्रुटि से इस दशा की उत्पत्ति की ओर कभी ध्यान ही न जाता था। सब से पहिले सन् १७५३ में डाक्टर जेम्स लिंड जो इंग्लैण्ड की नौ सेना में सर्जन थे उन्होंने इस विषय पर अपना एक लेख प्रकाशित किया था। रायल नेवी मे काम करते हुवे उन्होंने देखा था कि जहाज के मल्लाहों और सैनिकों की युद्ध तथा जहाजों के डूबने से आहत होने वालों की अपेक्षा स्कर्वी रोग से अधिक मृत्यु होती थीं। उन्होंने बहुत दिनों तक जाच और अन्वेषण करने के पश्चात् अपने लेख में यह मत प्रकाशित किया कि रोग आहार में किसी अवयव की कमी से उत्पन्न होता है और वह नींबू (खट्टे और मीठे) और सन्तरों को खिलाने से ठीक हो जाता है। इसके पश्चात् लगभग १५० वर्ष तक इस संबंध में कुछ काम नहीं हुवा। सन् १९१२ में पहली बार गोलेंड हाप्किन्स (Gowland Hopkins) महोदय ने विटामिन की खोज की।

कारण—रोग का कारण विटामिन सी अर्थात् एस्कोर्बिक एसिड की कमी होती है। इस कारण विटामिन को स्कर्वीरोधी तत्व (Antiscorbatic factor) कहा जाता है। यह सब हरे शाकों में और फलों में होता है। टमाटर, सन्तरे, आम, नींबू, अमरूद, मुनक्का तथा अंगूर में बहुत होता है। इसकी दैनिक आवश्यक मात्रा ३० मि. ग्रा. है।

इसकी कमी से—

१. कोशिकान्तर (Intercellular) वस्तु बननी कम हो जाती है।

२. कालेजिन बनना कम हो जाता है। कालेजिन संयोजी ऊतक का विशेष अवयव होता है जिसके कारण ऊतकों में दृढ़ता और चिपकने की शक्ति उत्पन्न होती है।

३. अस्थि ऊतक भी ठीक प्रकार से नहीं बनता, तथा

४. दात की डैन्टीन भी बननी कम हो जाती है।

कालेजिन की कमी से रक्त केशिकाओं से रक्तस्राव की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। घाव शीघ्र नहीं भरते। अस्थिभग्न भी अधिक होते हैं और दांत शीघ्र ही गिरने लगते हैं।

अन्वेषण से सदा आहार में विटामिनों की कमी पाई जाती है। विटामिन सी के साथ अन्य विटामिनों की भी त्रुटि होती है। चिकित्सा में इसका ध्यान आवश्यक है।

लक्षण—रोग शिशुवों तथा वयस्क दोनों को होता है। दोनों के लक्षणों में कुछ भिन्नता पाई जाती है।

शिशुवों मे—आठ से बारह मास के बीच की आयु में लक्षण प्रगट होते हैं। छ से आठ मास तक विटामिन रहित आहार से लक्षण प्रगट हो जाते हैं। इसलिये रोग शनैः शनैः स्पष्ट होता है। शिशु चिड़चिड़ा और दुबला होता है और उसकी टांगे या बाहुओं को पकड़ने पर वह वेग से रोता है। प्रायः वह इसीलिये चिकित्सक के पास लाया जाता है। या मसूड़ों से कुछ रक्तस्राव होने से चिकित्सक का परामर्श आवश्यक होता है। मसूड़ों पर छोटी छोटी रक्तभरी पुटके बन जाती हैं। जब माता मुंह को स्वच्छ करने को उन पर अपनी अंगुलि फेरती है तो उसकी अंगुलि में रक्त लग जाता है जिससे वह भयभीत हो जाती है।

शिशु की टांग या बाहु के दबने से रोने का कारण यह होता है कि पर्यस्थि कला (periosteum) के नीचे रक्तवाहिनी केशिकाओं से निकल कर जहा तहा रक्तसंग्रह बन जाते हैं। अस्थियों पर अंगुलि फेरने से वे छोटे छोटे उभार (node) या गाठ सरीखे प्रतीत होते हैं। जब ये दबते हैं तो पीड़ा होती है।

मुंह के मसूड़ों से तथा अन्य स्थानों से रक्तस्राव का कारण रक्त-केशिकाओं की भित्ति से संयोजी ऊतक में कौलेजिन की कमी होती है जिससे केशिकाओं की भित्तियों की पारगम्यता (permeability) बढ़ जाती है। इससे रक्त के अवयव केशिकाभित्ति में होकर बाहर निकल आते हैं।

चिड़चिड़े और दुबले हो जाने के अतिरिक्त शिशु को हलका सा ज्वर, १०० फै०, रहता है। पाण्डुवर्ण, टांगों या चेहरे पर हलकी सूजन और

शिथिल ऐसा शिशु दीखता है। मल या मूत्र में रक्त आ सकता है। चेहरे पर या माथे पर छिल जाने के समान, लाल रंग के चकत्ते बन जाते हैं।

रक्त परीक्षा पर लालकणिकाक्षय या रक्तक्षीणता मिलती है।

वयस्क मे अति दुर्बलता मालूम होती है। वर्ण में पाडुता आ जाती है। टागों वाहुवों आदि में पीड़ा होती है। मसूड़े फूल जाते हैं। कभी कभी इतने वढ़ जाते हैं कि उनसे दांत ढक जाते हैं। दात हिलने लगते हैं। मसूड़ों से रक्त स्राव होता रहता है। तनिक सा दवाने से रक्त निकलने लगता है। मुंह से दुर्गन्ध आती है। शरीर के अन्य भागों में भी रक्तस्राव होता हैं। टागों वाहुओं की अस्थियो पर अंगुलि फेरने से पेशियों के नीचे पीड़ायुक्त उभार या गांठे प्रतीत हो सकती हैं जो वास्तव में पर्यस्थि के नीचे रक्त सग्रह होती हैं। त्वचा मे भी रक्तस्राव से विवर्ण क्षेत्र बन जाते है। रतौंधी हो सकती है। रोगी का श्वास तनिक से परिश्रम से फूल जाता है।

स्कर्वी में अकस्मात् हृदयावसाद से मृत्यु होती देखी गई है। इसलिये चिकित्सा का आयोजन शीघ्र होना चाहिये।

रोगनिरोध—(prophylaxis) सहज है। शिशु को यदि ऊपरी दूध मिलता है तो सन्तरे या मुसम्मी का रस देना आवश्यक है। ४ औंस जूस में २५ मिलीग्राम एस्कोर्बिक अम्ल होता है। १५ से २० मि. ग्रा. प्रतिदिन रोग निरोध अथवा स्वास्थ्य के लिये पर्याप्त है। एस्कोर्बिक अम्ल को अब रासायनिक विधियों से बनाया जाता है और उसके कई प्रकार के योग वाजार में बिकते हैं। शिशुओं के लिये 'निकोन बिन्दु' (Nicon drops) उत्तम योग है। १० बूंद दिन में दो बार देना पर्याप्त होता है।

युवा तथा वृद्ध व्यक्तियों के लिये आहार द्वारा पर्याप्त एस्कोर्बिक अम्ल प्राप्त हो सकता है। सब ही हरे फलों में यह विटामिन होती है विशेषकर टमाटर, अमरूद, आम तथा इमली में यह बहुत होती है। सन्तरा अत्युत्तम स्रोत है। किन्तु उसके दाम अधिक होते हैं।

अन्नों के दानों में भी विटामिन सी होती है। विशेषकर जब उनसे किल्ले फूटने लगते हैं तब उसकी मात्रा बढ़ जाती है। रोग के निरोध तथा चिकित्सा के लिये यह अत्युत्तम आहार है। चने, मूंग, उर्द आदि किसी भी दाल को २४ घंटे तक जल में भिगो दिया जाता है। तब उसको निकाल कर एक गीले कपड़े पर

फैला दिया जाता है। ३६ से ४८ घंटे में उनमें किल्ले निकल आते हैं। उनको मिसरी या चीनी के साथ खिलाया जाता है। अथवा हलका तवे पर तनिक से घी के साथ नमक मिर्च इच्छानुसार मिला कर भून लिया जाता है। इस प्रकार इन किल्ले निकलते हुवे दानों का रोग निरोध तथा चिकित्सा में उपयोग से अत्युत्तम लाभ होता है।

एस्कोर्विक अम्ल की टिकियों का भी उपयोग किया जा सकता है।

चिकित्सा—ऐस्कोर्बिक अम्ल ही चिकित्सा का एक मात्र साधन है। एक ग्राम प्रतिदिन सात दिन तक देना पर्याप्त है। इसका १०० मिली ग्राम की दस टिकियाँ आहार के साथ अथवा शर्बत या दूध या किसी भी पेय के साथ दी जा सकती है।

साथ ही रोगी के आहार पर विशेष ध्यान दिया जाय। उसको दूध और हरे शाक और हरे फलों युक्त संतुलित आहार दिया जाय। हरे फलों की आहार में प्रचुरता हो। अथवा ऊपर बताये अनुसार चने या दालों को तैयार करके जिनमें अंकुर निकल आये दिया जाय।

पोषण विकार बहुत कुछ आर्थिक स्थिति से संबंध रखते हैं। रोगी की चिकित्सा के पश्चात् भी रोगी की उस स्थिति को सुधारने की आवश्यकता है जिसका परिणाम पोषण विकार हुवा है।

४. विटामिन-डी न्यूनता जन्य रोग

रिकेट्स (Rickets)

रिकेट्स रोग विशेषकर शिशुवों में तथा बालकों में पाया जाता है जिसमें शरीर के ऊतकों में कैलसियम की कमी हो जाती है। इसके दो विशेष कारण होते हैं।

(१) शरीर मे विटामिन ड़ी की न्यूनता। विटामिन-डी आन्त्र से कैलसियम के अवशोषण में सहायक होती है। उसकी कमी से अवशोषण रुक जाता है। विटामिन-डी दूध, मक्खन, दही, चीज, अंडे आदि मे विटामिन ए के साथ रहती है। इसकी कमी से रक्त में कैलसियम की मात्रा कम हो जाती है जिससे फ़ास्फोरस का मूत्र द्वारा शरीर से त्याग बढ़ जाता है। इस प्रकार रक्त मे कैलसियम और फ़ास्फोरस दोनों की कमी हो जाती है।

(२) कैलसियम की कमी का कारण आहार त्रुटि हो सकती है। आहार में अन्न की अधिक मात्रा और कैलसियम और विटामिन डी के मुख्य स्रोत दूध की अल्प मात्रा का भी यही परिणाम होता है। अन्न की अधिकता से बालक को अधिक केलोरी मिलने के कारण अस्थियों की वृद्धि तो तेजी से होती है। किन्तु अस्थियों को कैलसियम और फास्फोरस नहीं मिलता।

कैलसियम के अवशोषण तथा अस्थियों द्वारा ग्रहण किये जाने में धूप भी बहुत भाग लेती है। सूर्य प्रकाश की अल्ट्रावायोलेट किरणों के प्रभाव से त्वचा मे कालेस्टरोल का एक रूप विटामिन डी में परिवर्तित हो जाता है। जिन बालकों तथा शिशुवों को सूर्य प्रकाश (धूप) का लाभ उपलब्ध नहीं होता, जिनके नग्न शरीर पर अर्थात् त्वचा पर सीधी धूप नही पड़ती उनको यह रोग बहुत होता है। सौभाग्य से हमारे देश में कलकत्ता बम्बई के अतिरिक्त ऐसा नहीं होता कि बालक या शिशु को धूप खाने का अवसर न मिले। हमारे देश में शिशु के शरीर पर धूप में तेल मलने की प्रथा अत्युत्तम रिकेट्स रोधी व्यवस्था है।

पैराथायराइड हारमोन भी कैलसियम के स्वांगीकरण के लिये विशेष महत्व का माना जाता है।

शरीर मे परिवर्तन—इनही को रोग के लक्षण समझना चाहिये। ये सब परिवर्तन कैलसियम की कमी के कारण होते हैं।

अस्थियां—सबसे अधिक परिवर्तन अस्थियों में होते हैं। लम्बी अस्थियों के बीच के भाग के सिरों पर जहा वे वर्धक प्रान्त (epiphyses) से जुड़ते हैं वहाँ अस्थिवत (osteoid अस्थि ऊतक नहीं) ऊतक अधिक बन जाता है। इससे उसके सिरे चौडे हो जाते हैं। वर्धक सिरे का किनारा (वर्धक प्रान्त की ओर का) सीधा नहीं होता किन्तु अस्थिवत ऊतक के जहा तहां बढ़ जाने से क्रमहीन हो जाता है। बहिप्रकोष्ठास्थि (रेडियस) के कलाई की ओर के सिरे के एक्सरे चित्र में ऐसा दृश्य रोग की पहिचान का मुख्य साधन है।

दूसरा स्थान जहां अस्थिवत् ऊतक का अधिक संग्रह होता है वह पर्शुकाओं के वक्ष में सामने की ओर उपास्थि (कारटिलेज) के जुडने का स्थान है। उस प्रान्त पर इस ऊतक के अधिक जमा हो जाने से गाठ सी

बन जाती हैं। वक्ष मे ऊपर से नीचे तक पर्शुका-उपास्थि संगम पर ये गाठे हाथ फेरने से प्रतीत होती हैं। इनको 'रिकेट्स माला' (rickety rosary) कहते हैं।

तीसरा स्थान कपाल की ललाटास्थि है जहाँ अस्थिवत ऊतक के जमा होने के कारण अस्थि चौड़ी और बड़ी दीखती है।

अस्थियों का अस्थिभवन बहुत विलंब से होता है। अस्थियों में कैलसियम फ़ास्फेट सामान्य ६८ प्रतिशत के स्थान से घटकर केवल २० या २५ प्रतिशत रह जाता है। रक्त में भी कैलसियम और फ़ास्फोरस की मात्रा घट जाती है। सामान्यतया स्वास्थ्य में कैलसियम ९ से ११ और फ़ास्फोरस २ से २.५ मिलीग्राम प्रति १०० मिलीलिटर रक्त में रहते हैं। रोग में इनकी मात्रा ६ और २ मि. ग्रा क्रमानुसार रह जाती है। कैलसियम के अस्थि में समाविष्ट होने का कारण एक प्रकिण्व (enzyme) माना जाता है जिसको फ़ास्फेटेज़ (phosphatase) कहते हैं। यह प्रकिण्व रक्त, आन्त्र की श्लैष्मिक कला और वृक्क में पाया जाता है। रोग की उग्र अवस्था में इसकी मात्रा रक्त में बढ़ जाती है।

दांतों और पेशियों पर भी प्रभाव पड़ता है। दांत देर से निकलते हैं। टेढ़े हो जाते हैं। छितरा भी जाते हैं। कैलसियम की कमी से एनेमल भली प्रकार नहीं बनता। पेशियाँ दुर्बल होती हैं। उनका उत्तम विकास नहीं होता जिससे बच्चों, का बैठना, खड़े होना तथा चलना बहुत देर से होता है।

ऐसे बच्चों में टिटेनी (Tetany) रोग बहुत होता है जिसका कारण कैलसियम की कमी से नाड़ियों की उत्तेज्यता का बढ़ जाना होता है।

लक्षण—प्राय: बच्चे की आयु लगभग १ वर्ष की होती है जब उसमें लक्षण प्रगट होते हैं। कई बार कोई भी लक्षण नहीं होते। उसके बैठने या खड़े होने में विलंब के कारण चिकित्सक की सहायता के आपेक्षित होने पर रोग का पता लगता है।

सामान्यतया बच्चा चिड़चिड़ा होता है, रोता बहुत है, बेचैन रहता है। भली प्रकार सोता नहीं, या उसको पतले दस्त आते हैं। इन

लक्षणों के लिये वह चिकित्सक के पास लाया जाता है। उसकी वृद्धि कम होती है या दांत नहीं निकलते। अथवा उसको बांयठे (convulsions) आते हैं।

ऐसे बच्चे की ध्यान पूर्वक परीक्षा करनी चाहिये। रोग के चिन्हों को प्रथम कपाल की अस्थियों में देखना चाहिये। अस्थियों मे ऐसे नरम क्षेत्र बन जाते हैं जहा तनिक दबाने से अस्थि दब जाती है। रन्ध्रों (fontanelles) के भरने में भी देर होती है। वे चौड़े होते हैं। फिर वक्ष मे रोग के चिन्ह उपस्थित हो सकते हैं। वक्ष कबूतर के समान आगे को निकला हो सकता है जिसको pegion chest कहते हैं। रिकेट्स माला के चिन्ह देखने चाहिये। मध्यच्छदा के बारंबार संकोच के कारण पेशी के उदय स्थानों पर पर्शुकाओं के भीतर को खिचते रहने के कारण नीचे की पर्शुकाओं में एक गढ़ा सा पड़ जाता है। अतएव यहाँ वक्ष भीतर को दबा दीखता है। और वक्ष के चारो ओर चौड़ाई की दिशा में एक परिखा बन जाती है। इसको देखना चाहिये।

अन्त मे कलाई के एक्स-रे चित्र में अस्थि परिवर्तन देखने उचित हैं। वर्धक प्रान्त पर अस्थि कांड के सिरे की लाइन जहाँ तहाँ अस्थि के लुप्त हो जाने से खुरदरी दीखती है। ऊर्वस्थि, अजंघिका, प्रगंडास्थि, प्रकोष्ठास्थियों सब में यह परिवर्तन मिलेगा। प्रायः कलाई पर बहिः प्रकोष्ठास्थि का ऐक्स-रे लिया जाता है। रक्त परीक्षा से फ़ास्फेटेज की वृद्धि मालूम होगी।

बालक की अधिक आयु होने पर, अर्थात् उसके खड़े होने पर जिन अस्थियों का अस्थिभवन हो चुका है अर्थात् लम्बी अस्थियां, वे मुड जाती हैं। यह परिवर्तन टागों की अस्थियों में विशेषतया स्पष्ट होता है। दोनों ओर की अस्थिया बाहर की ओर को झुक कर धनुषाकार हो जाती हैं।

वयस्कों मे रोग

वयस्कों में यह रोग स्त्रियों को होता है जिनमें वह अस्थि मृदुता (osteomalacia) कहलाता है। यह रोग उन स्त्रियों को होता है जो बहुप्रसवी होती हैं, जो जल्दी जल्दी गर्भवती हो जाती हैं और जिनके आहार मे विटामिन डी की न्यूनता रहती है तथा जो सूर्य प्रकाश (धूप) से वंचित

रहती हैं। जहां पर्दे का रिवाज है और साथ ही कंगाली भी है वहां यह रोग अधिक होता है।

इस रोग में भी बच्चों के रिकेट्स रोग के समान ही परिवर्तन होते हैं। किन्तु परिवर्तन श्रोणि तथा अधोशाखा की अस्थियों में होते हैं। स्त्री चल नहीं पाती। श्रोणि अस्थियां भी भार को नही सहन कर सकतीं।

पुरुषों में रोग अत्यन्त असाधारण है। भुखमरी का परिणाम हो सकता है।

क्रम और उपद्रव—चिकित्सा से शीघ्र ही रोगमुक्ति हो जाती है। बच्चों में उपद्रव प्रायः ब्रोंकोनिमोनिया, श्वास प्रणालिका शोथ (Bronchitis) तथा टिटेनी होते हैं।

उपयुक्त चिकित्सा न होने पर अस्थिविकृतिया जीवन भर के लिये स्थायी हो जाती है।

चिकित्सा—रोगरोधी (Prophylactic)। रोगरोधन बहुत सहज है। गर्भवती माता के आहार में विटामिन ए और डी दोनों पर्याप्त मात्रा में रहें। ६०० से ८०० मात्रक विटामिन डी प्रतिदिन पर्याप्त है। शिशु को २ या ३ सप्ताह की आयु ही से ४०० मात्रक विटामिन डी मिलनी चाहिये। यह ८ या १० बूंद शार्क लिवरतेल से प्राप्त हो सकती है। पार्कडैविस कम्पनी का 'ऐबडैक' नामक योग अत्युत्तम है। इसमें विटामिन ए. बी. डी. और के. सब पर्याप्त मात्रा में रहती है। इसकी ५ बूंद शिशु के लिये पर्याप्त होती हैं। अंडे के पीले भाग से भी शिशु को यह विटामिन मिल सकती है। आधी जर्दी ३ या ४ सप्ताह के शिशु को दी जाय। ८ सप्ताह के शिशु को पूरे अंडे की जर्दी दी जा सकती है। दो महीनो का होने पर शिशु को बाहिर ले जाय और उसके कम से कम हाथ पांव धूप में खोल कर रखे जायें।

रोग की—विटामिन-डी ही रोग की चिकित्सा का साधन है। ३००० मात्रक (i. u.) प्रतिदिन देना आवश्यक है। ऐसे कई बने हुवे योग आते हैं। कैल्सीफरोल की टिकियां और द्रव दोनों आते हैं। उसके ५ बूंद में १००० मात्रक विटामिन-डी होती है। अतएव ५ बूंद प्रतिदिन तीन बार दिये जांय। साथ ही रोगी को उत्तम विटामिनों युक्त संतुलित आहार दिया जाय।

धूप सेवन औषधि के समान समझी जाय। और कुछ समय तक शिशु को खुली धूप में रखा जाय। हमारे देश में धूप में तापकिरणों के अधिक होने के कारण थोड़े ही समय तक अल्ट्रावायोलेट किरणों का लाभ संभव है। कलकत्ते बम्बई आदि बड़े नगरों में यह भी सर्वसाधारण के लिये कठिन है। ऐसी दशा में अल्ट्रावायोलेट के लम्पों का उपयोग किया जाय।

बच्चे, बालक तथा युवक सब के लिये दूध औषधि के समान आवश्यक वस्तु है। बालक को कम से कम एक सेर और वयस्क को डेढ से दो सेर तक दूध नित्य प्रति दिया जाय।